साम्प्रदायिकता
एवं
साम्प्रदायिक दंगे

लेखक—गीतेश शर्मा
सम्पादन सहयोग—कुसुम जैन

समायोजन प्रकाशन
१९ बी, जवाहर लाल नेहरू रोड,
कलकत्ता-७०० ०८७

उन निर्दोष एवं मासूम लोगों को

समर्पित

जो साम्प्रदायिकता की बली चढ़ गये।

साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे

साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे
लेखक : गीतेश शर्मा
सम्पादन सहयोग : कुसुम जैन
प्रकाशन सहयोग : ओमप्रकाश चौधरी
प्रकाशक : समायोजन प्रकाशन

वितरक : हिन्दी पुस्तक एजेंसी
२०३, महात्मा गांधी रोड, कलकत्ता-७
आवरण : उमाशङ्कर

प्रथम संस्करण : १९८५
मूल्य ४५ रुपये

मुद्रक : जनवाणी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता-३

विषय सूची

क्रमांक	विषय		पृष्ठ

दो शब्द

—विष्णु प्रभाकर

मनुष्य के प्रबल शत्रुओं मे दो हैं—साम्राज्यवाद और साम्प्रदायिकता। इनमे भी साम्प्रदायिकता प्रमुख है। धर्म और संस्कृति, जिनका आविष्कार मनुष्य ने अच्छा जीतने, जीने और एकजुट होकर संघर्ष करने के लिए किया था, उन्ही का सहारा लेकर वह मनुष्य को मनुष्य के खून का प्यासा बना रही है। इतिहास के पन्नों पर खून के छीटे जितने साम्प्रदायिकता ने लगाये हैं उतने साम्राज्यवाद ने नहीं।

धर्म एक परमसत्ता की कल्पना करता है परन्तु जब मनुष्य उस मनुष्य को ही प्यार नहीं कर सकता जिसे वह देखता, सुनता है, जिसे वह छू सकता है, तब वह उस परमसत्ता को कैसे प्यार करेगा, जिसे वह न देख सकता है, न छू सकता है। परमसत्ता को प्यार करने की शर्त मनुष्य को प्यार करना है। साम्प्रदायिकता उसी मनुष्य से नफरत करना सिखाती है।

श्री गीतेश शर्मा ने अपनी इस पुस्तक में साम्प्रदायिकता के कारणों की खोज करते हुए यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि धर्म इसका कारण नही है। कारण है संगठित धर्म अर्थात् कर्मकाण्ड पर आधारित धर्म। एक विशेष ग्रन्थ तथा परमसत्ता के एक विशेष स्वरूप को स्वीकार करने वाला तथाकथित धर्म/कर्मकाण्ड एक सीमा तक स्वीकार्य हो सकता है, पर जब वही प्रमुख हो उठता है तो वास्तविक धर्म तिरोहित हो जाता है। परमसत्ता की गाय और सुअर की राजनीति मे क्या दिलचस्पी हो सकती है ? शंखनाद, अजान, घण्टे-घड़ियाल वाणी का घोष—इनका होना या न होना उसे क्यो परेशान करे। जाहिर है कि ये मनुष्य के अपनी सत्ता कायम करने के साधन हैं। नाना रूप मुखौटे लगाकर वह अपना स्वार्थ साधता है और परमसत्ता की सृष्टि के निर्दोष मनुष्यो का खून बहाता है। अल्ला इकबाल ने लिखा था—"मजहब नहीं सिखाता आपस मे बैर करना" लेकिन हमने अपने आचरण से प्रमाणित कर दिया है कि "मजहब ही सिखाता है आपस मे बैर करना"।

गीतेश जी ने इतिहास की छानबीन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि साम्प्रदायिकता कब और कैसे विकसित हुई और यह भी कि अब तक हमने जो इतिहास

पढा है वह विकृत है, क्योंकि वह शासकों के एक विशेष दृष्टिकोण से लिखा गया है। अपनी सत्ता कायम करने के लिए उन्होने समग्र दृष्टि के स्थान पर एकांगी दृष्टि अपनाई। उसी में उनका स्वार्थ था।

लेखक मात्र शास्त्रीय अध्ययन के आधार पर इन नतीजों पर नही पहुँचे, बल्कि पिछले पचीस वर्षों में अनेक साम्प्रदायिक दगो को उन्होने पास से देखा है और उनके कारणों को खोजा है। तब जाकर सही विश्लेषण हो सका है और सम्भवत. ऐसा किसी ने पहली बार ही किया है। मैं नही जानता इससे पूर्व किसी ने इस दृष्टि से कोई पुस्तक लिखी हो। आनेवाली पीढ़ियों के लिए इसकी जरूरत थी। बहुत बँट चुके हम। अब अवसर आ गया है कि हम गम्भीरता से सोचें कि जब मनुष्य एक है और अगर है तो प्रभु भी एक ही है, तब झगडा कैसा ? चिंतित होना है तो हम उसको लेकर हों जो हमारे सामने है, और हमारे सामने है भूख, रोग, महामारी और युद्ध। इनसे जूझें हम। जो अव्यक्त है, अगोचर है उसको लेकर तो हम खोज ही कर सकते है, झगड़ नहीं सकते। खोज के मार्ग पर सहयोग अनिवार्य है असहयोग और द्वेष नही। वाद एक शब्द है उससे विवाद भी बनता है और सम्वाद भी। और हरेक व्यक्ति जानता है कि विवाद अप्रिय है और सम्वाद मित्र।

विस्तार में जाने पर किसी का किसी बिन्दु पर मतभेद हो सकता है पर उद्देश्य इस पुस्तक का परस्पर सम्वाद ही है। इस दृष्टि से मैं इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत करता हूँ। यदि मानव मूल्यो की रक्षा करनी है तो हमें साम्प्रदायिकता से मुक्ति पानी ही होगी और यह पुस्तक उस मार्ग की ओर स्पष्ट संकेत करती है।

जन संसार कार्यालय
कलकत्ता
१७.८.८५

कुछ खरी खुली बातें

—मन्मथनाथ गुप्त

साम्प्रदायिकता का सवाल बडा टेढ़ा है क्योकि वह धर्म से जुडा है और धर्म का तत्व जैसा कि कहा जाता है गुहा मे निहित है। पहले भी गुहा उसमे फैले हुए घोर अन्धकार के कारण जटिल थी, पर अब तो उसके उफने हुए पानी में प्रतिक्रियावादी शक्तिया खूब मछलियां मार रही हैं इसलिए अब जटिलतर हो गई। धर्म के नाम पर बहकाना सबसे आसान है। भगतसिंह के पहले के क्रातिकारियो ने तिलक (१८५६-१९२०) अरविन्द (१८७२-१९६०) गाँधी ने (१८६९-१९४८) धर्म के घोडे को स्वतंत्रता-आन्दोलन की गाडी मे जोतना चाहा पर नतीजा क्या हुआ ?

सच्ची बात तो यो है कि चूँकि हम एक विशेष धर्म या कुल मे पैदा हुए, इसलिए हम एक विशेष तरीके से सोचते हैं, कुछ चीजों को अच्छी समझते हैं और कुछ को बुरी। यदि हम इस रहस्य को जान जाएँ कि केवल पैदाइश की आकस्मिक घटना के कारण हमारे विचार उस प्रकार के है, जैसे कि वे अब हैं, तो हमारी आँखें एक हद तक खुल जाएँ। पर नहीं। हम बुद्धिवादी प्राणी कहलाते है इसलिए अपने संस्कारों के समर्थन मे तरह-तरह के ऊचे लच्छेदार तर्क प्रस्तुत करते है। और ये ऊंचे तर्क प्रस्तुत करने मे हमे कोई कठिनाई भी नही होती, क्योकि हमसे पहले हमारे ढंग पर सोचने वाले हजारों लोग हो चुके हैं। उनमे कुछ बुद्धिमान लोग भी थे जिन्होने अपने संस्कारो को तरह-तरहके तर्कों तथा तथ्यो से अलंकृत और पुष्ट किया, अंजीर के पत्तों से उसकी नग्नता को ढाका, जहा तर्क नही था, वहां कुतर्क को तर्क की मार्यादा दी और जहा तथ्य नहीं थे, वहा मनगढंत तथ्य पैदा किये। इसी सारे घटाटोप को दर्शन और अध्यात्म की संज्ञा प्राप्त हुई और उनके प्रतिपादको को ऋषि, मुनि, पैगम्बर का पद मिला। अक्सर ये लोग शासको से मिल गये, फिर तो तू मुझे हाजी कह और मैं तुझे मुल्ला कहूँ के अनुसार जनता को कुसंस्कारो की रस्सियो मे खूब कसककर बांधा गया और उनको लूटा गया। पहले ये लुटेरे धर्म के नाम पर इकट्ठे हो गये और सारे ससार पर छा गये। भोले-भाले समझे कि धर्म फैल रहा है, असल मे लूट सगठित रूप से होने लगी।

हमारे भारतवर्ष को ही लीजिये। भगवान बुद्ध ने योग यज्ञ मूलक धर्म से उकताकर सरल धर्म का नारा दिया और पुरोहितवाद को दूर करने की कोशिश की। थोडे दिनों के लिए अन्धेरा छंटा, पर वही ढाक के तीन पात। नतीजा यह हुआ कि स्वय बौद्ध धर्म मे वही बुराइयां आ गईं जिनके कारण बुद्ध ने सरल धर्म का प्रचार किया था। समाज बहुत आगे न बढ सका। फिर भी वह कुछ तो बढा ही।

इसी तरह कबीर, नानक आदि ने अपने समय के अनुसार उस समय प्रचलित धर्मों को सुधारने, काटछांट करने और एक करने की चेष्टा की। उनका उद्देश्य कोई पन्थ चलाना नही था। पर भेड़ियाधसान की ऐसी कृपा हुई कि उनके उदार मत पन्थ बनकर रह गये। आधुनिक काल में राममोहन, दयानन्द आदि ने लीक से हटकर समाज को नए रास्ते पर लगाने की कोशिश की, पर उनका भी एक-एक पन्थ बन गया। साधारण व्यक्ति इनसे अलग ही रहा। यह तो नही कहा जा सकता कि उन पर इन लोगो का प्रभाव नही पड़ा, जरूर पड़ा पर वह इतना कम पडा कि उसे क्रांतिकारी प्रभाव कहना उचित न होगा। समाज हिलाडुला, अगडाई लेकर सो गया।

इसके बाद हम आधुनिक युग मे आते हैं जिसमे गाधी जी ने अपने सामने आजादी पाने का लक्ष्य रखा। फिर भी उनका ध्यान हमारे समाज मे फैली हुई तरह-तरह की गडबड़ियो की ओर बराबर एक हद तक बना रहा। इसी-लिए उन्होने छुआछूत दूर करने को अपने कार्यक्रम का एक अंग बनाया। यदि उनके जीवन का ध्यान से अध्ययन किया जाए, तो मालूम होगा कि उसमे से बहुत बडा अंश इस कलंक से लडने मे व्यतीत हुआ। इसके लिए उन्होने अनशन किए, पण्डितो से लडाई की और बहुत से काम किये। यहा उनके ब्योरे मे जाने की जरूरत नहीं है।

इस सम्बन्ध मे सबसे बडी बात यह है कि शहीद होने के कुछ ही पहले उन्होंने एक बहुत बडा आविष्कार किया। वह आविष्कार क्रान्तिकारी इसलिए कहा जाएगा कि यद्यपि बहुत से लोग यानी समाज सुधारक उस नतीजे पर पहले ही पहुँच चुके थे, पर कट्टर धर्म मानने वाले लोगो मे और अपने को सनातनधर्मी कहने वाले लोगों मे यह आविष्कार उन्होने ही किया था। वह आविष्कार यह था कि छुआछूत दूर करने के लिए यह जरूरी है कि जात-पात को ही मिटा दिया जाए। यह इतनी बड़ी बात है कि गाधी जी के अन्य कार्यों को भुला दिया जाए तो भी केवल इसी कारण उनका नाम सुधारकों की उस पंक्ति मे आ जाना चाहिए जिसमे बुद्ध, कबीर, नानक आदि थे। सबसे दुख की बात यह है कि जो लोग अपने को उनके अनुयायी बताते हैं, वे लोग भी उनके इस महान मत परिवर्तन से, बल्कि

उनके इस विकास से अपरिचित हैं। इसीलिए वे दूसरी बातों का तो प्रचार करते हैं, पर असली बात जिसके प्रचार से करोड़ों व्यक्तियो की जिन्दगी बात की बात मे सुधर सकती है और वे मनुष्यता के दर्जे पर पहुँच सकते हैं, भुला दी जाती है। यह बहुत ही दुख की बात है और फिर एक बार यही कहना पडेगा कि इसमे भी वही भेड़ियाधसान काम कर रहा है।

भेड़ियाधसान कई तरीके से काम करता है। वह कभी बाबा वाक्यम् प्रमाणम् कहकर शास्त्रो और महापुरुषो की आड़ लेता है, तो कभी वह प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के नाम पर अपना उल्लू सीधा करता है। उसका एक तरीका यह भी है कि जब किसी महापुरुष की कोई बात पसन्द न आए, तो वह उस बात को भुला देता है, उसकी बातो को प्रक्षिप्त करार देता है या उस पर ध्यान नही देता। यह तरीका गाधी जी के साथ बहुत इस्तेमाल किया गया है। इनके जो वचन लोगों की स्वार्थ-सिद्धि में सहायक सिद्ध होते हैं, उनको माना जाता है, पर जो असली तात्विक बातें हैं उन पर पर्दा डाल दिया जाता है। यही नानक के साथ हुआ जिसका नतीजा हम देख चुके गुरुद्वारो के अप्रयोग और इन्दिरा और लोगोवाल की हत्या मे।

समाजवाद को पहले मादाम कामा, फिर एम० एन० राय, भगतसिंह ने अपनाया। हम याद दिला दें कि हिटलर ने भी समाजवाद का नारा दिया था और उसके समाजवाद का नाम राष्ट्रीय समाजवाद था, यानी ऐसा समाजवाद जिसमे राष्ट्रीयता और समाजवाद दोनो का समन्वय किया गया है। उसके राष्ट्रीय समाजवाद ने सारे समार को कितनी हानि पहुँचाई, यहा तक कि जर्मनी का उसने किस प्रकार नाश किया, यह सभी जानते हैं और बहुत ताजे इतिहास की बात है। इसलिए समाजवाद की कसमे खाना काफी नही है। मजा तो यह है कि हमारे यहाँ साम्प्रदायिक दल भी समाजवाद का नारा देते हैं। मुँह मे राम बगल मे छुरी यही की कहावत है। जब किसी देश को हिटलर ऐसा नेता मिलता है तो उसके अनुयायियों का नाश होता है। अकालियो को भिन्डरवाला नेता मिला, तो उससे सारे देश का सत्यानाश हुआ। सिखों का जैसा जो कुछ सत्यानाश हुआ, उसे वे बीस साल बाद समझेंगे, जैसे जर्मन अब समझ रहे है।

समाजवाद भेडियाधसान में विश्वास नही करता। धर्म या भेडिया-धसान, जो कुछ है उसीको कायम रखना चाहता है, पर समाजवाद उसको क्रांति-कारी ढंग से तोड़ कर उसका ऐसा पुनर्निर्माण करना चाहता है, जिससे मनुष्य के द्वारा मनुष्य का आर्थिक शोषण असम्भव हो जाए। समाजवाद छुआछूत के विरुद्ध है क्योंकि यह वह पद्धति है, जिसके द्वारा करोड़ो लोगो को इन्सानियत के दर्जे से उतार कर रख दिया जाता गया और करोडों लोगो का हजारो वर्षो तक बहुत

बुरी तरह शोषण होता रहा। पर यह तो समाजवाद का केवल एक अंग है। समाजवाद हर तरीके के शोषण के विरुद्ध है, चाहे वह मालिकों के द्वारा मजदूरों का शोषण हो या जमीदारों के द्वारा किसानों का शोषण या पुरुषों द्वारा स्त्रियों का या साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों का शोषण। सौभाग्य से जमीदारी प्रथा का बहुत कुछ अन्त हो गया, पर हमें अभी औद्योगिक क्षेत्र में लोक कल्याणकारी प्रथा को प्रवर्तित करना है। पर इस प्रवर्तन में स्वार्थी मजदूर नेता बाधक हो रहे हैं। कुछ लोग यह विश्वास करते हैं कि नैतिक वचनों के द्वारा पूँजीपतियों का हृदय परिवर्तन होगा, पर यह चेष्टा सफल नहीं हुई। जिनका हृदय ही न हो, उनका हृदय परिवर्तन कैसे होगा? धर्मान्धों का भी हृदय परिवर्तन असम्भव है।

धर्म या भेड़ियाधसान और समाजवाद में सबसे बड़ा फर्क यह है कि भेड़ियाधसान में यह विश्वास किया जाता है कि जो कुछ हो रहा है सब अच्छाई के लिए हो रहा है। कोई बुरी बात हो रही है तो कर्मफल के कारण हो रही है, इत्यादि। पर समाजवाद ऐसी बेहूदी बातों में विश्वास नहीं करता। वह समझता है कि कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।

पञ्चवर्षीय योजना के रूप में जो कदम उठाए हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि हम यह विश्वास करते हैं कि योजनाएँ बनाकर तथा परिवार नियोजन करके हम हजारों वर्षों से फैली हुई गरीबी, कुसंस्कार, बीमारी का कुछ सामना कर सकते हैं। हम इसमें कुछ सफल भी हो रहे हैं और इस बीच में हमने बहुत कुछ ठोस सफलता भी प्राप्त की है। पर हम तभी पूरे ढंग से इस नये समाज का लाभ उठा सकते हैं जबकि हम अपने मन को भेड़ियाधसान वाले तरीकों से मुक्त कर लें, हर बात पर खुल कर विचार करें, संकीर्ण विचारों का त्याग कर दें और यह सोचें कि हमें एक आदर्श समाज कायम कर विश्व-शान्ति में सहायक होना है।

आजकल जब देखो तब हर कोई धर्म निरपेक्षता और समाजवाद की दुहाई देता-दिलाता है। यह भी कुछ उसी तरह तकिया कलाम कह लीजिये या हौवा कह लीजिए हो गया है, जैसे मध्य युग में हिन्दुओं में था। गोब्राह्मणहिताय च। गाय तो बेचारी कुछ कहने नहीं आती थी, ब्राह्मण (जो शास्त्रकार होते थे) अपने ऐहिक मतलब देखते ही लेते थे। नतीजा यह हुआ कि सारा हिन्दू धर्म ब्राह्मणों की जागीर हो गया।

यहाँ तक कि हमारी कानूनी किताबों में दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित एपारथाइड से बदतर यह कानून बना कि यदि ब्राह्मण शूद्रों के साथ बलात्कार करे तो वह नहाकर शुद्ध हो सकता है, पर यदि शूद्र ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करे तो उसे जिन्दा जला दिया जाए।

ऐतिहासिक कारणों से भारत अब एक ऐसा देश है जहाँ बहुत से धर्म हैं।

इन धर्मों के माननेवालों मे भाईचारा और प्रेम रहे यह जरूरी है। भले ही हर धर्म में कुछ कट्टर लोग ऐसे हो जो यह सोचते है कि सब धर्मो का नामोनिशान मिटाकर (यही सारे झगडो की जड है) अपने धर्म का झण्डा फहराता रहे। बाकी सब बुद्धिमान लोग समझते है कि सब धर्मो का सहअस्तित्व अपरिहार्य है। धर्म निरपेक्षता का आधार स्तम्भ यही विचार है।

गांधी ने मुसलमानो के हृदय जीतने के लिए खिलाफत को राष्ट्रीय सग्राम (१९२१-२२) का एक प्रधान अग बना लिया। उन दिनो बार-बार कहा गया पजाब का जलियांवाला बाग हत्याकाड और खलीफा के साथ जो अन्याय हुआ उसके विरोध मे संग्राम जारी किया गया है। मैंने १३ साल की उम्र मे सन् १९२१ मे अदालत के सामने यह कहा—जलियावाला हत्याकाड और खिलाफत के लिए जिम्मेदार इस सरकार को मैं नही स्वीकारता। मुझे तीन महीने की सजा मिली।

खिलाफत का किस्सा यह था—प्रथम महायुद्ध १९१४-१८ मे तुर्की सम्राट तथा मुसलमानों के खलीफा (एक ही व्यक्ति) ने जर्मनी का साथ दिया। इस-लिए जब जर्मन हार गये, तो जो बात जर्मनो के साथ की गई वही तुर्कों के साथ की गई। जर्मनो का साम्राज्य छीन कर विजेताओ ने उसे आपस मे बन्दरबांट कर लिया, सम्राट का पद खतम कर दिया गया। खलीफा अब तुर्की के सुल्तान मात्र रह गये। तुर्कों के नीचे अब तक जो अरब लोग थे, उन्हें तुर्की साम्राज्य से बांट कर कही अग्रेजो की कठपुतली, कहीं अर्ध कठपुतली, जहा जैसा बन पड़ा वहा वैसा राज्य बना दिया गया। भारतीय मुसलमानो के नेताओ का कहना था कि नही तुर्की साम्राज्य वैसा रहे जैसा कि पहले था। इन महामय मुस्लिम नेताओं ने यह नही देखा कि आखिर अरब लोग तुर्की गुलामी मे आगे रहने मे तैयार है या नही। सच तो यह है कि अरब लोग मुहम्मद साहब के समजातीय होने के नाते तुर्कों को बर्बर मानते थे और खलीफा अब्दुल हमीद था, जालिम-विलासी, जैसा कि उसके पूर्व पुरुष थे। पर भारतीय मुसलमानो को इन बातो से क्या ? हमें याद है कि कांग्रेस के समानातर खिलाफत कमेटिया बनी। गांधी जी ने यह नही देखा कि अरब अपनी आजादी (उसकी कहानी यह है कि सामन्तों ने सारी शक्ति हथिया ली तो अरब जनता चेरी ही बनी रही) से खुश है। गांधी जी ने १९२१ मे किसी भी दाम पर मुसलमान नेताओ को खुश करना चाहा। तब से यह परिपाटी ही पड गई कि अल्पसंख्यको को खुश रखने का नारा दो।

स्वराज्य के बाद खुला मकसद हो गया अपनी पार्टी के लिए इनके वोट प्राप्त करना। चाहे जैसे। वामपक्षी दल भी इस जुर्म में साझेदार है। वे भी वोट लोभी है यद्यपि उनका मंचीय विचार यह है कि वोटो से नहीं बल्कि क्रान्ति से ही लक्ष्य प्राप्त होगा।

बुरी तरह शोषण होता रहा। पर यह तो समाजवाद का केवल एक अंग है। समाजवाद हर तरीके के शोषण के विरुद्ध है, चाहे वह मालिकों के द्वारा मजदूरों का शोषण हो या जमींदारों के द्वारा किसानों का शोषण या पुरुषों द्वारा स्त्रियों का या साम्राज्यवाद द्वारा उपनिवेशों का शोषण। सौभाग्य से जमींदारी प्रथा का बहुत कुछ अन्त हो गया, पर हमें अभी औद्योगिक क्षेत्र में लोक कल्याणकारी प्रथा को प्रचलित करना है। पर इस प्रचलन में स्वार्थी मजदूर नेता बाधक हो रहे हैं। कुछ लोग यह विश्वास करते हैं कि नैतिक वचनों के द्वारा पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन होगा, पर यह चेष्टा सफल नहीं हुई। जिनका हृदय ही न हो, उनका हृदय परिवर्तन कैसे होगा? धर्मान्धों का भी हृदय परिवर्तन असम्भव है।

धर्म या भेड़ियाधसान और समाजवाद में सबसे बड़ा फर्क यह है कि भेड़ियाधसान में यह विश्वास किया जाता है कि जो कुछ हो रहा है सब अच्छाई के लिए हो रहा है। कोई बुरी बात हो रही है तो कर्मफल के कारण हो रही है, इत्यादि। पर समाजवाद ऐसी बेहूदी बातों में विश्वास नहीं करता। वह समझता है कि कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है।

पंचवर्षीय योजना के रूप में जो कदम उठाए हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि हम यह विश्वास करते हैं कि योजनाएं बनाकर तथा परिवार नियोजन करके हम हजारों वर्षों से फैली हुई गरीबी, कुसंस्कार, बीमारी का कुछ सामना कर सकते हैं। हम इसमें कुछ सफल भी हो रहे हैं और इस बीच में हमने बहुत कुछ ठोस सफलता भी प्राप्त की है। पर हम तभी पूरे ढंग से इस नये समाज का लाभ उठा सकते हैं जबकि हम अपने मन को भेड़ियाधसान वाले तरीकों से मुक्त कर लें, हर बात पर खुल कर विचार करें, संकीर्ण विचारों का त्याग कर दें और यह सोचें कि हमें एक आदर्श समाज कायम कर विश्व-शान्ति में सहायक होना है।

आजकल जब देखो तब हर कोई धर्म निरपेक्षता और समाजवाद की दुहाई देता-दिलाता है। यह भी कुछ उसी तरह तकिया कलाम बन गया है जैसे मध्य युग में हिन्दुओं में था। गोब्राह्मणहिताय च। गाय तो बेचारी कुछ कहने नहीं आती थी, ब्राह्मण (जो शास्त्रकार होते थे) अपने ऐहिक मतलब देखही लेते थे। नतीजा यह हुआ कि सारा हिन्दू धर्म ब्राह्मणों की जागीर हो गया।

यहाँ तक कि हमारी कानूनी किताबों में दक्षिण अफ्रीका में प्रचलित एपारथाइड से बदतर यह कानून बना कि यदि ब्राह्मण शूद्रा के साथ बलात्कार करे तो वह नहाकर शुद्ध हो सकता है, पर यदि शूद्र ब्राह्मणी के साथ बलात्कार करे तो उसे जिन्दा जला दिया जाए।

ऐतिहासिक कारणों से भारत अब एक ऐसा देश है जहाँ बहुत से धर्म हैं।

इन धर्मों के माननेवालो मे भाईचारा और प्रेम रहे यह जरूरी है। भले ही हर धर्म मे कुछ कट्टर लोग ऐसे हों जो यह सोचते हैं कि सब धर्मों का नामोनिशान मिटाकर (यही सारे झगडो की जड है) अपने धर्म का झण्डा फहराता रहे। बाकी सब बुद्धिमान लोग समझते हैं कि सब धर्मों का सहअस्तित्व अपरिहार्य है। धर्म निरपेक्षता का आधार स्तम्भ यही विचार है।

गांधी ने मुसलमानो के हृदय जीतने के लिए खिलाफत को राष्ट्रीय सग्राम (१९२१-२२) का एक प्रधान अंग बना लिया। उन दिनो बार-बार कहा गया पंजाब का जलियांवाला बाग हत्याकांड और खलीफा के साथ जो अन्याय हुआ उसके विरोध मे संग्राम जारी किया गया है। मैंने १३ साल की उम्र मे सन् १९२१ में अदालत के सामने यह कहा—जलियांवाला हत्याकाड और खिलाफत के लिए जिम्मेदार इस सरकार को मैं नहीं स्वीकारता। मुझे तीन महीने की सजा मिली।

खिलाफत का किस्सा यह था—प्रथम महायुद्ध १९१४-१८ मे तुर्की सम्राट तथा मुसलमानों के खलीफा (एक ही व्यक्ति) ने जर्मनी का साथ दिया। इस-लिए जब जर्मन हार गये, तो जो बात जर्मनों के साथ की गई वही तुर्कों के साथ की गई। जर्मनो का साम्राज्य छीन कर विजेताओं ने उसे आपस मे बन्दरबांट कर लिया, सम्राट का पद खतम कर दिया गया। खलीफा अब तुर्की के सुल्तान मात्र रह गये। तुर्कों के नीचे अब तक जो अरब लोग थे, उन्हे तुर्की साम्राज्य से बांट कर कही अंग्रेजो की कठपुतली, कही अर्ध कठपुतली, जहां जैसा बन पड़ा वहां वैसा राज्य बना दिया गया। भारतीय मुसलमानों के नेताओ का कहना था कि नही तुर्की साम्राज्य वैसा रहे जैसा कि पहले था। इन महामय मुस्लिम नेताओं ने यह नही देखा कि आखिर अरब लोग तुर्की गुलामी मे आगे रहने मे तैयार है या नहीं। सच तो यह है कि अरब लोग मुहम्मद साहब के समजातीय होने के नाते तुर्कों को बर्बर मानते थे और खलीफा अब्दुल हमीद था, जालिम-विलासी, जैसा कि उसके पूर्व पुरुष थे। पर भारतीय मुसलमानों को इन बातो मे क्या? हमें याद है कि कांग्रेस के समानांतर खिलाफत कमेटियां बनी। गाधी जी ने यह नही देखा कि अरब अपनी आजादी (उसकी कहानी यह है कि सामन्तों ने सारी शक्ति हथिया ली तो अरब जनता चेरी ही बनी रही) से खुश है। गाधी जी ने १९२१ में किसी भी दाम पर मुसलमान नेताओ को खुश करना चाहा। तब मे यह परिपाटी ही पड गई कि अल्पसख्यकों को खुश रखने का नारा दो।

स्वराज्य के बाद खुला मकसद हो गया अपनी पार्टी के लिए इनके वोट प्राप्त करना। चाहे जैसे। वामपक्षी दल भी इस जुर्म मे साझेदार हैं। वे भी वोट लोभी हैं यद्यपि उनका मचीय विचार यह है कि वोटों से नहीं बल्कि क्रान्ति से ही लक्ष्य प्राप्त होगा।

स्वतंत्र भारत के नेताओं को धर्मनिरपेक्षता की उस सिर्बालिय भावुकतापूर्ण धारणा को त्याग कर उस पर पुनरीक्षण करना चाहिए था, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। नेहरू ने कांग्रेस को स्वातंत्र्य योद्धाओं के संयुक्त मोर्चे के गौरवमय पद से उतार कर, गिरा कर अपने दल के चुनावों को लड़ने की दासी संस्था में परिणत कर दिया। धर्म-निरपेक्षता का अर्थ हो गया जिस भी गलत-सही उपाय से हो अल्पसंख्यकों के वोट प्राप्त कर अपने दल का उल्लू सीधा करना। अफसोस है कि वामपंथी भी इस सड़े-गले गन्दे कुण्ड से अपने को निकाल नहीं सके। गांधी ने खिलाफत को अपनाकर उस पर कांग्रेस का ठप्पा लगाकर १९२१ में जो हिमालय समान भूल की थी स्वराज्य के बाद उसी की पुनरावृत्ति होती रही।

गांधी जी की इज्जत तो इसलिए बच गई थी कि तुर्की के महान नेता कमाल पाशा ने स्वयं खलीफा को देश से भगाकर खिलाफत पद्धति का हमेशा के लिए अन्त कर दिया। कमाल पाशा ने तुर्की टोपी खतम की, रोमन लिपि अपनाई और जब मुल्लाओं ने इसका विरोध किया तो उनको फांसी दी। इस तरह से यूरोप का जो बीमार राष्ट्र मरणु शैय्या पर पड़ा था यानी तुर्की, उसे नया जीवन दिया था।

अब प्रश्न यह है कि क्या इस क्षेत्र में कोई वैकल्पिक चिन्तन हुआ? हां, सरदार भगतसिंह, एम० एन० राय आदि ने इस विषय पर सोचा और कार्य किया। सरदार भगतसिंह का तो नहीं, क्रान्तिकारियों का यह दुर्भाग्य रहा कि जनता की दृष्टि उनके रोमांचकारी कार्य जैसे सैण्डर्स वध, केन्द्रीय असेम्बली में बम फेंकने तथा फांसी वाली घटनाओं पर गया, उनके मौलिक चिन्तन पर किसी का ध्यान नहीं गया। भगतसिंह, आजाद, भगवती चरण बोहरा, यशपाल, सुखदेव का सबसे बड़ा कार्य था नौजवान भारत सभा की स्थापना, जो लाहौर में कांग्रेस से अधिक शक्तिशाली हो गयी थी। यह संस्था वामपक्षियों के संयुक्त मोर्चे के रूप में पनप रही थी पर चन्द्रशेखर आजाद की शहादत (२७ फरवरी १९३१) और भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु की फांसी (२३ मार्च १९३१) के बाद अंग्रेज सरकार ने नौजवान भारत सभा की ईंट से ईंट बजाकर बदला लिया, पर कई सालों तक यह संस्था जब तक चालू रही, एक शक्तिशाली संस्था के रूप में रही। आज उत्तर भारत में सैकड़ों लोग, जो शायद उसकी किसी सभा में होंगे नौजवान भारत सभा की सदस्यता का दम भरते थकते नहीं।

नौजवान भारत सभा ने झाग भरे परस्पर प्रशंसा के शून्य से धर्मनिरपेक्षता को निकाल कर एक ठोस सृजनात्मक रूप देने का प्रयास किया। तू भी भला मैं भी भला की बंजर भूमि से पौधे को निकाल कर उसे नया आबे-हयात पिलाकर पुष्ट किया गया। उन्होंने जो रचनात्मक कदम उठाये वे इस प्रकार थे—

(१)—हिन्दू और मुस्लिम नौजवान एक साथ खाना खाने लगे । अछूत तो आ ही गये । (अछूत मुसलमानो के लिए भी अछूत थे) ।

(२)—हिन्दू, सिख झटके का गोश्त लाते और मुसलमान हलाल का गोश्त लाते, दोनों एक साथ पकता और सब नौजवान खाते ।

(३)—ऐसी गोष्ठिया संगठित की जाती रही जिनमे हिन्दू सदस्य अपने धर्म की चीड़-फाड़ करता और मुसलमान अपने धर्म की । इसी प्रकार की एक आत्मसमालोचना की सभा मे एक मुसलमान इस्लाम की कमियो पर भाषण दे रहा था तो श्रोताओ मे से एक मुसलमान छुरा लेकर खड़ा हो गया । उसे पकड़ कर समझाया गया कि जब हिन्दू अपने धर्म की कमियों पर बोला तो तुम चुप थे और अब . . .इस पर वह बोला कि यदि कोई हिन्दू इस्लाम की बुराई करता, तो मैं उस पर उत्तेजित न होता, पर एक मुसलमान इस्लाम का नुक्स निकाले यह मैं सह नही सकता । अब खुमेनी (एक हद तक क्रातिकारी जहा तक कि उसने शाह को निकाला।) और जिया इस्लाम की व्याख्या करके जगहसाई कर रहे हैं । मुसलमानों का यह दुर्भाग्य रहा कि उनमे राममोहन ऐसे सुधारक पैदा नही हुए जिन्होंने वेद को एक मात्र प्रमाण मानने से इनकार किया । दयानन्द ने यहीं काम नई व्याख्या करके किया ।

पर आत्मसमालोचना और चीज है, निन्दा और चीज । एक का उद्देश्य है मानसिक उन्नयन, दूसरे का उद्देश्य है विघटन । क्रातिकारी इस बात को नहीं मानते कि सभी धर्मों की सारी बातें ठीक है, पर गलती का यह बोध अपने अन्दर से आना चाहिए । एक क्रातिकारी इस विचार से परिचालित है कि धर्म एक समाज मे पैदा हुआ, इसलिए उस समाज के लिए सम्भव है वह एक श्रेष्ठ विचारधारा के रूप मे उस समय आया हो, पर बाद को जबकि वह शोषको के हाथो की कठपुतली बन जाता है, या पुरोहित-मुल्ला उसका इस्तेमाल अपने लाभ के लिए करते हैं, तो वह प्रतिक्रियावादी हो जाता है । सम्भव है चातुर्वर्ण्य कभी श्रम-विभाजन मात्र रहा हो, पर अब वह समाज के गले मे बंधा हुआ भारी पत्थर मात्र है । भारत मे हिन्दू शादियों पर कोई सीमा नही थी । मेरे बचपन तक बंगाली कुलीन ब्राह्मण कम मे कम पचास शादियां करता था ताकि वह साल में हर ससुर का हर हफ्ते मेहमान रह सके । मैं समझता हू कि यह प्रथा कभी किसी अर्थ मे प्रयोजनीय या वैध नही थी । यह महज बंगाली ब्राह्मणो की बदमाशी थी । इसके विपरीत इस्लाम मे जो चार शादियो की सीमा बांध दी गयी, वह अपने समय मे प्रगति थी, क्योंकि कुरेशी में प्रचलित अनगिनत हरम, उस वक्त के मुकाबले चार की संख्या एक छलाग थी । पर आज वह निरा जुल्म है क्योंकि स्त्रियो को सौतें देना उनके साथ जुल्म है । मुसलमानों मे तलाक

केवल पुरुष दे सकते हैं। एक पुरुष की गवाही दो स्त्रियों की गवाही के बराबर है।

भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, एम० एन० राय, अशफाकुल्ला आदि क्रान्तिकारी पुरुष और स्त्री को समान मानते थे। वे समान हैं या नहीं इसे जानने के लिए उन्हें पुराण कुरान की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी। भगतसिंह आदि को किसी के वोट नहीं लेने थे। वे केवल किताबी रूप से नहीं, समाजवाद को हृदय से अपना चुके थे। चन्द्रशेखर आजाद ने एक बार कहा था अरे यह मानता घण्टी बजाकर पूजा करता है। यह क्या क्रान्तिकारी होगा। क्रान्तिकारी उस उपसंहार पर पहुँच चुके थे कि धर्म जनता के लिए अफीम है। धर्म जहाँ भी मनुष्य के शोषण की इजाजत देता है, वहीं वह गलत है, उससे लोहा लेना पड़ेगा। यदि धर्म कहता है कि कुछ लोग जैसे शूद्र, गंवार, पशु, नारी, ताड़न के अधिकारी हैं तो उसकी भर्त्सना कर उसे ठुकराया जाये। तुलसीदास का बड़प्पन इतना मात्र था कि उन्होंने लौकिक भाषा अपनाई, पर विचारधारा की दृष्टि से वह अपरिवर्तनवादी थे।

भगतसिंह आदि क्रान्तिकारियों के पास एक ही मानदण्ड था और वह है कि मनुष्य द्वारा हर मनुष्य के हर शोषण का, चाहे वह कीटाणु जिस दरार में घुस कर बैठा हो, उसका विरोध करना है। क्रान्तिकारी इसी कसौटी पर हर प्रथा, विधि-विधान को देखता है कि वह सोना है या महज पत्थर।

पर समाजवाद अब ऐसा शब्द है जिसका ढिंढोरा सभी, यहाँ तक कि उसके जन्मजात शत्रु भी पीट रहे हैं, क्योंकि वह भी गांधी की समाधि की तरह काली माई बन चुका है, जिसकी पूजा बिना किये डाकू डाका नहीं मारता, चोर चोरी नहीं करता। पर जितना भी छल-बल-कौशल किया जाये समाजवाद का अर्थ मिश्र अर्थ व्यवस्था नहीं। बाघवा भी खुश रहे, खुश रहे सैयाद भी, यह समाजवाद में सम्भव नहीं।

एक छोटी सी बात और। समाजवाद एक और अविभाज्य है। न तो कोई वेदान्ती समाजवाद है न इस्लामी। वेदान्त में अन्तर्गत नहीं है पर वेदान्त के झण्डाबरदार उसके मानने वाले हैं। वेदान्त या सूफी मत उसके दिखावे के दांत थे। असलियत तो यह है कि गैर जानकार लोग (डॉ० ताराचन्द ऐसे) इस्लाम को सूफीवाद के लिए श्रेय देते हैं, पर प्रसिद्ध सूफियों को मुस्लिम सुल्तानों ने फांसी पर चढ़ाया। यह श्रेय उसी प्रकार का है जैसे चार्वाक और बृहस्पति के लिए वेद विदों को श्रेय दिया जाये। सूफी विद्रोही थे, उन्हें धर्म के ठेकेदारों ने पनपने नहीं दिया। वही वेद के अनुयायियों ने चार्वाक के सारे साहित्य को लुप्त कर यह कह दिया कि वह 'ऋण कृत्वा घृत पिबेत' के प्रतिपादक थे। सच्ची बात तो यह

ह्य है कि वह जन्मजात वाद (जिसका वेदो मे स्पष्ट उल्लेख नही) का विरोधी था। पुरोहितवाद का जानी दुश्मन था। चार्वाक, वृहस्पति, कबीर, भगतसिंह, आजाद, एम० एन० राय क्रांतिकारी परम्परा थी।

बन्धुवर गीतेश शर्मा जाने-माने साहित्यकार, सम्पादक और चिन्तक हैं। उन्होंने साम्प्रदायिकता की वैज्ञानिक चीरफाड करके हिन्दी वालो के साथ बडा उपकार किया है। असल मे तो यह काम उन लोगों को करना चाहिए था जो समाजवाद की ठेकेदारी का एकाधिकारमूलक दावा करते है, पर वे लोग भूलकर भी कभी सत्य का इंगित नही देंगे, क्योंकि उन्हे वोट खोने का डर है। इसी कारण भगतसिंह से लेकर गीतेश शर्मा तक ऐसे लोगो को यह बीडा उठाना पड रहा है जो वोटों के गेमू से बधे नही हैं। आशा करता हूँ लोग इस पुस्तक को खरीदेंगे और यह नही कि खरीद कर आलमारी की शोभा बढायेंगे बल्कि मनन और चिन्तन करेंगे। हम गांधी का बलिदान दे चुके, इन्दिरा का बलिदान भी दे चुके, क्या अब भी हम बनरिया की तरह ईश्वर-अल्ला तेरे नाम के काल्पनिक समाधान के मरे हुए बच्चे को छाती में चिपका रखने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री मानेंगे ? इन्दिरा की ऐतिहासिक शहादत के बाद रेडियो और दूर-दर्शन मे जब पारम्परिक रूप से दिन-रात भजन, धार्मिक कव्वाली और शब्द कीर्तन होते रहे, तब मेरा मन रोता रहा कि शायद इन्दिरा की शहादत व्यर्थ जाये। जैसे गणेश शंकर, अशफाक, भगतसिंह, और गांधी की शहादत व्यर्थ गई। धर्म के कारण ही गांधी, इन्दिरा गांधी की हत्या हुई और रेडियो, दूर-दर्शन धर्म को बोतली खून पहुँचाकर जिला रहा है। पता नही कब हमारे मन की आँखे खुलेंगी ? हमें कब धर्म की अफीम से मुक्ति मिलेगी और सत्य का दर्शन होगा ?

स्वतंत्रता दिवस १९८५

साम्प्रदायिकता विरोधी अभियान

— प्रभाकर माचवे

हमारे मित्र 'जनतासार' के सम्पादक गीतेश शर्मा विश्व-पर्यटक हैं; हिन्दी पत्रकार हैं; मुक्तमन से विचार करनेवाले प्रगतिशील व्यक्ति हैं। इनकी कुछ पुस्तकें जैसे अमरीकी जीवन की विकृतियों पर यात्रा-वर्णन मैंने देखीं हैं। इनकी कलम बेलाग है। और अध्ययन भी बहुत अच्छा है।

मुझे जानकर खुशी हुई कि इन्होंने एक ऐसे विषय को उठा लिया जिसपर आज भारत में बहुत जोरों से चर्चा और ऊहापोह हो रहा है। कोई सोच रहे हैं कि धर्म को शासन और राजनीति से एकदम दूर रखना चाहिए। वह केवल वैयक्तिक विषय होना चाहिए। कुछ लोग सोचते हैं कि पूर्ण समाजवाद साम्यवाद आदि बिना धर्मनिरपेक्षता सच्चे अर्थ में आज असम्भव है। डॉ० बी० आर० अंबेदकर तो यहाँ तक कह गये कि "हिन्दूधर्म और जनतंत्र ये साथ-साथ चल ही नहीं सकते।" उनका मतलब हिन्दूधर्म में जाति भेद के कारण विषमता से था। वह कभी भी पूरी समानता नहीं लाने देगा, पुरोहित वर्ग का उच्चत्व शिक्षण क्षेत्र में रहेगा, या क्षत्रिय वर्ग का महत्व सैनिक-क्षेत्र में रहेगा, वैश्यों की वरीयता व्यापार उद्योग रहेगी। परम्परा से चले आ रहे कई कारीगरी के और हस्त-शिल्प के मामले ऐसे ही हैं। वे वंश परंपरा से सीखे जाते हैं, और कुमारटोली वाले जैसी अच्छी दुर्गा की प्रतिमा बनायेंगे वे सांचे भी क्या बना पायेंगे।

परंतु कुछ राजनिर्माताओं ने यों सोचा कि कभी भारत पूर्णतः धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र हो ही नहीं सकता। हर नेता का एक प्रिय धार्मिक नेता या संत या पंथ रहा है। यहाँ तक कि बुद्धिवादी अंबेदकर ने भी अंत में बुद्ध की शरण ली। कई कांग्रेसी नेता दयानंद के कारण वेदों के प्रभाव में आये; कई बंगाली नेता ब्रह्म समाज के कारण उपनिषदों के, कई नेता जैन या सिख या पारसी या ईसाई होते हैं—परंतु राजनीति में यही वह क्यों नहीं देते कि वे वैसे हैं। वहाँ वे धर्मनिरपेक्षता का चेहरा ओढ़े रहते हैं। यही गड़बड़ है।

जहाँ दंगा हुआ हिन्दू-मुस्लिम, या हिन्दू-ईसाई, या हिन्दू-सिख, या हिन्दू-जैन, ये नेता एकदम भाव-विवश हो जाते हैं। अपना धर्मनिरपेक्ष तेवर भूलकर 'एकधर्मी', कट्टर मजहबी या 'वाय गुरू दे चेले' बन जाते हैं। यह

बहुत गडबड मामला है। दंगे इसी तरह की डबल (दोहरी) भूमिका से पैदा होते है। जहां शांति या समझौते का प्रयत्न कोई करने जाता है—समझदार को काम नही करने दिया जाता। या तो उसे धर्म के किसी ठेकेदार का पल्ला पकडना पड़ता है, या फिर सांप्रदायिक वैमनस्य फैलाने में अप्रत्यक्ष रूप से सहभागी हो जाते है, उनकी निष्पक्षता गायब हो जाती है।

इस किताब को पढ़ कर पता लग सकेगा कि दंगे देश मे कैसे शुरू हुए, उनकी ऐतिहासिक मीमांसा क्या है? क्या वे केवल धार्मिक सकीर्णता से हुए? या सामाजिक संकीर्णता से? राजनैतिक कारणों से? या आर्थिक कारणों से? इन बातों का बडा अच्छा वस्तुनिष्ठ विश्लेषण गीतेश शर्मा ने इन पृष्ठो में किया है। यह हर विद्यार्थी को, शिक्षकों को, हर पार्टी, दल या पक्ष के नेता को, जो हिन्दी जानता है, जरूर पढ़नी चाहिए। मुझे पढ़कर बहुतसी नयी बातो का पता लगा।

आशा करता हूँ इस पुस्तक का समुचित स्वागत होगा।

कलकत्ता,
२८-८-८५

आमुख

—गीतेश शर्मा

साम्प्रदायिकता अपने आप में कोई रोग नहीं। यह उस रोग का लक्षण है जो घोर आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय पर आधारित व्यवस्था से उत्पन्न होता है। जब आदर्शों एवं सिद्धान्तों को व्यवहार में लागू नहीं किया जाता, तब ये खोखले हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उत्पन्न रिक्तता को जो विकृतियाँ भरती हैं, उनमें साम्प्रदायिकता प्रमुख है। हमारे देश के राजनीतिज्ञों ने, चाहे वे सत्ता पक्ष के हों अथवा विरोध पक्ष के, यथास्थिति को बनाये रखने में मदद ही नहीं की बल्कि उसे और अधिक बदतर बनाने में ही भागीदार हुए हैं।

संवेदनाहीन, मूल्यहीन, आदर्शरहित राजनीति से और अपेक्षा भी क्या की जा सकती है !

आज साम्प्रदायिकता देश की अखण्डता और एकता के लिए चुनौती ही नहीं बल्कि इसने समस्त राष्ट्र के अस्तित्व के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। मानवीय रिश्तों, मानवीय मूल्यों को झकझोर कर रख दिया है। ऊपर से स्थिति जितनी भयावह दिखती है भीतर से वह उससे भी कहीं ज्यादा भयावह है।

साम्प्रदायिक और जातीय दंगे हमारे देश के लोगों के जीवन का अंग से बन गये हैं। विशेष कर १९६० के बाद से हजारों लोग जातीय व साम्प्रदायिक उन्माद से उत्पन्न हिंसा के शिकार हुए। समकालीन इतिहास के पृष्ठ उन्माद-जनित इस बर्बर राक्षसी हिंसा से अपवित्र और मलिन हो गये हैं। इस प्रकार की हिंसाओं को मात्र गुंडागर्दी की उपज समझ कर हल्के से टाला नहीं जा सकता, बल्कि इनके पीछे के कारणों का सिलसिला असामाजिक तत्वों से ऊपर है।

भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष, राष्ट्र में कुछ लोग अपनी जाति, अपने सम्प्रदाय को सर्वोपरि मानते हैं। ये वे लोग हैं जो साम्प्रदायिकता के जहरीले जीवाणुओं को पोसते हैं। समाज के अमन-चैन को भंग करते हैं। हिंसा फैलाते हैं। कटुता भरते हैं। भाईचारे का जनाजा निकालते हैं। और तो और राष्ट्र की कीमत पर साम्प्रदायिकता की राजनीति चलाते हैं। इस तुच्छ, घृणित राजनीति से चूँकि इनका अपना स्वार्थ जुड़ गया होता है तथा इनका अपना महत्व

बढ गया होता है, इसलिए साम्प्रदायिकता को समाप्त करने की बात ये भले करें उसे समाप्त करने की कोई चेष्टा नही करेंगे ।

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक हिंसाओं को फौज और पुलिस के बल पर, प्रशासनिक दबाव से वक्ती तौर पर दबाया जा सकता है, इसे समूल नष्ट नही किया जा सकता ।

इससे निपटने के लिए हर स्तर पर पूरी ताकत से मुकाबला करना होगा । साम्प्रदायिक, अलगाववादी ताकतो के नकाब को उतार कर उनका असली गलीज रूप उजागर कर साम्प्रदायिकता के खतरे से समस्त देशवासियो को आगाह करना होगा ।

इसी दिशा में एक छोटा सा प्रयास इस पुस्तक के रूप मे आपके सामने प्रस्तुत है ।

मैंने जो कुछ भी लिखा है, उसमें मेरा दृढ विश्वास और पूर्ण आस्था है । यह पुस्तक मेरे अपने लम्बे अनुभव और अध्ययन का निष्कर्ष है । नग्न भयावह सत्य को उजागर करते हुए, उसका समाधान बताने का प्रयास भी मैंने इसमें किया है । ईमानदारी और निष्ठा से ।

पाठको से मेरा एक विनम्र अनुरोध है । वे मेरी बातो से सहमत—असहमत हो सकते हैं । लेकिन पुस्तक को न केवल स्वयं पूरा पढ़ें, बल्कि औरो को भी पढ़ने के लिए दें । सम्भव हो तो इस पर चर्चा—परिचर्चायें आयोजित करायें । इन परिचर्चाओ में दो चार-पाच लोग भी हों, तो कोई बात नही । सजग पाठक से मैं यह अपेक्षा करूंगा कि वह निरपेक्ष भाव न अपना कर सक्रिय भूमिका निभाये क्योकि कमोबेश आज हर कोई साम्प्रदायिकता से प्रभावित है । इसलिए प्रबुद्ध पाठकों का यह विशेष दायित्व हो उठता, है कि वह अपनी जैसी भी, जो भी भूमिका निभाना सम्भव हो अवश्य निभाये ।

पाठको और आलोचको से एक और विनम्र निवेदन यह है. कि पुस्तक व लेखक के बारे मे पुस्तक पढने से पूर्व ही किसी पूर्वाग्रह के आधार पर धारणा न बनायें बल्कि सम्पूर्ण पुस्तक पढने के बाद ही अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करें ।

पुस्तक के किसी भी उद्धरण को उसके समुचित सन्दर्भ के साथ रखें जिससे लेखक व लेखन के साथ न्याय किया जा सके । पुस्तक की सामग्री को प्रकाशित करने के लिये लेखक की पूर्व अनुमति की आवश्यकता नहीं । लेखक के पास तत्सम्बन्धी सूचना तथा प्रकाशित अंश की एक प्रति भेज देना ही यथेष्ट होगा ।

पुस्तक के दो भाग हैं । पहले मे साम्प्रदायिकता के विभिन्न पहलुओ पर तथ्यात्मक विश्लेषण किया गया है । दूसरे मे कुछ साम्प्रदायिक दगो की रपट है ।

एक मेरे अनन्य मित्र हैं—ओम प्रकाश चौधरी। सत्ता और नाम के लोभ से परे, सदभावनाओं का एक पुंज। अपनी जिस जमीन पर वह खड़े हैं; वहीं से देश और समाज के लिए कुछ करने की एक निर्दोष व अदम्य लालसा है उनमें। अपनी पुस्तक के बाबत जब उनसे चर्चा की तो सहर्ष उन्होंने इसके प्रकाशन की व्यवस्था का जिम्मा ले लिया। आज उनके सहयोग का ही परिणाम है कि यह पुस्तक आपके सामने है।

पुस्तक लिखने में सबसे ज्यादा सक्रिय सहयोग श्रीमती कुसुम जैन से मिला। सामग्री जुटाने से लेकर लेखन, सम्पादन तथा प्रूफ रीडिंग तक में इन्होंने भरसक सहयोग दिया। एक संवेदनशील मानवतावादी महिला हैं। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध हर मुहिम में सतत् प्रयत्नशील रही हैं। इसीलिए तो इनका इतना सहयोग मिला।

इनके अलावा दिल्ली विश्वविद्यालय में बुल्गारियन भाषा की लेक्चरार रश्मि जोशी तथा जनसंसार के सहयोगी सम्पादक श्री प्रेम कपूर का भी काफी सहयोग मिला। इनके सहयोग के पीछे इन सब का मेरे प्रति स्नेह-भाव तो है ही, साथ ही उन सिद्धान्तों व आदर्शों के प्रति आस्था भी है जिनसे प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी गई है।

मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो पाठक और समीक्षक ही करेंगे।



भगत सिंह का प्रस्तुत लेख १९२८ में जितना प्रासंगिक था, आज उससे कहीं ज्यादा है।

हम भगत सिंह की पूजा करते हैं। जयंतिया मनाते हैं। उनके बताये रास्ते पर चलने की शपथ लेते हैं। अमर—शहीद, शहीदे-आजम कह कर उन्हें सम्मान देते हैं। उनकी तस्वीरें घरो में टांगी जाती हैं। पर हम में से कितने लोग हैं जो भगत सिंह के विचारों से परिचित भी हैं? जब परिचित ही नही तो उन्हें मानने का तो प्रश्न ही नही पैदा होता।

भगत सिंह दूरदर्शी थे, उनकी दृष्टि स्पष्ट थी। उनके चिंतन में गहराई थी और राजनीतिक रूप से परिपक्व थे वे।

अगर हमने उनकी बातें मानी होतीं तो देश की यह दुर्दशा न होती।

धर्म और साम्प्रदायिकता पर उनका यह लेख अपने आप में एक ऐतिहासिक दस्तावेज है। यह मैंने जनसत्ता से साभार लिया है। मुझे ऐसा लगा, इस लेख को छापे बिना यह पुस्तक अधूरी रह जायेगी इसलिये इसे छापने का लोभ संवरण नही कर सका।

सामने है धर्म का पहाड़

—भगत सिंह

अमृतसर में ११-१२-१३ अप्रैल को पंजाब राजनीतिक सम्मेलन हुआ और साथ ही नौजवानों का सम्मेलन हुआ। दो-तीन सवालो पर बहुत झगडा और बहस हुई। उनमें से एक सवाल धर्म का भी था। वैसे तो धर्म पर कोई सवाल न उठता, लेकिन साम्प्रदायिक संगठनों के खिलाफ प्रस्ताव पेश हुआ और धर्म के बहाने उन सगठनो का पक्ष लेने वालो ने खुद को बचाना चाहा। वैसे तो यह सवाल कुछ और देर दबा रहता, लेकिन इस तरह सामने आ जाने से खुली बात-चीत हो गई और धर्म की समस्या के हल का विचार भी उठा। प्रांतीय सम्मेलन की सब्जेक्ट कमेटी में भी मौलाना जफर अली साहिब द्वारा पाच-सात बार 'खुदा-खुदा' करने पर पंडित जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि इस मच से आप 'खुदा-खुदा' न करें। आप धर्म के मिशनरी हैं तो मैं धर्महीनता का प्रचारक

हूँ। बाद में लाहौर में भी नौजवान भारत सभा ने इसी विषय पर एक बैठक की। कई भाषण हुए और धर्म के नाम का लाभ उठाने वाले और इस सवाल के उठने से झगड़ा होने से हटने वाले सज्जनों ने कई तरह की नेक सलाह दी।

सबसे ज्यादा बात जो बार-बार कही गई और जिस पर श्रीमान अमर सिंह जी झबाल ने खास जोर दिया, वह यह थी कि धर्म के सवाल को छेड़ा ही न जाए। बड़ी नेक सलाह है। यदि किसी का धर्म बाहर लोगों के सुख-चैन में कोई रुकावट पैदा न करता हो तो किसी को भी उसके खिलाफ आवाज उठाने की क्या जरूरत हो सकती है? लेकिन सवाल यह है कि अब तक का अनुभव क्या बताता है। पिछले आंदोलन में भी धर्म का यही सवाल पैदा हुआ और हर किसी को पूरी आजादी दे दी गई। यहाँ तक कि कांग्रेस के स्टेज तक में आयतें और मंत्र पढ़े जाने लगे। उन दिनों धर्म के पीछे रहने वाला कोई भी आदमी अच्छा नहीं समझा जाता था। पूर्वाग्रह बढ़ने लगे।

जो बुरा परिणाम सामने आया वह किसी से छिपा है क्या? अब कौम-परस्त या स्वतंत्रता-प्रेमी धर्म की वास्तविकता समझ गए थे और वे ही अब उसे अपने रास्ते का रोड़ा समझते थे।

बात यह है कि क्या धर्म घर में रखते हुए लोगों के दिलों में भेदभाव नहीं पड़ता? क्या उसका देश की पूर्ण स्वतंत्रता तक पहुँचने में कोई असर नहीं पड़ता? इस समय पूर्ण स्वतंत्रता के उपासक सज्जन धर्म को दिमागी गुलामी का नाम देते हैं। वे तो यह भी कहते हैं कि बच्चों को यह बताना कि ईश्वर ही सर्वशक्तिमान है और मनुष्य कुछ भी नहीं, मिट्टी का पुतला है, बच्चों को सदा के लिए कमजोर बनाता है, उसके दिल की ताकत और उसके आत्मविश्वास की भावना को नष्ट कर देता है। लेकिन इस बात पर बहस न भी करें और सीधे अपने सामने दो सवालों पर ही विचार करें तो भी हमें दिखाई देता है कि धर्म हमारे रास्ते में एक बड़ा भारी रोड़ा है। मसलन, हम चाहते हैं कि सब लोग एक समान हों। इनमें ऊँच-नीच, छूत-अछूत का कोई विभाजन न रहे। लेकिन सनातन धर्म इस भेदभाव के पक्ष में है। बीसवीं सदी में पंडित-मौलवी जो भंगी के लड़के से हार डलवा कर कपड़ों सहित स्नान करते हैं और अछूतों को जनेऊ तक देने से इनकार करते हैं, अगर इसी धर्म के खिलाफ कुछ न कहने की सौगंध ले लेंगे तो चुपचाप घर बैठ जाना चाहिए। नहीं तो धर्म का विरोध होगा। लोग यह भी कहते हैं कि इन बुराइयों का सुधार किया जाए। बहुत खूब। छूत-अछूत को जिस स्वामी दयानन्द ने मिटाया, वे भी चार पक्षों से आगे न जा सके। भेदभाव तो फिर भी रह गया। गुरुद्वारे में जाकर 'राज करेगा खालसा' गाने और बाहर आकर पंचायती राज की बातें करने का क्या मतलब होगा?

धर्म कहता है कि इस्लाम पर यकीन न लाने वाले काफिरों को तलवार के घाट उतार दिया जाना चाहिए और इधर जो एकता की दुहाई दी जाए तो नतीजा क्या होगा ? हम जानते हैं कि अभी कई और मंत्र पढ कर खींचतान करने की कोशिश की जा रही है। लेकिन सवाल यह है, इस पूरे झगड़े से छुटकारा क्यों न हासिल किया जाए ? धर्म का पहाड़ तो हमें सामने नजर आ रहा है। मान लें कि भारत में आजादी की जंग छिड़ जाए तो आमने-सामने सेनाएं बंदूकें लिए खड़ी हों, गोली चलने ही वाली हो और अगर उस समय मुहम्मद गोरी की तरह—जैसी कि कहावत बताई जाती है—आज भी हमारे सामने गायें, सुअर, वेद, कुरान, गुरुग्रंथ साहिब आदि चीजें खड़ी कर दी जाएँ तो हम क्या करेंगे ? अगर पक्के धार्मिक होंगे तब तो अपना बोरिया-बिस्तर लपेट कर घर बैठ जाएंगे। धर्म के होते हुए, हिंदू या सिख गाय पर और मुसलमान सुअर पर गोली नहीं चला सकते। धर्म के बडे पक्के व्यक्ति तो उस समय सोमनाथ के कई हजार पंडों की तरह ठाकुरों के आगे दंडवत होते रहेंगे। दूसरे लोग धर्महीन या धर्म रहित काम करते जाएँगे। फिर हम किस परिणाम पर पहुँचते हैं ? धर्म के खिलाफ ही सोचना पड़ता है। लेकिन यदि धर्म के पक्ष वालों के तर्क सोचे जाएँ तो वे यही कहते हैं कि दुनिया में अन्धेर हो जाएगा। पाप बढ जाएगा। बहुत अच्छा इसी बात को ले लें।

रूसी महात्मा टालस्टाय ने अपनी पुस्तक 'एसेज एण्ड लेटर्स' में धर्म पर चर्चा करते हुए धर्म के तीन हिस्से किए हैं।

१. इसेंसियल्स ऑफ रिलीजन यानी धर्म की बुनियादी बातें कि सच बोलो, चोरी न करो, गरीबों की सहायता करो, प्यार से रहो आदि।

२. फिलासफी ऑफ रिलीजन यानी जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, संसार-रचना आदि का दर्शन। इसमें आदमी अपनी मर्जी के अनुसार सोचने और समझने की कोशिश करता है।

३. रिचुअल्स ऑफ रिलीजन यानी संस्कार, रस्मो-रिवाज आदि।

पहले हिस्से में सब धर्म एक हैं। सभी कहते हैं कि सच बोलो, झूठ न बोलो, प्यार से रहो। इन बातों को कुछ सज्जनों ने निजी धर्म कहा है। इस पर झगडे का सवाल ही नहीं उठता। बल्कि ये नेक विचार हर आदमी में होने ही चाहिए। दूसरा फिलासफी का सवाल है। वास्तव में तो कहना पड़ता है कि फिलासफी इज द आउटकम ऑफ ह्यूमन वीकनेस, यानी फिलासफी आदमी की कमजोरी का परिणाम है। जहाँ तक आदमी देख सकता है, वहाँ तक कोई झगडा नहीं। जहाँ कुछ नजर न आया वहाँ दिमाग लडाना शुरू कर दिया और खास-खास परिणाम निकाल दिए। वैसे तो दर्शन बहुत जरूरी चीज है क्योंकि इसके बिना प्रगति नहीं हो

सकती। लेकिन इसके साथ-साथ शान्ति भी जरूरी है। हमारे बुजुर्ग कह गए हैं कि मरने के बाद भी पुनर्जन्म होता है। ईसाई और मुसलमान इस बात को नही मानते। बहुत अच्छा, अपना-अपना विचार है। आएं प्यार के साथ बैठ कर बहस करें, एक दूसरे के विचार सुनें। लेकिन एकता के मसले पर बहस होती है और आये समाजियों और मुसलमानो मे लाठियां चल जाती हैं। बात क्या है ? दोनो पक्ष दिमाग को, बुद्धि को, सोचने-समझने को ताला लगा कर घर रख जाते है। वे समझते हैं कि वेद भगवान ने, परमात्मा ने इसी तरह लिखा है और सच है। ये कहते हैं कि कुरानशरीफ मे खुदा ने यों लिखा है और यही बात है। अपनी तर्क-शक्ति को छुट्टी दी हुई है। यदि फिलासफी प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत राय से अधिक कोई महत्व न रखती हो और एक खास फिलासफी मानने के कारण अलग गुट न बने, तो इसमें किसी को क्या शिकायत हो सकती है।

अब आती है तीसरी बात—संस्कार और रस्मोरिवाज। सरस्वती पूजा के दिन सरस्वती की मूर्ति का जुलूस निकालना जरूरी है और उसके आगे-आगे बाजा बजना भी जरूरी है। लेकिन हेरिसन रोड के रास्ते पर एक मस्जिद भी पड़ती है। इस्लाम धर्म कहता है कि मस्जिद के आगे बाजा न बजे। अब क्या होना चाहिए ? नागरिक अधिकार कहते है कि बाजार में से बाजा बजाते हुए भी जा सकते हैं, लेकिन धर्म कहता है नही। इनके धर्म मे गाय का बलिदान जरूरी है और दूसरे मे गाय की पूजा लिखी हुई है, अब क्या हो ? पीपल की शाखा काटते ही धर्म में अन्तर आ जाता है और क्या किया जाए ? और यह फिलासफी और रस्मोरिवाज वाले छोटे-छोटे भेद बाद में आकर राष्ट्रीय धर्म बन जाते हैं और अलग-अलग संगठन का कारण बन जाते है। नतीजा हमारे सामने है।

यों अगर धर्म पिछली तीसरी और दूसरी बात के अंधविश्वास मिलाने का नाम है तो धर्म की कोई जरूरत नही। कल को नही, आज ही इसे उड़ा देना चाहिए। अगर पहली और दूसरी मे स्वतंत्र विचार मिलाकर धर्म बनता है तो मुबारक है धर्म।

लेकिन अलग-अलग साम्प्रदायिक गुटबंदी और खाने-पीने का भेद-भाव हर सूरत में मिटाना जरूरी है। छूत-अछूत शब्दो को जड़ से उखाड़ना होगा। जब तक हम अपनी तंगदिली छोड़ एकजुट न होंगे, तब तक हमारे बीच वास्तविक एकता नही हो सकती। इसलिए उपरोक्त बातों पर चलने से ही हम आजादी की ओर बढ़ सकते हैं। आजादी का मतलब सिर्फ अंग्रेजी चंगुल से छुटकारा पाने का नाम ही नही, वह पूर्ण आजादी का नाम है, जब लोग आपस में घुलमिल कर रहेंगे और दिमागी गुलामी से भी आजाद हो जाएंगे।

> राष्ट्र का मतलब है आत्मा, एक आध्यात्मिक तत्व। इस आत्मा या आध्यात्मिक तत्व का निर्माण दो चीजो से होता है, जो वस्तुत: एक ही है। इनमे एक चीज अतीत से निहित होती है और दूसरी वर्तमान से। पहली है स्मृतियों की एक समृद्ध परम्परा मे साझेदारी और दूसरी है वास्तविक सहमति, साथ रहने और इस साझा परम्परा का अधिकतम इस्तेमाल करते रहने की इच्छा।
>
> —रायटर्स इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनैशनल अफेयर्स, लंदन द्वारा प्रचारित एक पैम्फलेट से

भारत और भारतीयता की पहचान

आधुनिक राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन-काल के दौरान हुआ पर भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म-काल वैदिक युग माना जाता है। वैदिक युग से ही, सारा देश, जो कभी आर्यावर्त्त कहलाता था, एक सास्कृतिक इकाई के साथ जुड़ गया था। भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूप होते हुए भी इसकी जड़ एक रही है। भारतीय दर्शन, जो वैदिक युग से प्रारम्भ हुआ वह बाद के युग मे भी विभिन्न प्रकार के परिवर्तनो को ग्रहण करता हुआ भी कही न कही अतीत से हमेशा जुड़ा रहा। धार्मिक आचरण, जाति-प्रथा, छुआछूत, आदि इसके अभिन्न अंग रहे। लगभग पांच हजार वर्ष के कार्यकाल मे एक तरफ इसका विकास हुआ तो दूसरी तरफ जड़ता भी बनी रही। विरोधाभासो से भरा यह एक अजीब सम्मिश्रण केवल भारत मे ही मिलेगा। प्रारम्भ मे हिन्दुओं मे जो ग्रहण करने की तथा आत्मसात करने की प्रकृति थी वह मुस्लिम-काल आते-आते समाप्त हो गई तथा भारतीय समाज या हिन्दू समाज अपने आपमें बुरी तरह से सिमट गया। बाद मे यह सिमटाव और गहरा होता चला गया। यह सिमटाव अंग्रेजों के आने तक बना रहा। मुस्लिम शासकों का स्थान जब अंग्रेजो ने ले लिया तो हिन्दुओं में थोड़ी हलचल हुई और वे अपने दड़बे से बाहर निकले। इस प्रक्रिया में दयानन्द, रामतीर्थ जैसे समाज-सुधारकों ने काफी मदद पहुचाई।

यह सही है कि आज जो भी भारत का नक्शा है, वह ब्रिटिश साम्राज्य की देन है। ब्रिटिश शासन काल के पहले भारत विभिन्न राजनीतिक इकाईयों में

बटा था। गुप्त काल और मुगलकाल में भी यह देश कभी एक इकाई की शक्ल नहीं ले पाया।

पर राजनीतिक-विभिन्नता, वेश-भूषा, भाषा, रहन-सहन, खानपान व शारीरिक गठन में भी विभिन्नता के बावजूद एक सांस्कृतिक धागे में सम्पूर्ण देश सूत्रबद्ध रहा। विभिन्नता के साथ-साथ सांस्कृतिक एकता भी रही जो इस देश की हजारों वर्षों से चली आ रही विरासत है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आने के हजारों वर्ष पहले से भारत तथा आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा ईरान तक थी। दक्षिण में श्रीलंका तक। देश के हर समुदाय में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था भी इसी सांस्कृतिक इकाई का उदाहरण है। फलसफा, सोच और चिन्तन के धरातल में भी काफी साम्य रहा है।

विदेशी आक्रमणकारी सिन्धु नदी के इस पार के लोगों को हिन्दू कहते थे। उस वक्त हिन्दू का मतलब किसी धर्म अथवा मजहब विशेष से नहीं होता था, बल्कि उन तमाम लोगों से होता था जो सिन्धु नदी के इस पार रहते थे। कभी इस प्रदेश को आर्यावर्त, कभी भारतखण्ड और भारतवर्ष कहा जाता था और प्रकारान्तर में इसी का नाम हिन्दुस्तान हो गया।

ज्योतिषशास्त्र, खगोलशास्त्र, आयुर्विज्ञान आदि की उपलब्धियां और इनका प्रयोग व प्रचलन किसी राज्य अथवा रियासत तक सीमित नहीं रहा, वरन् उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक इनका फैलाव था। विदेश में भी इन्हें भारत की खोज के रूप में मान्यता मिली।

राम, रावण, कृष्ण जैसे नामों से देश का प्रत्येक वर्ग भलीभांति परिचित रहा है। इसी प्रकार वेद को इस देश के कोने-कोने में प्रतिष्ठा मिली।

इस तरह के न जाने कितने ही उदाहरण हैं जिन्होंने हजारों सालों से देश को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में मजबूती से पिरो कर रखा है। विदेशी हमलों और उनकी हुकूमतों के बावजूद यह सांस्कृतिक एकता सर्वदा बरकरार रही। हमारे देश के इसी वैशिष्ट्य को नेहरू ने विभिन्नता में एकता की संज्ञा दी।

इस देश की संस्कृति को किसी वर्ग-विशेष, धर्म-विशेष, या जाति-विशेष से जोड़ना गलत होगा। इसे हम हिन्दुस्तानी संस्कृति कह सकते हैं। इस संस्कृति का इस देश की मिट्टी से गहरा रिश्ता रहा। इसकी पकड़ यहाँ के लोगों पर बड़ी मजबूत रही। जैन, बौद्ध, सिख, हिन्दुओं से अलग मजहब थे, पर इसके बावजूद सांस्कृतिक रूप से इनमें काफी समानता रही। इतनी समानता कि कहीं भी इनको अलग कर पाना बहुत ही मुश्किल है। इसकी एक वजह यह भी है कि ये सारे मजहब इसी देश की उपज हैं।

हिन्दुस्तानी तहजीब या संस्कृति का उन पर भी गहरा असर पड़ा जो बाहर

से आये जैसे मुस्लिम, यहूदी, ईसाई आदि। ये सारे लोग प्रकारान्तर में हिन्दुस्तानी संस्कृति मे ढल गये तथा इस संस्कृति की अच्छाई और बुराई को उन्होने अपनाया।

इस्लाम में वर्ण व्यवस्था नही है, पर भारतीय मुसलमानो मे ऊँची और नीची जाति पायी जाती है तथा उनमे आपसी रिश्ते नही होते। इसी तरह ईसाइयो मे भी ऊँच-नीच का भेदभाव है जो इस देश की देन है।

हिन्दुस्तानी संस्कृति की पकड़ और जकड इतनी मजबूती रही है कि हजारो साल के बाद भी इसका मूल ढ़ाचा बना हुआ है। इसमे बहुत सतही तबदीली ही आई। आज के प्रगतिशील वैज्ञानिक युग में हमारे पिछड़ेपन का यह बहुत बड़ा कारण है।

यह सही है कि हजारों साल तक हिन्दुओ के धार्मिक स्थानों ने भावनात्मक रूप से भारत के लोगों को एक सूत्र मे पिरोने का काम किया। अलग-अलग राज्योंमे बटे रहने के बावजूद, विभिन्न संस्कृतियों, भाषा, वेष-भूषा, खान-पान आदि अनेक विभिन्नताओ के बावजूद सारा हिन्दू समाज कही न कही एक दूसरे से जुडा रहा। इस संदर्भ मे सुदूर उत्तर मे मानसरोवर जो अब चीन में है, उत्तर-पूर्व आसाम मे शिव मन्दिर, उत्तर-पश्चिम जम्मू-काश्मीर मे अमरनाथ स्थित शिव मन्दिर, दक्षिण मे भारत के अन्तिम छोर पर रामेश्वरम्, उडीसा के समुद्री किनारे पर स्थित पुरी, गुजरात के समुद्री किनारे पर स्थित द्वारका आदि धार्मिक स्थानो के निर्माण के पीछे एक राष्ट्रीय इकाई की भावना ही निहित थी। इतना ही नहीं बाद में जो भी विदेशी भारत आये और यहाँ बस गये, वे भी भारतीय संस्कृति के एक अंग बन कर रह गये। अंग्रेजो के आने के सैंकडो वर्ष पहले यहाँ क्रिश्चियन, मुसलमान, पारसी आदि आये थे। वे इसी देश के बन गये थे। अलग-अलग खण्डो मे विभाजित होने के बावजूद वे सभी आपस मे कही न कही भावनात्मक रूप से जुड़े रहे।

आधुनिक राष्ट्रीयता का बोध अंग्रेजी शासन काल मे भले ही हुआ, पर भारतीयता का बोध तो यहाँ हजारो वर्षों से रहा है। इसी भारतीयता के बोध ने देश के तमाम लोगों को एक सूत्र मे बाँधने मे सहयोग दिया। सांस्कृतिक रूप से कही न कही समानता हमेशा से रही है।

हिन्दुओं की परिपाटी के अनुसार बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमानो ने भी देश के कोने-कोने मे अपने धार्मिक स्थलो का निर्माण कर यही साबित किया कि भारत का हर हिस्सा एक दूसरे से जुड़ा है।

कभी इस राष्ट्रीय संस्कृति को धार्मिक ग्रन्थों से भी बल मिला। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम के लोगों को एक सूत्र मे पिरोने मे इन ग्रन्थो की

भूमिका भी महत्वपूर्ण रही। इन ग्रन्थों में वेद, वाल्मीकिकृत रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, स्मृतियाँ आदि उल्लेखनीय हैं। संस्कृत भाषा में होने के बावजूद इनमें उल्लिखित आख्यानों, उपदेशों से शिक्षित और अशिक्षित भली-भांति परिचित रहे। इसके साथ इन ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में भी अनुवाद हुआ।

मतलब यह कि धर्म ने एक काल में देश को एक सूत्र में पिरोने में अहम् भूमिका निभाई।

बीच-बीच में हिन्दुओं पर यह आरोप लगाया जाता है कि ये दूसरे सम्प्रदायों को निगल जाने की चेष्टा करते हैं। इसीलिए अपनी अलग पहचान बनाये रखने के लिए अन्य धर्म कट्टरता का सहारा लेते हैं। पर इस कट्टरता ने हिन्दुओं से दूरी बढ़ाई और पूरे के पूरे सम्प्रदाय को सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की मानसिकता में जकड़े रखा। जहाँ तक हिन्दुओं द्वारा निगले जाने का आरोप है, यह बेबुनियाद है। जोरास्ट्रियन, यहूदी आदि सम्प्रदाय सैकड़ों वर्षों से इस देश में हैं। इनकी संख्या भी हिन्दुओं की संख्या के मुकाबले में नगण्य सी रही है, पर इनके अस्तित्व पर हिन्दुओं की ओर से कभी कोई खतरा पैदा नहीं किया गया। हिन्दुओं में सहिष्णुता के साथ-साथ एक अजीब तरह की संकीर्णता भी रही है जिसने इनको दूसरे सम्प्रदायों के बीच हमेशा एक दूरी बनाये रखने में मदद की। श्रेष्ठता के झूठे अहंकार में हिन्दुओं ने अपने इर्द-गिर्द ऐसी लक्ष्मण रेखा खींच रखी है जिसके भीतर न तो औरों को आने की इजाजत है, न ही ये उसे लांघते हैं। इसलिए निगलने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता पर इसके बावजूद यह प्रचार निरंतर जारी रहा। पहले मुसलमान और अब सिख इस प्रचार से प्रभावित हो रहे हैं। अपनी पहचान बनाये रखने की चेष्टा में ये पीछे की ओर जाना चाहते हैं।

मुहम्मद बिन कासिम के काफी पहले अरब और तुर्कों का इस देश में व्यापारी के रूप में आगमन हो चुका था। हिन्दू शासकों तथा लोगों ने उनकी शानदार तरीके से अभ्यर्थना की। आठवीं सदी की शुरुआत में दक्षिण भारत में जहाँ कि बड़ी संख्या में अरब बस गये थे, हमारे शासकों ने न केवल उन विदेशियों को व्यापारिक सुविधाएँ दीं बल्कि इस्लाम में परिवर्तन को भी बढ़ावा दिया। कालीकट के राजा जमोरिन ने आदेश दिया कि उसके राज्य के हर मछेरे परिवार, जिन्हें मक्कूवन भी कहा जाता था, के एक या एक से अधिक पुरुष सदस्य का लालन-पालन मोहम्मडन यानी मुसलमानों की तरह हो। जैसा कि यूरोपीय व्यापारियों को भी आगे चल ये सुविधाएँ प्रदान की गईं वैसे ही अरबों को भी कुछ ऐसी व्यापारिक सुविधाएँ दी गयी जो कि स्वदेशी व्यापारिक समुदाय को प्राप्त नहीं थी।

ईरान मे इस्लाम के आने के बाद जोरोस्ट्रियन यानी पारसियो पर अत्याचार होने लगे। उनका वहाँ चैन से रहना दूभर हो गया। मुसलमानो के अत्याचार से तंग आकर वहाँ से भाग कर पारसी भारत आ गये। आज स्थिति यह है कि पारसियो की कुल संख्या के लगभग सत्तर प्रतिशत लोग भारत मे रहते हैं। संख्या मे बहुत कम (लगभग डेढ लाख) होने के बावजूद इनके साथ कभी कोई भेद-भाव नही बरता गया तथा न कभी इनके धर्म पर ही कोई आच आई।

मुसलमानो में इसमाइली सम्प्रदाय के धर्मगुरु आगा खाँ ईरान के बादशाह के क्रोध के शिकार हो गये। फलस्वरूप अपने अनुयायियो के साथ जान बचा कर ईरान से भाग कर अफगानिस्तान के रास्ते भारत चले आये। आज भी इसमाइली सम्प्रदाय के बहुसख्यक लोग भारत मे सुख से रह रहे हैं।

दूसरे को अपनाने और ग्रहण करने की शक्ति भारतीय समाज मे हमेशा ही रही है। यह कतई सम्भव नही होता अगर हिन्दुओ में सहिष्णु भाव न होता।

यह सही है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता ने जब भी अपना भद्दा और उग्ररूप दिखाया है तो यह कट्टरता मे किसी अन्य साम्प्रदायिकता से कम नही रही, पर हिन्दुओ मे सहिष्णुता और सम्प्रदायो की अपेक्षा ज्यादा रही है, यह भी तथ्य है।

भारत विभिन्न धर्मों और संस्कृतियो, जातियो और उपजातियों का देश है जिनमे हिन्दू लगभग ७०% है। १७% मुसलमान है, २% सिख, १% के लगभग ईसाई हैं। इसके अलावा जनजातियो के लोग हैं जो हिन्दुओ से अलग है। जैसे—कोल, भील, मुन्डा, उराव आदि।

हिन्दुओ मे हरिजन है जो हिन्दू सम्प्रदाय के सभी अधिकारो से वंचित हैं।

१४ प्रमुख भाषाएँ है। १०० के लगभग बोलियाँ और छोटी-मोटी भाषाएँ।

कई प्रदेशो मे बटे हुए इस देश के लोगो की वेश-भूषा, खान-पान, आचार-व्यवहार में भी भिन्नता है।

पर इन सबके बावजूद सारे देश के लोग एक-दूसरे से कही न कही जुडे हुए है। यही कारण है कि छोटे-छोटे टुकडो मे बटे रहने के बावजूद इनके आपस के सम्बन्ध हमेशा बने रहे। उस काल मे लोगो को जोडने मे धर्म का प्रमुख स्थान रहा। इस ढंग से तीर्थ बनाये गये कि उत्तर-दक्षिण, पूर्व और पश्चिम को बाध कर रखा गया। हजारो वर्षों मे यह परम्परा अबाध रूप से चलती रही।

कई रीति-रिवाज भी मूलतः हजारो वर्षों से मिलते-जुलते से रहे है। शादी ब्याह की रस्म : मूर्ति पूजा, मरने के बाद की रस्मे सारे देश मे मिलती-जुलती सी मिलेंगी। जनजातियो मे भी देवी-देवताओ, भूत-प्रेत, सांप और पेड़ की पूजा की जो परम्परा है, वह इस देश की उपज है। सांप और पेड़ की पूजा हिन्दुओ ने जनजातियो से ली अथवा जनजातियों ने हिन्दुओ से अपनाई।

यह सही है कि किसी जमाने में हमारी संस्कृति उन्नत अवस्था में थी। लेकिन इसके साथ ही यह भी सही है कि यह अतीत की बात है। आज हम उस संस्कृति से कोसों दूर हैं। आज हम जहाँ खड़े हैं, मानव जाति के क्रमिक विकास और उसकी वैज्ञानिक उपलब्धियों की तुलना में दुनिया के उन देशों के मुकाबले बहुत पीछे हैं, जो अतीत में हमसे बहुत पिछड़े हुए थे।

पिछले दो हजार सालों में हमारे देश में एक ठहराव सा आ गया है। वर्तमान और भविष्य की अपेक्षा हम अतीत से ज्यादा चिपके हुए हैं। अतीत में गौरवान्वित होते रहते हैं, बिना इस बात की परवाह किये कि वर्तमान में हम अधोगति की स्थिति में पहुँचे हुए हैं।

अतीत की शानदार संस्कृति की गौरव-गाथा गाते हुए हम अपने आप को पहले दरजे का अध्यात्मवादी होने का दावा करते हैं। पश्चिम के भौतिकवाद को तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि हमारे तथाकथित अध्यात्मवाद में मानवीय मूल्यों का तेजी से ह्रास हुआ है, जबकि पश्चिम के भौतिकवादी समाज में मानवीय मूल्यों को कहीं अधिक महत्व मिला हुआ है। व्यक्ति की सुख-सुविधा, उसके जीने के अधिकार को पश्चिम में जितना प्रमुख स्थान दिया जाता है, अध्यात्मवादी देश भारत में उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

खाद्य-पदार्थ और दवा तक में मिलावट जैसी बात पश्चिम में सोची तक नहीं जा सकती जबकि भारत में यह आम बात है।

दक्षिण अफ्रिका के रंग-भेद का हम घोर विरोध करते हैं, पर हमारे देश में जातिगत भेद वहाँ से कई गुना ज्यादा है। हर वर्ष साम्प्रदायिक और जातीय दंगों में जितने लोग हमारे देश में मारे जाते हैं, दुनिया के तमाम देशों को मिला कर भी इतने लोग जातीय और साम्प्रदायिक दंगों में नहीं मारे जाते।

लन्दन में हिन्दू और मुसलमान एक साथ एक मकान में अच्छे पड़ोसी की तरह रह सकते हैं। पर भारत में यह संभव नहीं।

हमें यथार्थ को स्वीकार कर अतीत से चिपके रहने की आदत छोड़नी होगी। यह बात हिन्दू, मुसलमान, सिख सभी पर लागू होती है।

हिन्दू चूँकि विशाल बहुमत में है इसलिए उनका यह विशेष दायित्व हो जाता है कि वे अतीत के नाम पर अपने को श्रेष्ठ समझने की भावना को उभार कर दूसरे समुदायों से अलग होने की चेष्टा न करें। जिस हजारों वर्षों की हिन्दू संस्कृति के नाम पर साम्प्रदायिकता को उभारा जा रहा है, वह संस्कृति कभी एक समान नहीं रही। बराबर परिवर्तनशील रही।

वैदिक संस्कृति से महाभारत काल की संस्कृति में भारी अन्तर है। रामा-

यण काल की संस्कृति महाभारत से अलग है। जहाँ तक रामायण का प्रश्न है अलग-अलग भाषा के कवियों ने अपने ढंग से रामायण लिखी है जिनमे घटनाओ मे भी काफी अन्तर पाया जाता है। पुराणो और स्मृतियाँ मे जो कुछ है, आज उसे लागू किया जाना एकदम असभव है। ब्राह्मणो के वर्चस्व ने हिन्दू जाति को आपस मे इस कदर बाट दिया कि हिन्दू जाति मे ही एक जाति से दूसरी जाति के बीच विभेद की दीवार खड़ी हो गई।

तो हम किस हिन्दू पुनरुत्थानवाद की बात करते हैं ? इस तरह के पुनरुत्थान-वाद की चर्चा अलगाववाद को प्रश्रय देती है। आज आवश्यकता किसी प्रकार के पुनरुत्थानवाद की नहीं बल्कि मानवीय मूल्यो एव वसुधैव कुटुम्बकम के सिद्धान्त पर आधारित राष्ट्रीयता की है।

श्रेष्ठता का दंभपूर्ण दावा कर कोई भी जाति या सम्प्रदाय एकता मे सहायक नही बन सकता। जिस तरह अमरीका का नागरिक पहले अमरीकी, रूस का नागरिक पहले रूसी और फ्रांस का नागरिक फ्रांसीसी है, उसी तरह भारत के हर नागरिक को यह तय कर लेना चाहिए कि वह पहले भारतीय है। यह बात भारत के रहने वाले हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई सभी पर समान रूप से लागू होता है। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि राष्ट्र की संपत्ति एवं साधनो पर सभी का अधिकार हो और उनका न्यायोचित बंटवारा हो। घोर विषमता राष्ट्रीय एकता मे बहुत बड़ी बाधा है। इस यथार्थ को हम जितना शीघ्र स्वीकार कर लें, उतना ही राष्ट्र के लिए हितकर होगा।

अब जरूरत इस बात की है कि हम अपनी हिन्दुस्तानी पहचान बनाये रखते हुए दकियानूसी रूढ़िवादी परम्पराओ को तिलाजलि दे तथा समस्त धर्मों, जातियो के लोगों को एक पारिवारिक सूत्र मे बाधे। मजहब की वे चीजें, वे रूढ़िगत रीति-रिवाज जिनका मजहब मे कोई वास्ता नहीं, जो आज के परिवेश मे अप्रासगिक हो गये है तथा जो हमारी तरक्की मे बाधक बने हुए है, हमे इन सबको एकदम तिलाजली दे देनी चाहिए। जो चीजें इंसान को इंसान से जुदा करती है, हमें बेहिचक उनको नकारना चाहिए। हमारी दृष्टि, जो धर्म की वजह से सकुचित हो गयी है; उसे हमें विशाल बनाना चाहिए। मानव हितार्थ, मानव मूल्यों पर आधारित हमारा सोच होना चाहिए।

जब हम हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते हैं, तब हम मूलभूत प्रश्नो को ताक पर रख देते है और सतही हल खोजने की कोशिश करते है। हम सच्चाई से इसलिए मुँह मोड़ते हैं क्योंकि सच्चाई का सामना करने की हममे हिम्मत नही। हम सच कह कर किसी सम्प्रदाय को नाराज नही करना चाहते।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या का हल तब ही हो सकता है, जब हम सही

बात को दृढ़ता और ईमानदारी से रखें। किसी भी सम्प्रदाय को तुष्ट करने या किसी प्रकार की लीपा-पोती की चेष्टा न करें।

सही बात एक बार कड़वी लगेगी। लेकिन सही बात से ही सही हल निकलेगा।

मुसलमानों को यह समझ लेना चाहिए कि भारत उनका अपना देश है और वे पहले भारतीय है, फिर कुछ और।

दुर्भाग्य से मुसलमान अपने आप को इस देश के साथ पूरी तरह जोड़ नहीं पा रहे। तभी तो भारत और पाकिस्तान में क्रिकेट या हाकी मैच होता है और पाकिस्तान जीतता है तो वे खुश होते हैं और खुशी का सार्वजनिक प्रदर्शन करते हैं। पर जब भारत जीतता है, तो वे गम मनाते हैं।

धार्मिक कठमुल्लापन मुसलमानों में सबसे ज्यादा है। इसलाम के नाम पर चाहे गलत हो या सही, वे उन्मादी हो उठते हैं। इस प्रसग में कुछ उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

कुछ दिन हुए भागलपुर विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर ने इतिहास की एक पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने इतिहासकार हक्सले का उद्धरण उद्धृत किया था। उस उद्धरण में पैगम्बर मोहम्मद के चरित्र को लेकर आलोचना छपी थी। मुसलमानों ने उस पुस्तक के विरुद्ध आन्दोलन किया और बिहार सरकार ने मुसलमानों के इस आन्दोलन के सामने घुटने टेक दिये। पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगा दिया। लेकिन मुसलमान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने लेखक की गिरफ्तारी की माग भी की। पर चूंकि लेखक ने पटना हाईकोर्ट से अग्रिम जमानत ले रखी थी, इसलिए गिरफ्तारी से बच गये।

लेकिन 'बोया पेड़ बबूल का' पुस्तक के लेखक बिहार के ही महावीर प्रसाद अकेला की पुस्तक भी जब्त की गई और उन्हें गिरफ्तार भी होना पड़ा। उनका दोष यही था कि उन्होंने अपनी पुस्तक में पैगम्बर मुहम्मद की आलोचना की थी। पटना उच्च न्यायालय के जिस न्यायाधीश ने अकेला को जमानत पर छोड़ा उनकी हत्या करने की नाकाम कोशिश तक एक मुसलमान ने की।

मुसलमान इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सकते कि हिन्दुओं का धार्मिक जुलूस मस्जिद के सामने से बाजा बजाते हुए जाय। जब भी ऐसा हुआ है, मुसलमानों की ओर से धार्मिक जुलूस पर आक्रमण किया गया है और दंगे हुए हैं। अपनी धार्मिक भावना का इतना खयाल रखने वाले मुसलमान ईद और बकरीद के मौके पर जब गाय काटते हैं, तब वे भूल जाते हैं कि इससे वे हिन्दुओं की धार्मिक भावना पर आघात पहुँचाते हैं।

१९६५ में माया में एक कहानी छपी थी। उसमें एक पात्र था, कुत्ता जिसका लेखक ने मोहम्मद नाम रख दिया था। इसको लेकर कलकत्ता में मुसलमानों ने

हिंसात्मक प्रदर्शन किये, जिसमें पुलिस की गोली से पाच लोग मारे गये। सरकार ने माया के उस अंक पर प्रतिबन्ध लगा दिया, पर मुसलमानों का गुस्सा इससे शान्त नहीं हुआ। इस घटना के दो वर्ष पश्चात् १९६७ के चुनाव में कांग्रेस के विरुद्ध मत देकर मुसलमानों ने अपने गुस्से का इजहार किया।

हिन्दुस्तान के मुसलमान नसबंदी को अधार्मिक मानते हैं, जबकि बगलादेश में नसबंदी लागू है। बढ़ती हुई आबादी को देखते हुए राष्ट्रीय हित में नसबंदी आवश्यक है। १९७७ में आपात्काल के दौरान जब मुसलमानों मे नसबंदी की गई तो कई जगह उसका हिंसात्मक विरोध किया गया। १९८० के लोकसभा चुनाव मे नसबंदी की वजह से मुसलमानों ने एकजुट होकर काग्रेस के विरोध मे मत दिया।

हर देश का अपना कानून होता है, जो सभी नागरिको पर समान रूप से लागू होता है। पर भारत इस मामले में अपवाद है। आज भी भारतीय मुसलमान को चार पत्नियां रखने की छूट है और वह तीन बार 'तलाक' 'तलाक' 'तलाक' कह कर ही तलाक दे सकता है। जबकि मुस्लिम देश पाकिस्तान में राष्ट्रपति अयूब के शासनकाल मे कानून बना कर मुसलमानो में चार विवाह करने पर पाबन्दी लगा दी गई। पर भारत में मुसलमानों के दबाव की वजह से सरकार 'मुस्लिम पर्सनल ला' मे परिवर्तन करने की हिम्मत नहीं कर पा रही।

हिन्दुओं के लिए १९५५ में कट्टरपंथी हिन्दुओं के विरोध के बावजूद 'हिन्दू कोड बिल' बनाया गया, जो आज जारी है और हिन्दू समाज इससे लाभान्वित हुआ है।

होली के त्यौहार के अवसर पर अगर कोई गलती से भी मुसलमान पर रंग छिड़क दे तो दंगा भड़क उठता है। क्योकि मुसलमानों की ऐसी मान्यता है कि रंगों का त्योहार उनके धर्म के विरुद्ध है।

इस्लाम धर्म मे जितनी कट्टरता है वह अन्यत्र कहीं नही मिलेगी। मुसलमानों के धार्मिक ग्रन्थ कुरान शरीफ में खुदा और कुरान शरीफ में यकीन न रखने वालो को काफिर बताया गया है। काफिरो को मारना व सताना जायज बताया गया है। इनके दूसरे धार्मिक ग्रन्थ 'हदीश' मे गाय काटना पुण्य कार्य बताया गया है। कुरान शरीफ में कई जगह दूसरे धर्मावलम्बियों के विरुद्ध जहर उगला गया है। आम मुसलमान इन बातो के प्रति गहरी आस्था रखता है और इनका पालन करना अपना धर्म समझता है।

मुसलमानो की वजह से ही धार्मिक आधार पर भारत का विभाजन हुआ।

मुसलमानों मे सबसे ज्यादा अशिक्षा और जहालत है जिसका भरपूर लाभ मुस्लिम नेतृत्व अपने स्वार्थ के लिए उठाता रहा है। मुसलमानो की धार्मिक

कट्टरता को बनाये रखने में मुस्लिम नेतृत्व के अलावा तमाम राजनीतिक दल भी कम दोषी नहीं, जिन्होंने अपने राजनीतिक हितों के लिए मुसलमानों के धार्मिक उन्माद व कठमुल्लेपन का विरोध नहीं किया।

मुसलमान अपने ही दोषों के कारण हिन्दुओं से कटे हुए हैं। और इससे उन्हें खुद भी भारी नुकसान उठाना पड़ा है। कठमुल्लेपन के कारण ही वे आधुनिक शिक्षा से वंचित हैं और प्रगति की होड़ में पिछड़े हुए हैं।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच नफरत की भावना बहुत गहरी है। यह सही है कि ब्रिटिश शासन के पहले कई मुस्लिम शासकों ने हिन्दू धर्म पर तरह-तरह के आघात किये, हिन्दुओं पर अत्याचार किया, यहाँ तक कि हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाया गया। मन्दिरों व मूर्तियों को तोड़ा व लूटा गया, मन्दिरों के स्थान पर मस्जिदें बनाई गई, लेकिन इन सबके बावजूद आम हिन्दू व आम मुसलमान के सम्बन्ध सामान्य व सौहार्दपूर्ण रहे। उनमें आपस में दंगे-फसाद नहीं हुए क्योंकि शासक-वर्ग का अत्याचार शासक-वर्ग का माना जाता था न कि मुसलमानों का।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दू शासकों ने भी मन्दिरों को तोड़ा। ११वीं सदी में कश्मीर के राजा हर्षवर्द्धन ने बड़ी संख्या में मन्दिरों को तोड़ा और लूटा था। टीपू सुल्तान के समय मराठों ने कर्नाटक स्थित हिन्दुओं के धार्मिक स्थान 'श्रृंगेरी मठ' को लूटा और वहाँ तोड़-फोड़ की। टीपू सुल्तान ने मठ के शंकराचार्य के आवेदन पर न केवल मराठों को खदेड़ा बल्कि मठ के पुनर्निर्माण के लिए काफी धनराशि दी।

इसके पहले हिन्दू शासकों ने व्यापक स्तर पर बौद्ध-मठों एवं जैन मन्दिरों में तोड़-फोड़ कर उन्हें लूटा था।

भारत की स्वतंत्रता के बाद प्राचीन मन्दिरों से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उखाड़ कर हिन्दुओं ने जितनी बड़ी संख्या में तस्करी कर विदेश में मूर्तियां बेच दी हैं उसके मुकाबले मूर्ति-भंजक मुस्लिम शासक बहुत पीछे छूट गये।

लेकिन अंग्रेजों ने और स्वतंत्रता के बाद हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों ने मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं की इस भावना को जोर से उभारा कि मुस्लिम शासक और मुसलमानों ने ही हिन्दुओं के मन्दिर तोड़े, मूर्तियां तोड़ीं और मन्दिर लूटे।

हर साल लाखों तीर्थ यात्री अयोध्या में राम के मन्दिर के पास, मथुरा में कृष्ण मन्दिर के पास और वाराणसी में काशी विश्वनाथ के मन्दिर के पास मुस्लिम शासकों द्वारा मन्दिरों के स्थान पर बनाई गई मस्जिदें देखते हैं, तो वे आम मुसलमानों के प्रति गुस्से व नफरत की भावना लेकर लौटते हैं। उन्हें इतिहास की जानकारी नहीं होती। उनमें ९० प्रतिशत निरक्षर होते हैं।

सीधे-सादे व भोले होते हैं। इसलिए उनके धार्मिक अन्धविश्वास को मुसलमानों के विरुद्ध धार्मिक उन्माद मे आसानी से बदला जा सकता है और बदला जा रहा है।

जब तक ये मस्जिदे इस रूप मे विद्यमान रहेंगी, तब तक दोनों समुदायों के बीच कड़ुवाहट बनी रहेगी।

ब्रिटिश शासकों ने जहाँ एक तरफ साम्प्रदायिकता को जन्म दिया वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश शासन ने आधुनिक राष्ट्रीयता को भी जन्म दिया। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम ब्रिटिश शासकों के खिलाफ राष्ट्रीयता की एक ऐसी लहर उठी, जिसने ब्रिटिश साम्राज्य को हिला दिया। अंग्रेजो को भारत से निकालने के प्रश्न पर सारा देश एकमत था। देश को आजाद कराने के लिए हजारों लोगों ने फांसी का तख्ता चूमा, गोलियाँ खाई। लाखों लोगों ने जेल की यातनाएँ सही। मुसलमानों के एक तबके के द्वारा भारत में अलग पाकिस्तान की मांग के बावजूद सारे देश पर स्वतन्त्रता के दौरान राष्ट्रीय भावना हावी रही थी।

विभाजन के बावजूद जब देश स्वतंत्र हुआ तब यह समझा गया था कि देश न केवल विदेशी दासता से मुक्त हुआ है, बल्कि साम्प्रदायिकता से भी उसे मुक्ति मिल गई है। कांग्रेस के नेताओं ने यही कह कर विभाजन स्वीकार किया था कि मुसलमानों की यह माग मान लेने के बाद भारत में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं रहेगा। यही कारण था कि संविधान-निर्माताओं ने संविधान के मूल उद्देश्यों में धर्म-निरपेक्षता को शामिल किया।

पर भारत को स्वतंत्र हुए अधिक दिन नहीं हुए कि साम्प्रदायिकता ने पुनः अपने पर फैलाने शुरू कर दिये। स्वतंत्रता के पूर्व जो राजनीतिक शक्तियाँ साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लड़ती रहीं, अब वे ही शक्तियाँ साम्प्रदायिक तत्वों को हवा देने लगी। हमारे राजनीतिक नेताओं ने विभाजन से कोई सबक नहीं लिया। अंग्रेजो ने जिस 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के तहत शासन किया, उसी नीति के मूल मंत्र को हमारे देश के सत्ताधारियों ने स्वयं अपना लिया। सत्ताधारी ही क्यों विरोधी दल भी इस मामले में पीछे नहीं रहे। लगभग सभी राजनीतिक दल वोट पाने के लिए साम्प्रदायिक तत्वों की मदद लेकर साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देते रहे हैं।

विभाजन की वजह से जो मुस्लिम साम्प्रदायिक दल देश की राजनीति में अछूत हो गये थे, वे ही आजादी के कुछ वर्ष बीतते न बीतते पुनः सर उठाने लगे। शीघ्र ही उन्होंने भारतीय राजनीति में अपना प्रतिष्ठित स्थान बना लिया।

क्या विडम्बना है कि स्वतन्त्र भारत में राष्ट्रीयता के स्थान पर साम्प्रदायिकता हावी होती गई। आज देश की बागडोर परोक्ष रूप से साम्प्रदायिक तत्वों के हाथ में है। इन सबका नतीजा यह हुआ कि ऊपर से देश भले ही एक हो, भीतर से टुकड़ों में बंटा हुआ है। लोगों के दिल बंटे हुए हैं।

यह प्रकट तथ्य है कि मुस्लिम बहुल इलाके से मुस्लिम उम्मीदवार ही जीतेगा चाहे वह भारतीय जनता पार्टी जैसे हिन्दुवादी साम्प्रदायिक दल की टिकट पर ही क्यों न खड़ा हो (१९८३ में दिल्ली प्रशासन के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी के मुस्लिम उम्मीदवार बड़ी संख्या में जीते थे)।

जिस केरल में इतिहास में पहली बार कोई कम्युनिस्ट पार्टी चुनाव में जीत कर सत्ता में आई थी, उसी केरल में आज अधिकांश दल या तो साम्प्रदायिक हैं या फिर साम्प्रदायिक दलों से गठबन्धन किये हुए हैं। केरल की एक मुस्लिम लीग कांग्रेस (इ) के साथ गठबन्धन में शामिल है, तो दूसरी मुस्लिम लीग मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के गठबन्धन में शरीक थी (१९८५ में शरीयत के प्रश्न पर मुस्लिम लीग एक हो गई और कांग्रेस के साथ गठबंधन में शामिल हो गयी।) आज स्थिति यह है कि साम्प्रदायिक दलों के सहयोग के बिना वहां कोई भी दल सरकार नहीं बना सकता।

यही स्थिति कमोबेश हर प्रदेश की है। १९८३ में जम्मू-कश्मीर के चुनाव में जम्मू के हिन्दुओं ने कांग्रेस (इ) को वोट दिये तो कश्मीर घाटी के मुसलमानों ने फारुख अब्दुल्ला की पार्टी नेशनल कान्फ्रेंस को वोट दिये। तमिलनाडु में कोई भी राष्ट्रीय दल अपने बल-बूते पर चुनाव जीतने की हैसियत नहीं रखता।

हमारे देश के राजनेताओं ने किस तरह देश का बेड़ा गर्क किया है, उसका सबसे ताजा उदाहरण आन्ध्र और पंजाब है। आन्ध्र हमेशा से ही राष्ट्रीय दलों का गढ़ रहा। किसी जमाने में यह कम्युनिस्टों का गढ़ था। चुनाव में हमेशा राष्ट्रीय मुद्दों के आधार पर मतदाताओं ने वोट दिये। लेकिन १९८३ में एक क्षेत्रीय दल तेलगुदेशम ने क्षेत्रीय भावना उभार कर भारी बहुमत प्राप्त किया।

पंजाब भी, जो हमेशा ही राष्ट्रीयता का गढ़ रहा और जिस प्रदेश के लोगों ने विशेष कर सिखों ने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, आज वही पंजाब राजनीतिक नेताओं की अदूरदर्शिता की वजह से हिन्दू और सिखों में बंटा हुआ है।

आसाम का भी यही हाल है। ऐसा कोई और प्रदेश नहीं जहां साम्प्रदायिकता हावी न हो।

स्वतन्त्रता के बाद जिस राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण

होना चाहिए था, वही नही हुआ । आज कोई हिन्दू है, कोई मुसलमान, कोई बंगाली, कोई मद्रासी, कोई बिहारी, कोई ब्राह्मण, कोई राजपूत, कोई हरिजन । भारत और भारतीय कही नजर नही आते । हम भाषणो में भले ही राष्ट्रीयता की बातें करें, लेकिन कर्म मे राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव होता है ।

चाहे कोई उद्योग-धन्धा हो या व्यापार या सरकारी दफ्तर, हर जगह मुसलमान मुसलमान को, बंगाली बंगाली को गुजराती गुजराती को प्राथमिकता देता है । और तो और, केन्द्रीय मंत्रीगण एवं केन्द्र के विभागीय सचिव तक अपने प्रदेश और उसमें भी अपनी जाति विशेष के लोगो को नौकरी मे प्राथमिकता देते है ।

एक कहावत है *'यथा राजा तथा प्रजा'* । आज के संदर्भ मे बहुत ही सटीक है यह । जब राजा यानी शासक ही साम्प्रदायिकता से ग्रसित हो, तो आम जनता तो होगी ही ।

जवाहरलाल नेहरू ने जिस अनेकता मे एकता की बात कही थी, वह लगता है, इतिहास की बात होती चली जा रही है, और इस स्थिति की सारी जिम्मेदारी देश के राजनीतिक नेतृत्व को है ।

राष्ट्रीयता की जब हम बात करते है, तो हमें एक बात का खास तौरसे खयाल रखना चाहिए कि राष्ट्रीयता कही हमे फासीवाद की तरफ न ले जाय । यह खतरा तब पैदा होता है, जब हम राष्ट्रीयता को कट्टरता और उग्रवाद की ओर ले जाते है । राष्ट्रीयता से हमारा मतलब संकुचित राष्ट्रीयता से नहीं है । उग्र, कट्टर और संकुचित राष्ट्रीयता का सहारा लेकर ही हिटलर ने दुनिया मे कहर ढाया था ।

उग्र राष्ट्रीयता आम आदमी के मसलों को हल करने के बजाय, उनमे राष्ट्र के प्रति उन्मादपूर्ण अहंकार की भावना पैदा करती है जो अन्ततोगत्वा विनाश की ओर ले जाती है ।

अन्तर्राष्ट्रीयता का राष्ट्रीयता से गहरा सम्बन्ध है । राष्ट्रीय-स्वाभिमान के साथ वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना भी होनी चाहिए, तभी विश्व मे शान्ति रह सकती है और मानवीय विकास की प्रगति की धारा को बरकरार रखा जा सकता है ।

हमारे देश के कर्णधारों ने जाने-अनजाने राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीय स्वाभिमान की दिशा में ठोस और सही कदम नही उठाये । यही कारण है कि ३७ वर्षों की स्वतत्रता के बाद देश मे बिखराववादी और अलगाववादी शक्तिया ज्यादा मजबूत हुई है और देश की अखण्डता के सामने गम्भीर चुनौतियो के रूप में खडी है ।

हमारे देश के कर्णधार एक ऐसी व्यवस्था को जन्म नहीं दे पाये, जो अपने आप में राष्ट्रीय अखण्डता की गारण्टी होती। इसका सबसे खतरनाक परिणाम यह हुआ है कि हम देश के वर्तमान और भविष्य को किसी व्यक्ति विशेष से जोड़ने लगे हैं। अगर राष्ट्रीयता की जड़ें मजबूत हों तो हम यह न कहते कि फलां नेता जब तक है, तभी तक देश सुरक्षित है। किसी भी देश के लिए इससे ज्यादा असहायपूर्ण और दयनीय स्थिति और क्या हो सकती है कि वह किसी व्यक्ति विशेष पर इस कदर निर्भर करने लगे कि उसके बाद देश का भविष्य ही अन्धकारपूर्ण नजर आने लगे !

आज रूस, ब्रिटेन, अमरीका आदि देशों के सामने इस तरह के प्रश्न पैदा नहीं होते। क्योंकि उनकी व्यवस्था ही राष्ट्रीय एकता की गारंटी है। न जाने कितने राजनेता आये और चले गये, लेकिन इन देशों में भविष्य के प्रति इस तरह की चर्चा नहीं होती।

रूस को ही लें, लेनिन और स्तालिन जैसे महान व्यक्तियों के बाद भी सोवियत रूस का भविष्य आज भी उतना ही सुरक्षित है, जितना उनके वक्त था। सोवियत रूस की सुरक्षा और अखण्डता की गारंटी वहां की पुख्ता समाजवादी व्यवस्था है, न कि कोई व्यक्ति विशेष।

भारत न केवल ७० करोड़ की आबादी का एक विशाल देश है, बल्कि दुनिया की प्राचीनतम संस्कृति और शानदार परम्पराओं का देश भी है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में भारत का एक विशिष्ट स्थान है। तृतीय विश्व के देशों के नेतृत्व का श्रेय भारत को भी है। वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र में भी अच्छी खासी प्रगति की गई है। स्वतंत्रता के बाद से अब तक जनतांत्रिक ढांचे को बरकरार रखा गया है। विश्व के कोने-कोने में आपको भारतीय मिलेंगे और अच्छी हालत में मिलेंगे। अमरीका, ब्रिटेन जैसे विकसित देशों में भी विज्ञान, चिकित्सा, उद्योग एवं व्यापार के क्षेत्र में प्रवासी भारतीयों ने महत्वपूर्ण स्थान व प्रतिष्ठा हासिल कर रखी है।

आखिर क्या वजह है कि हम अपने देश में राष्ट्रीय चरित्र और राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना नहीं पैदा कर पाये और देश को ऐसी मजबूत आधारशिला नहीं दे पाये, जो अखण्डता की गारंटी होती?

दरअसल प्रारम्भ में देश के कर्णधारों ने कुछ मूलभूत गलतियां कर दीं, जिनका नतीजा हम आज भुगत रहे हैं।

क्या यह अजीब बात नहीं है कि हम अपने देश को अपना नाम तक नहीं दे पाये? विदेशों में हमारे देश की पहचान इण्डिया के रूप में है, भारत के रूप में नहीं। क्या यह उचित नहीं होता कि स्वतंत्रता के तुरन्त बाद अपने देश का एक

ही नाम रखते ? पर हमने ब्रिटिश शासकों द्वारा दिया नाम इण्डिया और उसके साथ भारत—दो नाम रखे। इण्डिया हमारी गुलाम मनोवृत्ति का परिचायक है। इस तरह का उदाहरण दुनिया में और कहीं शायद ही मिले।

इस संदर्भ मे एक उदाहरण देना जरूरी समझता हूँ। जिम्बाबवे का पुराना नाम रोडेशिया था, जो अंग्रेज शासकों का दिया हुआ था। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद वहाँ की स्वतन्त्र सरकार ने पहला काम यह किया कि गुलामी का प्रतीक नाम रोडेशिया दफन कर, उस देश को अपना नाम दिया—जिम्बावबे। केवल दस वर्ष के अर्से मे वहाँ के ही नही दुनिया के भी लोग भूल गये कि कभी रोडेशिया नाम का कोई देश था। अब जिम्बाबवे को लोग जिम्बावबे के नाम से ही जानते हैं।

एक बुनियादी गलती हमने भाषा के सवाल पर की। हमारे राजनेताओं ने देश को अपनी भाषा न देकर एक विदेशी भाषा—अंग्रेजी थोप दी, जिसको ३०० वर्षों के ब्रिटिश शासन और उसके बाद ३७ वर्षों के स्वदेशी शासन के बावजूद मुश्किल से दो प्रतिशत लोग ही जानते हैं। हिन्दी को आसानी से सम्पर्क-भाषा बनाया जा सकता था। अगर हिन्दी सम्पर्क-भाषा बनती तो अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को भी लाभ होता। राष्ट्रीय एकता को बल मिलता। पर ऐसा नही हो पाया। संविधान में हिन्दी के राजभाषा बनाने की बात शामिल की गई, पर उसके साथ एक गलत निर्णय यह ले लिया गया कि १५ वर्षों की अवधि में इसे राजभाषा का दर्जा दिया जायेगा। पर १५ तो क्या ३७ वर्ष बीत गये यह आज तक सम्भव नहीं हो पाया। दरअसल यह काम तो तत्काल होना था।

हिन्दी और भारतीय भाषाओं के पिछड़ेपन की जो बात करते है, वे यह भूल जाते हैं कि हिब्रू जैसी मृत भाषा आज इजरायल की राजभाषा है। चीनी जैसी अवैज्ञानिक और क्लिष्ट भाषा आज चीन की राजभाषा है। छोटे-छोटे देशों की भी अपनी भाषा है।

अक्टूबर क्रान्ति से पहले रूस के अभिजात्य वर्ग में फ्रेन्च और अंग्रेजी का वर्चस्व था। रूसी को गंवारों की भाषा कहा जाता था। इसके अलावा एशिया से यूरोप तक फैले विशाल भू-भाग वाले रूस मे रूसी के अलावा भी १४ प्रमुख भाषाएँ थी। छोटी-छोटी भाषाएँ और बोलियां तो १०० के करीब थीं। क्रान्ति के तुरन्त बाद लेनिन ने रूसी को सम्पर्क भाषा का दर्जा दिया तथा स्थानीय प्रशासन मे स्थानीय भाषाओं को प्रमुखता दी। जहाँ तक भाषाओं के विकास का सवाल था, सभी को समान रूप से विकास का अवसर दिया। आज वहाँ भाषा की कोई समस्या नही। हर नागरिक अपनी स्थानीय भाषा के अतिरिक्त रूसी जरूर जानता है। क्रान्ति के पूर्व जो भाषाएँ पिछड़ी हुई थीं, जिनका

कोई साहित्य नहीं था, प्रशासन मे जिन भाषाओ का कोई स्थान नहीं था, आज उन भाषाओं का अपना समृद्ध साहित्य है। प्रशासन मे उनका प्रयोग हो रहा है। विज्ञान की शिक्षा भी उन्हीं भाषाओ मे दी जाती है। आज वे तमाम भाषाएँ पूर्ण रूप से विकसित और समृद्ध हैं, जो कभी घोर उपेक्षित थी।

यह काम भारत मे भी हो सकता था। लेकिन हमारे राजनेताओं मे स्पष्ट दृष्टि का अभाव था। दृढता की कमी थी। लिहाजा भाषा की समस्या ज्यों की त्यों बिना सुलझे रह गई।

मुट्ठी भर अंग्रेजी जानने वालों की साजिश से यह सब हुआ। ये थोड़े से वे लोग थे, जिनका प्रशासन में बोलबाला था और राजनीतिक नेतृत्व भी इनके हाथ में ही था।

हिन्दी के विरुद्ध उन्माद की सीमा तक लोगों की भावना को उभार कर दक्षिण के राजनेताओ ने राष्ट्र की तो क्षति की ही दक्षिण की भाषाओं का भी अहित किया।

एक बहुत ही गलत प्रचार यह किया जाता है कि तमिलनाडू में अधिक लोग अंग्रेजी जानते है। पहली बात तो यह है कि तमिलनाडू मे साक्षरता ३०% है और उसमे अंग्रेजी जानने वाले मुश्किल से दो प्रतिशत हैं। जिस प्रदेश मे अंग्रेजी जानने वालों का प्रतिशत इतना कम हो वहाँ ज्यादातर लोगो के अंग्रेजी जानने की बात क्या भ्रामक और मिथ्या नही ?

इस लेखक का स्वयं का अनुभव भी यही है कि तमिलनाडू मे लोग किसी तरह हिन्दी समझ लेते है। तीर्थ-स्थलो मे और शहरों में अधिकाश लोग हिन्दी समझते है। अंग्रेजी से कई गुना ज्यादा। गाँवों में जहाँ लोग हिन्दी नहीं समझते, वहाँ अंग्रेजी भी नहीं समझते।

हम तमिलनाडू की ही बात क्यों करें? बंगाल मे हिन्दी-विरोध कम नही हुआ, जबकि बंगला और हिन्दी एक दूसरे के बहुत ही करीब है। ८० प्रतिशत शब्द दोनो भाषाओ मे समान है। दोनों भाषाओ की जननी संस्कृत है। पर लड़ानेवालो ने बंगला और हिन्दी को भी आपस मे लड़ा दिया। सबसे दुःख की बात यह रही कि डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या जैसे प्रतिष्ठित भाषाविद् ने भी बंगला और हिन्दी के बीच दूरी बढ़ाने में मदद की।

आज पंजाब में यही हो रहा है। हिन्दी और पंजाबी की जननी संस्कृत है। पंजाबी की लिपि नागरी लिपि का ही एक रूप है। बोली भी एक दूसरे के काफी नजदीक है। दोनो भाषाओ मे इतना मेल होते हुए भी राजनीतिज्ञों ने इन भाषाओ को एक दूसरे से दूर कर दिया। दरअसल २० वीं सदी के प्रारम्भ मे आर्यसमाजियो द्वारा उर्दू के विरुद्ध एक मुहिम चलाई गई थी। उस

वक्त पूरे पजाव की लिपि उर्दू थी। हिन्दी और पंजाबी में एक भी पत्र नहीं निकलता था। हिन्दू साम्प्रदायिकता के उभार से वहाँ भाषा के सवाल पर मत-भेद शुरू हुए। बाद में अकालियो द्वारा पंजाबी को गुरुमुखी कह कर उसे धार्मिक लिबास ओढ़ा दिया गया। जिसका नतीजा यह हुआ कि पंजाब के हिन्दुओं ने आर्यसमाजियो तथा अन्य साम्प्रदायिक तत्वो द्वारा उकसाये जाने पर अपनी ही मातृभाषा पंजाबी का विरोध करना शुरू कर दिया।

इस प्रकार भाषाओ मे आपस मे दूरी बढाई गई और भारतीय भाषाओं की आपसी दूरी का परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी सबके सिर पर चढ़ कर बैठ गई। इसका अलगाववादी तत्वों ने भरपूर लाभ उठाया और उठा रहे हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को जबरदस्त धक्का लगा है।

जिस देश मे मूल्यहीनता को प्रमुखता मिलने लगतीहै, आदर्शों और सिद्धान्तों को केवल कथनी तक सीमित कर दिया जाता है, राष्ट्रीय चरित्र मे गिरावट आने लगती है, मानवीय मूल्यों को तिलांजली दे दी जाती है, उस देश में एक वक्त ऐसा आता है, जब हर क्षेत्र मे अराजक स्थिति पैदा हो जाती है। भटकाव-वादी तत्व उभर कर सामने आने लगते हैं। इन सब का लाजमी नतीजा यह होता है कि क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिक, भाषा व जातिगत और धार्मिक तत्व सर उठाने लगते हैं, जो इंसान को इंसान से जोड़ने के बजाय अलग करते हैं। यही राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा पैदा होने लगता है। और आज हमारे देश मे यही स्थिति उत्पन्न हो गई है।

अगर लच्छेदार भाषणो और गगनभेदी नारो से राष्ट्रीय एकता होती तो कभी की हो गई होती। इसके अलावा और हुआ ही क्या? देश का राज-नीतिक नेतृत्व—चाहे वह सत्ता पक्ष का हो या विरोधी पक्ष का, और देश का बौद्धिक वर्ग भी इस दिशा मे अभी तक एकदम निकम्मा साबित हुआ है। इन लोगो ने राष्ट्रीय एकता की दिशा में जितने तथाकथित प्रयास किये, असर ठीक उसका उलटा हुआ, क्योंकि उनमें ईमानदारी नही थी, दिखावा था। अगर हम क्षेत्रीय दलों को राष्ट्रीय एकता के लिए खतरा न भी मानें, तब भी जिस परिमाण में आज हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे हैं, विदेशियो को निकालने के नाम पर आसाम मे जो कुछ भी हो रहा है, सिखो के नाम पर पजाब मे अकाली दल और भिंडरावाला ने जो कुछ किया, वह विघटन की प्रक्रिया नही तो और क्या है?

कौन ऐसा राजनीतिक दल है, जो चुनाव मे धर्म, जाति और सम्प्रदाय का सहारा नही लेता? मुस्लिम बहुल क्षेत्र मे मुस्लिम उम्मीदवार खडा करना, हिन्दू बहुल क्षेत्र मे हिन्दू उम्मीदवार खडा करना, जाति के आधार पर

उम्मीदवार खड़ा करना, यह सब क्या आज हमारी राजनीति का अभिन्न अंग नहीं बन गया है ? कौन सा ऐसा दल है, जो इस अपराध में लिप्त नहीं है ?

फिर किसका राष्ट्र, कौन सा राष्ट्र और किसके के लिए राष्ट्रीय एकता ? सत्तर प्रतिशत लोगों को इन्सानी जिन्दगी जीने के अधिकार से वंचित कर हम कौन सी राष्ट्रीय एकता चाहते हैं ? जिस देश में मुट्ठी भर लोग निकृष्ट से निकृष्ट, भ्रष्ट आचरण अपना कर समाज और देश की कीमत पर सम्पन्न और सम्मानित जिन्दगी व्यतीत करें वहां राष्ट्रीय एकता की बात सोची भी कैसी जा सकती है ? जब तक राष्ट्र के सत्तर करोड़ लोगों को राष्ट्रीय धन-सम्पदा पर समान अधिकार हासिल नहीं होता, एवं उन्हें विकास के समान व समुचित अवसर सुलभ नहीं होते, तब तक राष्ट्रीय एकता सम्भव नहीं । एकता के सबसे बड़े शत्रु वे मुट्ठी भर लोग हैं, जो राष्ट्र में उपलब्ध अपार धन-सम्पदा और प्रचुर साधनों पर उद्यम नहीं तिकड़म से कब्जा जमाये बैठे हैं । इनमें राजनीतिज्ञ भी हैं, अफसर भी हैं, व्यापारी भी हैं ।

जैसा कि हम पहले ही लिख चुके हैं राजनीतिक नेतृत्व इस दिशा में निकम्मा साबित हुआ है । राष्ट्रीय स्तर के दलों के नेता राष्ट्रीय एकता की दिशा में आज तक कोई जागरुक जनमत तैयार नहीं कर पाये । जैसे हल्के से तूफान में सूखे पत्ते उड़ जाते हैं वैसे ही धार्मिक व क्षेत्रिय उन्माद के सामने तथाकथित राष्ट्रीय दल और उनके नेता नहीं टिक पाते ।

राष्ट्रीय एकता के लिए जरूरी है कि हम मजहब को परे रख कर राष्ट्रीय चरित्र को प्रमुखता दें । राष्ट्र से हमारा मतलब जन-गण से है, न कि सुविधा सम्पन्न मुट्ठी भर लोगों से । राष्ट्रीय हित राष्ट्र के तमाम लोगों के हित से जुड़ा होना चाहिए । सामाजिक न्याय को स्थापित किये बिना राष्ट्रीय एकता की बात ही बेमानी है ।

स्वतंत्रता के ३७ वर्षों बाद भी जिन लोगों को न्यूनतम सुविधाएं तक उपलब्ध नहीं, जिनके पास शरीर ढंकने को साबुत कपड़ा भी नहीं, जिन्हें दो शाम भरपेट खाना भी नहीं मिलता, सर ढापने को एक छोटी सी छत नहीं, जिनके बच्चे स्कूल का मुँह तक नहीं देख पाते उनके लिए क्या तो राष्ट्र और क्या ही राष्ट्रीय एकता ? क्या स्वतंत्रता, क्या परतंत्रता ? नरक की जिन्दगी जी रहे इन लोगों के लिए राष्ट्र गुलाम रहे या आजाद, क्या फर्क पड़ता है ? आजादी के ३७ वर्षों में उन्हें क्या मिला ? गरीबी और जहालत । इस वास्तविकता से परिचित तो सभी हैं लेकिन करना कोई कुछ नहीं चाहता । क्योंकि हर कोई हर कहीं अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए समझौता करता है । इसमें जो अपवाद हैं वे इतने शक्तिहीन हैं कि वर्तमान स्थिति को बदलने में कतई समर्थ नहीं ।

राष्ट्रीय एकता के लिए जरूरी है कि हम पाखण्ड की जिन्दगी को तिलां-जली दें ।

सबसे बड़ा पाखण्ड तो यही है कि हमने संविधान मे अपने देश को समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, गणतंत्र घोषित किया हुआ है और व्यवहार मे हम कट्टर धार्मिक है, सामन्ती व्यवस्था तथा गैरगणतान्त्रिक स्थित को बनाये रखने के पक्षधर हैं, समाजवाद की तो आज तक कोई व्याख्या ही नही की गयी तो लागू करने का सवाल ही कहा पैदा होता है ?

राष्ट्रीय एकता के लिए जिस त्यागमय व समर्पित चरित्र की आवश्यकता है, उसका सर्वथा अभाव है । रोना तो यह है कि राष्ट्रीय एकता के लिए मंच पर बढ-चढ कर जो लोग बात करते हैं, उनका ही राष्ट्रीय एकता मे विश्वास नही । जनता भी दिग्भ्रमित है, दिशाहारा है, चेतनाशून्य है । विघटनकारी तत्व आसानी से उसे बरगला सकते है और बरगलाते रहते हैं । दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति यह है कि आज ऐसा कोई दल अथवा नेतृत्व नही जो जन-गण को सही-दिशा ज्ञान दे, न ही कोई ऐसा व्यक्तित्व है ।

राष्ट्रीय एकता सामाजिक न्याय के बिना सम्भव नही । राष्ट्रीय एकता और पाखण्ड साथ-साथ नही चल सकते । राष्ट्रीय एकता से धर्म का कोई वास्ता नही । धर्म विशुद्ध व्यक्तिगत है । हमे ये बुनियादी बाते मान कर चलना होगा वर्ना आज तक जो हश्र हुआ है वही होगा यानी मर्ज बढता गया ज्यो-ज्यो दवा की ।

महात्मा गाधी से लेकर इन्दिरा गाधी और उसके बाद तक राष्ट्रीय एकता के प्रयास तो किये गये, पर बुनियादी मुद्दों को अलग रखकर । तभी तो स्थिति बद से बदतर ही हुई है ।

प्रश्न यह नही कि जनतन्त्र की रक्षा कैसे हो । प्रश्न आज यह है कि भारत और भारतीयता को कैसे बचाया जाय । आज हमारे लिए कठिन परीक्षा की घड़ी है । हमे न केवल हर कीमत पर देश को बचाना है वरन् उसके खोये हुए गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करना है । इतिहास साक्षी है इस बात का कि देश पैदा नही होते वरन् बनाये जाते है और उन्हें बनाते हैं उस देश के लोग अपनी एकता, दृढता और कर्मठता से । देश को हथियारों या किसी दया-मेहरबानी के बल पर एक नही रखा जा सकता वरन् देश के तमाम लोगों की सहमति और सहयोग एकता की आवश्यक शर्त है ।

हालांकि साम्प्रदायिक खून-खराबे से बचने के लिए प्रशासन को कुछ सख्ती से पेश आना पड़े लेकिन सुरक्षा की गारंटी अकेले प्रशासन के बस की नहीं ।

केवल भौगोलिक एकता से किसी राष्ट्र का चरित्र नही बनता, बल्कि बनता

है तब जब लोग अपने व्यक्तिगत, जातिगत भेद भूल कर देश को सर्वोपरि मानकर उसके विकास के लिए एकजुट हो प्रयत्नशील होते है। आजादी के वक्त भी ऐसा ही हुआ था। भारत के एकीकरण में ब्रिटिश शासकों का कितना ही योगदान क्यों न हो लेकिन यह योगदान भी तभी सार्थक हो सका जब लोगों ने अपने आपसी भेदों को दरकिनार कर राष्ट्र की आजादी के लिए मिल कर संघर्ष किया। यह देश उनके मिले-जुले अथक संघर्ष और बलिदान से गढ़ा गया था। उस बहाव में, उस जुनून में सारे संकुचित भाव डूब गये थे, खत्म हो गये थे। उस वक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के कुछ मूल्य थे, सिद्धान्त थे। वे थे मूलतः जनतांत्रिक और धर्म निरपेक्ष। लेकिन मात्र गौरवशाली परम्पराएं ही स्थायी सद्भाव बनाये नहीं रख सकतीं वरन् उनकी जीवंतता के लिए निरन्तर प्रयत्न भी होना चाहिए। देश की अखंडित आत्मा १९४७ में घायल और खण्डित हुई। आजादी के आनन्द को विभाजन का ग्रहण लग गया।

एक आधुनिक राष्ट्र के लिए संस्थाओं और मूल्यों के प्रति जनसाधारण की अगाध श्रद्धा और सहमति परम आवश्यक है। आज अगर हमारा देश कमजोर है तो इसलिए कि यहां संस्थाएं खोखली और नेतृत्व कमजोर और निरर्थक साबित हो गया है। वे अपना प्रेरक तत्व खो निष्प्राण हो गये हैं। प्रत्येक, साम्प्रदायिक दंगा, हर राजनीतिक हिंसा की बर्बर वारदातें, और हमारी बढ़ती हुई असहिष्णुता इसी तथ्य के प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। आज आवश्यकता है, कैसे उन्हें पुनर्जीवन दें, कौन सी संजीवनी दें उन्हें ?

इस गम्भीर समस्या के आगे घना अन्धकार ही नजर आता है। एक मद्धिम सी रोशनी खोजनी है। न मिले तो नई रोशनी जला कर आलोक करना होगा। यह हर एक नागरिक की चिन्ता होनी चाहिए, चेष्टा होनी चाहिए।

हमारा देश, अन्यथा अंधी साम्प्रदायिकता, संकुचित जातिगत भेद और असहिष्णुता का शिकार हो खण्डों में बट जायेगा। क्या हरिजन यूंही समाज से अलग बिछड़े रहेंगे और नागा मिजो, मेती अपने आप को कभी भी राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़ा हुआ महसूस नहीं कर सकेंगे ? अगर यह होना है, तो भारत हिन्दू और हिन्दी बोलने वाले छोटे से आर्यावर्त में ही सिमट जायेगा। लेकिन समय ने बार-बार यहां प्रमाणित किया है कि इस देश के लोग ऐसा कदाचित नहीं चाहते। तमाम जनता मिल कर दृढ़ता से इस खतरनाक साम्प्रदायिकता के विरुद्ध ही देश को टूटने के भय से, आतंक-मुक्त कर सकती है।

इस देश में साम्प्रदायिकता की जड़ें इतनी गहरी हो चुकी हैं कि उसे आसानी से निर्मूल नहीं किया जा सकता। साम्प्रदायिकता के विरुद्ध बहुत कुछ कहा गया है और लिखा गया है। पर इसके बावजूद यह फलती-फूलती रही है।

इसकी वजह यह है कि हमने इस समस्या को सही ढंग से देखने और समझने की कोशिश ही नही की। इसीलिए इसका सही हल खोज नही पाये हैं।

आज साम्प्रदायिकता इतना विकराल रूप ले चुकी है जिसके सामने इसकी विरोधी शक्तियां बहुत बौनी हो गई हैं। अगर यही आलम रहा तो देश के टूटने को किसी भी हालत मे रोका नहीं जा सकेगा। साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता की जड़ों में घुन की तरह लग गई है और दिन-प्रतिदिन उसे खोखला किये दे रही है। हम एक निर्णायक स्थिति मे पहुंच गये हैं। अगर शीघ्र ही साम्प्रदायिकता पर जबरदस्त प्रहार न किया गया तो स्थिति काबू के बाहर हो जायेगी।

सबसे पहले तो हमे इस सवाल पर बेबाक और दो टूक बोलना चाहिए। इतिहास को तोड़-मरोड़ कर या झुठला कर या किसी सम्प्रदाय विशेष की नाराजगी के डर से अगर हम कुछ कहने और लिखने में हिचकते हैं, तो हम अपने प्रति ईमानदारी नही बरतते हैं और राष्ट्र के हितों की रक्षा करने मे भी असमर्थ होते हैं।

हमारे देश मे मुख्यत: दो तरह के तत्त्व हैं। एक तो वे जो हर चीज को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखते हैं। विडम्बना यह है कि ऐसे लोगों का खण्डन भी नही होता।

पिछले कुछ वर्षों से कुछ इतिहासकार यह कहने लगे हैं कि कुतुबमीनार और ताजमहल का निर्माण हिन्दू राजाओं ने किया था। यह विवाद वर्षों से अनवरत चला आ रहा है। और इससे साम्प्रदायिक हितों को हवा मिलती रही है। होना यह चाहिए था कि विवाद के उठते ही सरकार विशेषज्ञों की एक समिति बनाती, जो जांच-पड़ताल कर पक्ष या विपक्ष मे अपना निर्णय देती, ताकि इसमे दो सम्प्रदायों के बीच उत्पन्न तनाव को समाप्त किया जाता। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। बल्कि जान-बूझकर इस विवाद को बनाये रखा गया, ताकि निहित स्वार्थी तत्व इस विवाद से लाभ उठाते रहें। क्योंकि जब हम जानते हैं कि ऐसे विवाद से साम्प्रदायिकता को बल मिलता है, तो क्योंकर उसे अनन्त काल तक जारी रखा जाता है।

दूसरे वे तत्व हैं, जो प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष कहलाने के लिए इतिहास को ही झुठलाना चाहते हैं। उन्हें नही लगता कि औरंगजेब मूर्तिभंजक था, मन्दिरों को तोडकर उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाता था। ये लोग इस भावना से भ्रमित रहते हैं कि ऐसा कहेंगे, तो उन्हें भी साम्प्रदायिक करार दिया जायेगा। इन लोगों को यह कहने की हिम्मत क्यों नही है कि औरंगजेब ने जो कुछ किया उसके लिए बाकी मुसलमान कैसे जिम्मेवार हो सकते हैं? उन्हें यह तथ्य स्वीकार करना चाहिए कि औरंगजेब में धार्मिक कट्टरता कूट-कूट भरी कर थी

और वह बल प्रयोग से इस्लाम का प्रचार व प्रसार किया करता था। मुसलमानों को यह सब बताने की जरूरत है कि औरंगजेब ने जो कुछ किया गलत किया और वे इस बात को स्वीकार करें।

इधर हिन्दू, मुसलमानों से तो यह अपेक्षा करता है कि वह गाय न काटे, लेकिन स्वय सब कुछ जानते हुए भी पैसे के लालच मे गाय बेच देता है।

हमें पढ़ाया तो यह जाता है कि सदा सच बोलो, किसी को कष्ट मत दो, सबसे प्रेम करो आदि आदि। पर व्यावहारिक जीवन का पहला पाठ होता है सच न बोलो, दूसरो को कष्ट देकर भी अगर स्वयं का लाभ होता हो, तो अवश्य करो।

गुरुग्रन्थ साहिब की आरती उतारने वाले, पूजा करने वाले सिख, गुरुग्रन्थ मे लिखी कितनी बातें मानते है? शायद एक भी नही। गुरुग्रन्थ साहिब में नशे से परहेज की बात की गई है। पर जितनी शराब की खपत सिखो मे है, उतनी और शायद किसी सम्प्रदाय मे नही। हमे यह लिखने मे जरा भी हिचक नही।

जहा तक इस्लाम का प्रश्न है, इस्लाम जैसी कट्टरता और कही नही मिलेगी। कुरान शरीफ मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो केवल कुरान शरीफ को ही सर्वोत्तम ग्रन्थ नही मानता और उसमे उल्लिखित बातो को नही मानता, वह मुनाफिक है, काफिर है। ऐसे लोगो के साथ सख्ती बरतनी चाहिए।

इस प्रकार की कट्टरता और किसी धार्मिक ग्रन्थ मे नही मिलेगी। यहा यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मनु-स्मृति मे इस तरह की अनर्गल बातें मिलेंगी लेकिन यह वेद, गीता, कुरान आदि की तरह धार्मिक ग्रन्थ की श्रेणी में नही आती।

एक बात और। आज के युग मे, आज की परिस्थितियो में सैकड़ो हजारों वर्ष पहले निर्धारित किये गये धार्मिक आचरण का पालन कतई संभव नहीं। हर चीज परिवर्तनशील है, और देश—काल के मुताबिक उसमे परिवर्तन आता ही रहता है। पर होता यह है कि हम धर्म मे लिखी सतही बातों को तो मानते हैं और मूल और गूढ़ बात की उपेक्षा कर देते है और धर्म के नाम पर मरने-मारने को तैयार हो जाते हैं। उस धर्म के नाम पर, जिस पर हम खुद आचरण नही करते। दोगले चरित्र की इससे बडी मिसाल और क्या हो सकती है?

सही आदर्शों और स्पष्ट दृष्टिकोण के अभाव में क्षेत्रीयता और साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। वर्तमान मे हमारे देश की जो राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था है, उसके विरुद्ध लड़े बिना हम साम्प्रदायिकता के विरुद्ध नहीं लड सकते। जो लोग यथास्थिति बनाये रखना चाहते हैं, वे साम्प्रदायिकता के विरुद्ध एक सीमा से आगे नही जा सकते।

धर्म के प्रति दृष्टिकोण बदलना भी बहुत जरूरी है। इस बात पर भी राष्ट्रीय बहस होनी चाहिए कि आज के सन्दर्भ में धर्म कहां तक प्रासंगिक है, विभिन्न धर्मों में कहां-कहां टकराव के मुद्दे हैं और उनसे कैसे बचा जा सकता है। विज्ञान की प्रगति में धर्म कितना बाधक है, क्योंकि मानवजाति का सर्वांगीण विकास वैज्ञानिक उपलब्धियों के बिना सम्भव नही। धर्म ने मानवीय मूल्यों पर कितना आघात किया है। आदि, आदि।

हाल में पंजाब में घटी घटनाएं हमारी आंख खोलने के लिए काफी होनी चाहिए। लेकिन ऐसा होगा, इस पर हमें सन्देह है। पंजाब की घटनाओं से दो तथ्य उभर कर सामने आये। एक तो यह कि किस तरह धर्म के नाम पर एक पूरे के पूरे समाज को दिग्भ्रमित और गुमराह किया जा सकता है। इन्दिरा गांधी ने फौजी कार्रवाई कर सही किया या गलत, इस पर बहस हो सकती है, लेकिन इन्दिरा गांधी की तुलना अहमद शाह अब्दाली से करना परले दर्जे की बेवकूफी नही तो और क्या है? अब्दाली ने पंजाब पर आक्रमण कर स्वर्ण मन्दिर को नेस्तनाबूद कर वहां जो कुछ मिला उसे लूट कर चलता बना। जबकि इन्दिरा गांधी ने दस करोड़ रुपये खर्च कर, रिकार्ड समय में अकाल तख्त की मरम्मत करा उसे पहले की तरह भव्य बना कर सिखों को सौंपा। फौजी कार्रवाई के दौरान बड़ी संख्या में फौजियों के मरने की वजह यह थी कि उन्हें नंगे पैर लड़ने के तथा हरमन्दिर साहिब की रक्षा के कड़े आदेश थे। अगर भिण्डरावाला और उनके अनुयायियों ने अकाल तख्त के अन्दर और हरमन्दिर साहिब के ऊपर से गोलाबारी न की होती तो उन स्थलों को जरा भी क्षती न पहुंचती। अगर भिण्डरावाला को अकाल तख्त की श्रेष्ठता और पवित्रता का इतना ही खयाल था तो वे अकाल तख्त के बाहर खुले मैदान में आकर फौज से लड़ते। लेकिन सिखों ने भिण्डरावाला को तो शहीद बना दिया और इन्दिरा गांधी की तुलना अब्दाली से कर दी। ऐसा कर सिखों ने हिन्दू-सिखों के बीच चली आ रही परम्परागत मैत्री पर गहरा आघात किया और इसका नतीजा यह हुआ कि हिन्दू साम्प्रदायिकता भी आज बड़ी तेजी से आक्रामक रुख अख्तियार कर उभर कर सामने आ रही है। यह बात इतना खुल कर कहने की जरूरत इसलिए पड़ी कि जब तक हम सही तथ्यों को सही ढंग से कहने की आदत नहीं डालेंगे, तब तक हम समस्या के समाधान की बात सोच भी नही सकते, चाहे वह बात कितनी ही कड़वी व अप्रिय क्यों न हो?

हम पहले भी लिख चुके हैं कि भारत का आम आदमी मूलतः देश-भक्त और राष्ट्रीय है। १९८४ के लोक-सभा चुनावों के दौरान और १९८५ में पंजाब में हुए विधान-सभा व लोक-सभा चुनावों के दौरान भी यही तथ्य उभर कर सामने

आया कि लोग राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को तोडने नही देना चाहते । पर राजनीतिक एव धार्मिक नेतृत्व घोर साम्प्रदायिकता से ग्रस्त है, जो गाहे-ब-गाहे जनता को अपनी लपेट मे लेता रहता है ।

राजनीतिक रूप से जनता मे जागरकता का सर्वथा अभाव है । वह आज भी मध्ययुगीन सामन्ती एव धार्मिक रुढिवादिता की शिकार है । राजनीतिक नेतृत्व ने उसको इससे उबारने का कभी कोई गम्भीर प्रयास नही किया । सतही प्रयास किये गये जो स्वभावतः प्रभावहीन रहे ।

स्वतत्रता के बाद की राजनीति ने धर्म-निरपेक्षता के ढाचे को कमजोर ही नही, जर्जर कर दिया है । क्या विडम्बना है कि अपने आपको वामपथी और प्रगतिशील कहने वाली शक्तियो को कट्टर हिन्दू धर्म पर आस्था रखने वाले चैतन्य रथ पर सवार साधु, मुख्यमत्री एन० टी० रामाराव का समर्थन लेना पड़ता है और उसे समर्थन देना पड़ता है !

जामा मस्जिद के इमाम बोखारी मुसलमानो को फतवा देते हुए कामरेड माने जाने वाले राजनीतिज्ञ बहुगुणा को वोट देने की अपील करते है ।

इन सबका नतीजा यह हुआ है कि इस देश मे धार्मिक असहिष्णुता के वातावरण को रोकने वाली ताकतें बहुत ही कमजोर हो गयी हैं । धर्म-निरपेक्षता भाषणों एवं लेखन तक सीमित होकर रह गयी है । व्यवहार में लोग या तो हिन्दू हैं या मुसलमान या सिख या ईसाई । यहा तक कि क्षेत्रियता ने लोगों को इस कदर बांट दिया है कि इस देश मे बंगाली मिलेगा, बिहारी मिलेगा, गुजराती मिलेगा, तमिल मिलेगा, पर भारतीय कहीं खोजे से भी नही मिलेगा ।

धर्मनिरपेक्षता की धज्जिया उड़ रही हैं और बची-खुची धर्मनिरपेक्षता की शक्तियां असहाय बनी यह सब देख रही है, बर्दाश्त कर रही हैं ।

१९८४ के लोकसभा चुनावो मे एक बात बहुत ही स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आई, कि देश की आम जनता राष्ट्रीय एकता और अखण्डता को सर्वोपरि मानती है । इस प्रश्न को केवल हिन्दुओ ने ही अहमियत दी हो, ऐसा नही । मुसलमानो एव सिखो ने भी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का समर्थन किया । राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के सामने आर्थिक प्रश्न गौण हो गये । १९८४ में कांग्रेस की विजय को राष्ट्रीयता की विजय के रूप में लेना चाहिए ।

१९८४ के चुनावो को हिन्दूवाद या हिन्दू बैकलैश की विजय कहना गलत होगा । ऐसा होता तो विश्व हिन्दू परिषद के अध्यक्ष कर्णसिह हिन्दू इलाके से न हारते । न ही भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अटल बिहारी वाजपेयी ग्वालियर जैसे हिन्दू सस्कारो से प्रभावित क्षेत्र से हारते ।

पर प्रश्न यह है कि क्या केवल इससे राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता की

रक्षा हो सकेगी ? हमारी राष्ट्रीयता का आधार कोई विशेष धर्म नही धर्म-निरपेक्षता ही हो सकती है। धर्म-निरपेक्षता की जड तभी मजबूत हो सकती है जब लोगों को विकास के समान अवसर प्रदान हों। सामाजिक न्याय पर आधारित व्यवस्था हो। इसके अभाव में बहुत दिनों तक राष्ट्रीय एकता एव अखण्डता को बचाये रखना बहुत कठिन है।

भारत की जो भी समस्याएं है, वे पूरे भारत की हैं। चाहे वह गरीबी हो या शोषण या सामाजिक अन्याय। यह रोग सारे देश के कोने-कोने मे फैला हुआ है। कही थोड़ा कम तो कही थोड़ा ज्यादा।

गलत आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप ये समस्याएं पैदा हुईं।

बेकारी, बीमारी, भ्रष्टाचार, अनाचार, घोर अशिक्षा और पिछड़ापन ये राष्ट्रव्यापी समस्याएं है।

योजनाओं के बावजूद ८० प्रतिशत लोगों को चिकित्सा सुलभ नही। शिक्षित व अशिक्षित बेकारों की संख्या करोड़ों में है। कलकत्ता जैसे शहर में दो लाख से अधिक लोग केवल फुटपाथ पर सारी जिन्दगी बसर करने को बाध्य है।

आज भी भारत के तीन लाख गावों मे लोगों को पीने का पानी नही दिया जा सका।

पौष्टिक आहार न मिलने के कारण हर वर्ष लाखों लोग आंखों की रोशनी खो बैठते हैं। लाखों लोग टी० बी० जैसी प्राणघातक बीमारी के शिकार हो जाते है। करोड़ों बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास नही हो पाता।

२० वी सदी में इस देश में बंधुआ मजदूरों की संख्या लाखों में है।

गरीबी की वजह से देश की अधिकांश आबादी नारकीय जीवन जीने को मजबूर है।

ऐसा नही कि इस देश में साधनों की कमी है। साधान तो विपुल हैं।

नदियां है। पहाड है। जंगल है। उपजाऊ भूमि है। अनुकूल जलवायु है। खनिज पदार्थ बेशुमार मात्रा मे धरती के गर्भ मे समाये हुए हैं।

पर साधनों का समुचित बंटवारा नहीं।

यह सामाजिक न्याय पर आधारित आर्थिक नीति से ही सम्भव हो सकता था।

पीड़ितों और शोषितों मे हिन्दू है, मुसलमान है, सिख हैं, ईसाई हैं। गरीबी व जहालत के शिकार सभी सम्प्रदाय और जाति के लोग हैं। इसी प्रकार शोषकों में भी सभी जाति और सम्प्रदाय के लोग हैं।

क्या हिन्दू हिन्दू का शोषण नहीं करता ? मुसलमान मुसलमान का नहीं करता ? क्या हिन्दू बनिया तोल में कमी केवल मुसलमान ग्राहक के साथ ही करता है ? हिन्दू ग्राहक के साथ नही करता ? क्या मुसलमान व्यापारी मिलावट हिन्दू उपभोक्ता के लिए ही करता है ? पंजाब में जमीन को लेकर होने वाले झगड़ो मे क्या सिख सिख की हत्या नही करता ? क्या कोई उद्योग-पति अपने सम्प्रदाय के लोगो को ज्यादा तनख्वाह देता है या अपने सम्प्रदाय के लोगो को कम कीमत पर माल बेचता है ?

सच तो यह है कि सारा देश दो वर्गों मे बंटा हुआ है। एक वर्ग है शोषकों का, दूसरा है शोषितों का। एक है सुविधा सम्पन्न लोगों का, दूसरा है सुविधा से वंचित लोगो का।

देश की इन समस्याओ का समाधान धार्मिक, साम्प्रदायिक या क्षेत्रीय आधार पर नही हो सकता। समाधान तो राष्ट्रीय स्तर पर ही हो सकता है।

असाम से गैर-आसामियों को निकाल देने से आसामियों की समस्या हल नही होगी। सिखों का स्वायत्त प्रदेश बनाने से सिखो की समस्या हल नही होने की। तेलगूदेशम् का नारा देकर, आन्ध्र के लोगों की क्षेत्रीय भावना उभार कर सत्ता मे भले ही आया जा सकता है, पर इससे आन्ध्र के लोगो की समस्या हल नही हो सकती। यह प्रयोग बहुत पहले तमिलनाडू मे हो चुका है। वहां पिछले बीस वर्षों से क्षेत्रीय दल सत्ता मे रहा है, लेकिन वहा की समस्याए ज्यों की त्यो है।

क्या धार्मिक आधार पर पाकिस्तान बन जाने से पाकिस्तान की समस्याए हल हुई ? सच्चाई तो यह है कि पाकिस्तान की हालत भारत से कहीं बदतर है।

जो लोग धार्मिक, क्षेत्रीय और साम्प्रदायिक भावना उभार कर समस्या के हल की बात करते है, वे लोगों का ध्यान मूल मुद्दों से हटाना चाहते हैं, ताकि उनकी नेतागिरी बरकरार रहे।

पर इसके साथ ही यह भी सच है कि राष्ट्रीयता की केवल बात करने से न तो समस्याएं हल होने वाली है और नही राष्ट्रीय एकता स्थापित होने वाली। इसके लिए आवश्यक है सामाजिक न्याय पर आधारित जनोन्मुखी आर्थिक नीति और उसका ईमानदारी से क्रियान्वयन।

इसके लिए सारे ढाचे मे मौलिक परिवर्तन करना होगा। तभी सही अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति और राष्ट्रीय चरित्र का विकास हो सकेगा। यह सब आदर्शों एव सिद्धान्तों की राजनीति से ही सम्भव है।

१९४७ के बाद, विगत ३७ वर्षों मे जिस तेजी से हमारे देश में मूल्यो मे

ह्रास हुआ, उसकी मिसाल मानव-जाति के इतिहास में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगी।

ऊपर से लेकर नीचे तक बेईमानी और भ्रष्टाचार का बोलबाला है।

लुटेरे, तस्कर, जमाखोर, मिलावट करने वाले, घूसखोर समाज में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। ईमानदार, सच्चरित्र, दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं।

सीता और सावित्री के देश में हर मिनट देश में कहीं न कहीं बलात्कार होता रहता है।

बुद्ध, महावीर और गांधी के देश में सरकारी आंकड़ों के मुताबिक हर वर्ष ४० हजार हत्याएं होती हैं।

पिछले २० वर्षों में जन्मी पीढ़ी को यह पता नहीं कि शुद्ध चीज का स्वाद कैसा होता है। चाहे घी हो या तेल, शहद हो या मसाले, यहां तक कि दवाइयों में भी मिलावट होने लगी है।

तस्करी के विरुद्ध कड़े कानून के बावजूद हर वर्ष कम से कम तीन हजार करोड़ रुपयों की तस्करी होती है। इसका नतीजा यह हुआ कि जिस देश में कभी स्वदेशी आन्दोलन हुआ था, उस देश के गांव-गांव में विदेशी वस्तुएं पहुँच गई हैं। कौन नहीं जानता कि हर वर्ष टनों चांदी इस देश से बाहर भेजी जा रही है और मनों सोना चोरी से देश में आ रहा है।

राजनीति का हाल यह है कि यह एक ऐसा पेशा बन गई है, जहां पूँजी लगाये बिना लोग बेशुमार दौलत पैदा कर रहे हैं। चाहे सत्ता में हों या विपक्ष में, सफल राजनीतिज्ञ वह माना जाता है, जिसने राजनीति से अपरिमित सम्पन्नता हासिल की हो। त्याग और बलिदान करने वाला सड़क की धूल फांकता है।

देश में एक तरफ धार्मिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान तेजी से बढ़ रहे हैं और दूसरी तरफ उससे भी ज्यादा तेजी से अनाचार फल-फूल रहा है।

आर्थिक विषमता का हाल यह है कि किसी के पास अरबों हैं, तो किसी को दो जून की रोटी भी नहीं मिलती। मकान, शिक्षा और चिकित्सा की तो बात ही दरकिनार है, पर बात हर कोई समाजवाद की करता है।

देश का कोई इलाका बहुत विकसित है, तो कोई बहुत पिछड़ा हुआ। कोई आज भी आदिम युग में रह रहा है, तो कोई मशीनी युग की आधुनिकतम जिन्दगी बसर कर रहा है।

ऐसी घोर अराजक और पाखण्डी स्थिति में लोग दिशाहारा हो गये हैं। भटक गये हैं। लक्ष्यहीन हो गये हैं। लोगों में खीज है, आक्रोश है, हताशा है।

घोर अन्धकार छाया है। रोशनी की हल्की सी किरण भी नजर नहीं आती।

राष्ट्र केवल नदी, पहाड और जमीन नही। यह तो उसकी सम्पदा है जिसका मालिक जन-गण होता है। जिस देश मे जन-गण की उपेक्षा हो, उसे राष्ट्रीय सम्पदा से वंचित रखा जाय, उस देश के लोगों से राष्ट्रीयता और राष्ट्र प्रेम की उम्मीद कैसे की जा सकती है? इसलिए इस देश मे आज राष्ट्रीय संस्कृति, राष्ट्रीय चरित्र का विकास नही हो पाया। क्यों कि राष्ट्रीय हित का स्थान व्यक्तिगत स्वार्थ ने ले रखा है।

धर्म ने घोर पाखण्ड का रूप ले रखा है। जो जितना बुरा है, वह उतना धार्मिक बना हुआ है। बुरे कर्मों से सुख, सुविधा, सम्पन्नता हासिल करने वाले लोगो की संख्या ही धार्मिक-स्थलो मे बढती जा रही है। और तो और धार्मिक स्थलो पर कब्जा भी ऐसे ही लोगो का हो गया है।

हमारे देश के राजनेताओ के चरित्र को देखिये। मच पर तो ये साम्प्रदायिक तत्वों को जी भर कर कोसेंगे, उनकी घोर भर्त्सना करेंगे। आम जनता को, उनसे गुमराह न होने की सलाह देंगे, पर स्वयं अपने स्वार्थ के लिए उनसे ऐसा घुलमिल कर रहेंगे जैसे बहुत ही गहरे सम्बन्ध हो।

१९८४ मे आन्ध्र के मुस्लिम मजलिस जैसे घोर साम्प्रदायिक संगठन के नेता को कांग्रेस के सहयोग से आन्ध्र विधान-सभा का अध्यक्ष बनाने की एक बेशर्म कोशिश की गई, क्योंकि इससे कांग्रेस का स्वार्थ सधता था। इसी प्रकार इतनी ही बेशर्मी से मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने केरल मे मुस्लिम लीग के एक धड़े से राजनीतिक गठबंधन किया।

पंजाब में अकाली दल से राजनीतिक गठबंधन करने के अपराधी कांग्रेस सहित मार्क्सवादी कम्युनिस्ट, भारतीय कम्युनिस्ट आदि सभी रहे हैं।

जनसंघ को साम्प्रदायिक कहने वाले कम्युनिस्टो ने १९६७ मे विभिन्न प्रदेशो मे संविद सरकारो का समर्थन किया जिसका एक प्रमुख धड़ा जनसघ था। कथनी और करनी के इस अन्तर ने राजनीतिक दलो की साख एकदम खत्म कर दी है।

स्वतंत्र भारत मे साम्प्रदायिकता का कोई स्थान न रहे, इसी को दृष्टिगत रखते हुए हमारे संविधान मे भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का दर्जा दिया गया पर यहा हमारे संविधान निर्माताओ से एक चूक हो गई। उन्होने संविधान में ऐसी कोई व्यवस्था नही रखी कि साम्प्रदायिक और धार्मिक आधार पर राजनीतिक दलों का गठन न हो। हालांकि संविधान निर्मात्री-परिषद के एक प्रमुख सदस्य अनन्त शयनम आयंगर ने ८ अप्रैल, १९४८ को परिषद के समक्ष रखे गये एक प्रस्ताव में यह कहा—'इस विधान सभा की यह राय है कि कोई भी साम्प्रदायिक संगठन विशेष जिसका संविधान धर्म अथवा जाति के हितो

के रक्षार्थ गठित हुआ हो, को सांस्कृतिक गतिविधियों के अतिरिक्त अन्य गतिविधियों के लिए स्वीकृति नही मिलनी चाहिए।'

और आयंगार के इस प्रस्ताव का पूर्ण रूप से समर्थन करते हुए नेहरू जी ने कहा—हमें यह स्पष्ट रूप से ध्यान रखना है कि साम्प्रदायिकता के रूप में धर्म और राजनीति का गठबंधन देश के हित मे सर्वाधिक खतरनाक और भयानक है। इनके मेल से अवैध रक्त ही उत्पन्न होगा।'

देश के भविष्य के प्रति दूरदृष्टि रखनेवाले संविधान-निर्माताओं की यह आशंका निर्मूल नही थी। स्वतंत्रता के ३७ वर्षो मे साम्प्रदायिकता के अवैध रक्त ने देश की जडों को कमजोर बनाया।

साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए ही चुनौती नही है, बल्कि यह मानवीय मूल्यों एवं संवेदनशीलता के लिए भी एक चुनौती है। साम्प्रदायिक आवेश मे इन्सान अपनी इन्सानी पहचान खो बैठता है। दंगों के दौरान यह बात हमेशा सामने आती रही है। दंगो में किस तरह लोगों ने पाशविक और राक्षसी बर्बरता का परिचय दिया है, यह भी किसी से छिपा नही है।

जैसा कि हम पहले भी लिख चुके हैं, साम्प्रदायिकता का विष हमारी रगों में फैल गया है। हमारे दिलो-दिमाग के किसी न किसी कोने में साम्प्रदायिक भावनाएं घर कर गई हैं। कहीं कम, कही ज्यादा। हमारा दैनन्दिन आचरण प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता से प्रभावित होता जा रहा है।

इसे जड-मूल से नष्ट करने के लिए पूरी ईमानदारी और निष्ठा से हर मोर्चे पर, इससे लड़ना होगा। केवल मात्र औपचारिक विरोध से बात नही बनने वाली है। लीपा-पोती से इसका समाधान नही होने का।

साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जनमत तैयार करना और जनगण को सचेतन करना बहुत जरूरी है। यह कार्य केवल वे लोग कर सकते है, जो स्वयं साम्प्रदायिक न हों।

राजनीति से धर्म का कोई वास्ता नही होना चाहिए। जो भी राजनीतिक दल, धर्म के नाम पर, धर्म की आड़ लेकर राजनीति करें, उन पर प्रतिबन्ध लगना चाहिए। इस दिशा में कुछ कदम हमे अविलम्ब उठाने चाहिए जैसे—

शिक्षण संस्थानों मे सभी धर्मों की सर्वमान्य एवं मानव कल्याणकारी बातें ही पाठ्यक्रम में रखनी चाहिए। अक्सर यह देखा जाता है कि अल्पसंख्यक वर्ग के नाम पर अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षा-संस्थानो में छोटी उम्र से छात्र-छात्राओ के दिमाग में धार्मिक कठमुल्लापन व कट्टरता का विष भर दिया जाता है, जो जीवन पर्यन्त उन पर हावी रहता है। यही से उनके संकुचित नजरिये और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण की नींव पड़ जाती है।

धार्मिक शिक्षा परिवार मे दी जाय। उसका शिक्षण संस्थानों से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

अल्पसंख्यको की भाषा व संस्कृति को पूर्ण संरक्षण मिलना चाहिए तथा उसे फलने-फूलने का समान व समुचित अवसर भी प्रदान किया जाना चाहिए। लेकिन जहा तक धार्मिक स्वतंत्रता का सवाल है, वह व्यक्तिगत निष्ठा का प्रश्न है और उसकी वही सीमा होनी चाहिए।

धार्मिक स्थलो का प्रयोग किसी भी हालत मे राजनीतिक उद्देश्यो के लिए नही होना चाहिए।

किसी भी सरकारी समारोह मे किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान न हो।

धार्मिक छुट्टिया कम से कम हों तथा जो भी हों वे उस धर्म या समुदाय विशेष के लिए ही हो।

धर्म के सार्वजनिक प्रदर्शन पर प्रतिबन्ध लगे।

धार्मिक सस्थाये, चाहे वह अस्पताल खोलें या स्कूल या पूजा-स्थल, उनको किसी प्रकार के टैक्स की छूट नही मिलनी चाहिए।

एक तरफ तो इस देश में करोडो लोग बेघरबार है, दूसरी तरफ लाखो की सख्या मे मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे व चर्च हैं। धार्मिक-स्थलों का दुरुपयोग तो आम बात हो गयी है। पिछले बीस-पच्चीस वर्षों मे धार्मिक-स्थलो के निर्माण मे बेशुमार वृद्धि हुई है। लोग टैक्स की छूट का भी धार्मिक-स्थलो के नाम पर दुरुपयोग करते नही हिचकिचाते। कम्पनियों के मुनाफे के करोड़ों रुपये इन निर्माण-कार्यों पर खर्च किये जाते हैं।

पर जिस तेजी से धार्मिक-स्थलो के निर्माण मे वृद्धि हुई है उसी तेजी से अनाचार, भ्रष्टाचार यानी अधर्म बढ़ा है। इसलिए यह मानना गलत है कि धार्मिक-स्थल धर्म-प्रचार मे सहायक होते हैं।

स्कूल, पुस्तकालय, अस्पताल से ज्यादा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे और चर्च, है। स्कूलों के लिए झोपड़ी भी मयस्सर नहीं, भगवान के नाम पर करोड़ों के मन्दिर आये दिन बनते रहते हैं।

अदालतों में धार्मिक-ग्रन्थो को छूकर धर्म के नाम पर शपथ लेने की परिपाटी का अत किया जाय। क्योकि चोरी, हत्या, बलात्कार करने वाला धर्म के नाम से कोई सच थोडे ही बोलेगा! इससे धर्म की छीछालेदर तो होती ही है, हमारी धर्मनिरपेक्षता पर भी आघात लगता है।

सेना मे भी धर्म के नाम पर शपथ लेने का रिवाज है। इसे भी समाप्त किया जाना चाहिए। सेना में जाति के नाम पर रेजीमेन्ट के नाम नही होने चाहिए।

किसी भी सम्प्रदाय का धार्मिक स्थल कानून से परे न हो। अल्पसंख्यक

हो या बहुसंख्यक, धर्म के नाम पर कानून में किसी प्रकार की विशेष छूट न हो।

देश के हर नागरिक के लिए समान कानून हो। हिन्दू कोड बिल का निर्माण ही अपने आपमें एक साम्प्रदायिक कदम था, राष्ट्रीय कोड बिल होना चाहिए। विवाह, सम्पत्ति का अधिकार आदि का कानून, सरकार का काम है। धर्म के आधार पर किसी समाज या सम्प्रदाय को किसी प्रकार की छूट नही होनी चाहिए।

फौजी छावनियो मे अलग-अलग धर्मों के पूजा-स्थल नहीं होने चाहिए। इसकी जगह एक ऐसा स्थान हो जहा सामाजिक, सांस्कृतिक अनुष्ठान सभी मिलकर कर सकें तथा भाईचारे, साम्प्रदायिक सद्भाव व राष्ट्रीय एकता से सम्बन्धित कार्यक्रम आयोजित हों।

राष्ट्रीय एकता के हित मे शक्तिशाली केन्द्र जरूरी है पर निरंकुश केन्द्र नही। वर्तमान सविधान के ढाचे के अन्तर्गत ही राज्यों को समुचित विकास के लिए और अधिक अधिकार दिये जा सकते हैं, जो कि नही दिये जा रहे हैं। इसके अलावा जरूरी हो तो संविधान मे संशोधन और परिवर्तन भी किया जा सकता है।

विभिन्न धार्मिक सस्थाओं द्वारा सचालित विद्यालयो मे एक ही तरह के पाठ्यक्रम हो तथा उनमे धार्मिक-शिक्षा पर प्रतिबन्ध होना चाहिये। एक ऐसा पाठ्यक्रम हो, जिसमे सभी धर्मों के अच्छे उपदेशो का संकलन हो। बाकी धार्मिक शिक्षा मन्दिर, मस्जिद, चर्च, गुरुद्वारों तथा घरों में हो।

चुनावो के दौरान राष्ट्रीय दलों को साम्प्रदायिक दलो से किसी प्रकार का गठबन्धन नहीं करना चाहिये। सत्तारुढ़ दल को किसी ऐसे व्यक्ति को महत्व-पूर्ण पद के लिए नहीं चुनना चाहिए जो साम्प्रदायिक हो। मंत्रि-मंडल में जातीय आधार पर प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाना चाहिए।

लोगो मे राष्ट्रीय भावना पैदा करने के लिए प्रेस व अन्य प्रचार माध्यमों को विशेष ध्यान देना चाहिए। इस सन्दर्भ में उनकी भूमिका बहुत ही अहम् है। ऐसे विशिष्ट कार्यक्रम व आयोजन किये जाने चाहिए जो प्रत्येक नागरिक के हृदय में देश के प्रति जिम्मेवारी, कर्तव्य और प्रेम की भावना उत्पन्न करें। एक-दूसरे के प्रति बैर, घृणा व अविश्वास पैदा करने वाले तत्वों के प्रति जनता को आगाह किया जाना चाहिए, जिससे वे उन तत्वो द्वारा किये जाने वाले भावनात्मक शोषण व उन्माद से अपने आप को बचा सकें। प्रेस को साम्प्रदायिकता का न केवल बहिष्कार करना चाहिए वरन् उसे पूर्णतः नकारना चाहिए। साम्प्रदायिक वारदातों की रिपोर्ट भी विस्तृत रूप से नही दी जानी चाहिए।

विद्यार्थियो मे धर्मनिरपेक्ष दृष्टि विकसित करने के लिए स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमों में एकरूपता होनी चाहिए ।

साम्प्रदायिक तत्वो को न केवल सरकारी तंत्र से अलग रखा जाना चाहिए बल्कि बड़े, राजनीतिक दलो मे भी उनका प्रवेश निषेध होना चाहिए ।

सत्ता मे आने व सत्ता मे बने रहने के लिए किसी भी साम्प्रदायिक दल से गठबन्धन कदापि नही होना चाहिए ।

केन्द्रीय सरकार को सदैव सचेत, सजग रहना चाहिए जिससे विदेशी शक्तिया साम्प्रदायिक राजनीति को उभारने में सफल न हो सकें ।

साम्प्रदायिकता की समस्या को समाप्त करने के प्रयास में उदारवादी, प्रगतिशील बुद्धिजीवियो को भी अपनी पूरी ताकत से मददगार होना चाहिए । इस उद्देश्य को ध्यान मे रख कर उन्हे एक अखिल भारतीय स्तर के संगठन का निर्माण करना चाहिए ।

सरकार को सामाजिक नही बल्कि आर्थिक नजरियो के आधार पर देश के कमजोर वर्ग को सुरक्षा व सहायता प्रदान करनी चाहिए ।

सामाजिक विषमता को हर कीमत पर कम किया जाना आवश्यक है, क्योंकि अक्सर स्पष्ट दृष्टि एव दिशा के अभाव मे वर्ग-संघर्ष जाति-संघर्ष में परिणत हो जाता है ।

साम्प्रदायिकता के खतरे व उसके नुकसान से जनसाधारण को बराबर अवगत कराते रहने का दायित्व प्रेस तथा प्रचार साधनों पर है और उन्हें अपने इस दायित्व को पूरी ईमानदारी से निभाते रहना चाहिए ।

स्वतन्त्रता पूर्व तक साम्प्रदायिकता को केवल ब्रिटिश हुकूमत की शह मिलती थी । पर स्वतंत्रता के बाद के काल में कई देशों से भारत में साम्प्रदायिक शक्तियो को मदद मिलने लगी ।

पाकिस्तान में चाहे जो भी सरकार रही हो, हर सरकार का रुख भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण रहा । पाकिस्तान के इस रवैये के पीछे अमरीका का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है । बाद मे इस ध्रुवीकरण में पाकिस्तान और अमरीका के साथ चीन भी शामिल हो गया ।

अमरीका ने यह कभी नही चाहा कि भारत एक आत्मनिर्भर, शक्तिसम्पन्न राष्ट्र के रूप में उभरे । प्रारम्भ से ही अमरीका भारत की गुट-निरपेक्ष एव स्वतंत्र विदेश-नीति का कटु आलोचक रहा । १९५२ से ही अमरीका पाकिस्तान को शस्त्र-सज्जित करने लगा । इसके पीछे उसका एकमात्र उद्देश्य था पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध तैयार करना । पाकिस्तान ने जब भी भारत पर हमला किया, अमरीका ने उसका साथ दिया । बाग्लादेश की मुक्ति के बाद पाकिस्तान

की सक्रियता भारत के विरुद्ध और बढ गई। पंजाब में सिख उग्रपथियो, आतंकवादियों और खालिस्तान-समर्थको को पाकिस्तान न केवल अपने यहां शरण देता रहा है, बल्कि उन्हें मानसिक और शारीरिक रूप से लडने के प्रशिक्षण भी देता है। बांग्लादेश मे हुई पराजय का बदला चुकाने की मशा से पजाब को भारत से अलग करने की चेष्टा में पाकिस्तान पूरी शक्ति से लगा है।

अमरीका मे खुलेआम उग्रवादियों को प्रशिक्षित किया जाता है, यह कोई छिपी हुई बात नही है। खालिस्तान समर्थक तत्वों को अमरीकी सरकार की परोक्ष सहमति और सहायता मिलती रही है।

सउदी अरब जैसी कई मुस्लिम सरकारें भारत के कट्टरपंथी धर्मान्ध मुस्लिम तत्वों को करोड़ों रुपयों की मदद कर उनके हाथ मजबूत करती रही हैं। ये वही कट्टरपंथी धर्मान्ध शक्तियां हैं जो देश के साम्प्रदायिक सद्भाव पर कुठाराघात करती रही है। और देश की एकता और अखण्डता के लिए चुनौती बनी हुई हैं।

पाकिस्तान, अमरीका, कनाडा, पश्चिम जर्मनी और ब्रिटेन आदि देशों में खालिस्तान समर्थको को भारत के विरुद्ध गतिविधिया करने की पूरी छूट मिली हुई है। यह कौन नहीं जानता कि इन देशों मे रह रहे इन खालिस्तान समर्थको ने पंजाब में अस्थिरता लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। और तो और तोड़-फोड़ तथा हिंसात्मक कार्रवाइया करने वालों के विरुद्ध इन देशो की सरकारो ने वक्तव्यबाजी के अलावा कोई ठोस कदम नही उठाया।

पजाब के अलावा कश्मीर और उत्तर-पूर्वांचल मे आन्दोलनकारियो और उग्रवादियो को बढ़ावा देने मे इन्ही शक्तियो का परोक्ष हाथ रहा है। इन्हें विदेशों से हथियार और धन बराबर बेरोकटोक मिलते रहे हैं।

यह सब लिखने का हमारा मकसद यही है कि हम, लोगो को उन विदेशी शक्तियो की परोक्ष सहायता से आगाह करना चाहते हैं, जो देश मे अस्थिरता, अलगाव और अव्यवस्था उत्पन्न करना चाहती हैं और इस बात के लिए अरबों रुपया खर्च करती हैं। वे नही चाहती कि भारत में अमन-चैन रहे। आजादी से पहले सिर्फ ब्रिटिश हुकूमत की यह मंशा थी जबकि आजादी के बाद बहुत सी विदेशी शक्तिया इस ओर सक्रिय हो उठी हैं। समय-समय पर उनकी साजिशों ने देश में हिंसा और तोड-फोड़ की है। दंगे भड़काये हैं।

लेकिन इसका मतलब यह कदापि नही है कि आज देश मे बिखराव की जो स्थिति है, उसके लिए सिर्फ विदेशी शक्तिया ही दोषी हैं। हमारी अपनी कमजोरिया और कमिया हैं, जिनका फायदा इन्होंने उठाया है। फिर नेतृ-वर्ग की ओर से भी राष्ट्र की एकता, अभिन्नता के लिए अपेक्षित कोशिशें नही हुईं। सत्ता

के नशे मे देश का अहित देख कर भी उन्होने अनदेखा कर दिया। इस पक्ष का एक दुखद पहलू यह भी रहा कि राष्ट्र-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध देश का जनमत तैयार नही हो सका। मुख्य मुद्दा यह है कि कमजोरी हममें है और हमें ही उसे दूर करना है।

धार्मिक कट्टरता और भावुकता आजकल जोरो पर है। ये चीजें देश मे अस्थिरता पैदा करने के कारगर नुस्खे हैं।

भारत का सबसे बडा दुश्मन अमरीका, पाकिस्तान या चीन नही बल्कि भारतीय खुद हैं। कोई भी दुश्मन देश को कमजोर बनाने में उतना सक्षम नहीं है, जितने कि हम भारतीय। हमारा लोकतंत्र बाहर से चाहे कितना भी अभेद्य क्यों न हो, भीतर से वह उतना ही खोखला है। हमें विख्यात कार्टूनिस्ट पोगों की ये बात कभी नही भूलनी चाहिए कि 'हम दुश्मन से मिलें और वो हम ही हैं।'

जिस वक्त एक गणतंत्र की शुरुआत होती है उस वक्त यह नेताओं की जिम्मेवारी होती है कि वे देश को प्रगति की राह पर ले जाने वाली संस्थाओं की स्थापना करें। भविष्य मे यही संस्थायें नेताओं को बनाती हैं। प्रश्न यह है कि आने वाले कल के नेता कहां हैं? इसका उत्तर एक और प्रश्न से ही मिल सकता है कि देश को बनाने वाली वे संस्थायें ही कहां हैं जो कि आने वाले कल के नेताओं को बनायें?

> "यदि धर्म घृणा का कारण बनता है, लोगों में विभाजन करता है, तो मानवता के लिए हितकर है कि वह बिना धर्म के ही रहे। घृणा फैलाने वाले धर्म का त्याग सबसे बड़ा धार्मिक कृत्य है।"
>
> —बहाउल्ला, बहाई धर्मगुरु

मजहब हमें सिखाता आपस में बैर रखना

'मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना' यह महज एक खोखला और बेमानी सिद्धान्त है। सच तो यह है कि मजहब हमें सिखाता आपस में बैर रखना। इस पंक्ति के लेखक मशहूर शायर इकबाल का विश्वास भी इस सिद्धान्त पर नहीं रह गया था। तभी तो बाद में जाकर उन्होंने लिखा था—मुस्लिम हैं हम, वतन है, पाकिस्तान हमारा। इतिहास इस बात का गवाह है कि मजहब ने इन्सान को जितना बाँटा है, उतना और किसी ने नहीं। मजहब के नाम पर जितनी लड़ाइयां लड़ी गयीं, और जितने लोग मारे गये, उतनी लड़ाइयां और कत्ले-आम और किसी नाम पर नहीं हुआ।

जो यह कहते हैं कि सारे मजहब मूलतः एक हैं, सबका लक्ष्य एक है और कोई मजहब, कोई धर्म बुराई नहीं सिखाता, वे खुद मुगालते में रहते हैं और दूसरों को मुगालते में रखते हैं। अगर सारे मजहब मूलतः एक होते तो अलग-अलग मजहब होने की आवश्यकता ही क्या थी? एक ही मजहब न होता? सच्चाई यह है कि पुराने मजहब की काट पर नये मजहब का जन्म होता आया है। हर मजहबी अपने मजहब को श्रेष्ठ मानता आया है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक मजहब के नाम पर जब-तब कत्ले-आम होता रहा है। ताजा घटना ईरान, ईराक की ही लें। ये पंक्तियां लिखे जाने तक ईराक-ईरान की लड़ाई में लगभग दस लाख व्यक्ति चार वर्षों में मारे जा चुके हैं। एक ही मजहब के दो फिरके—शिया और सुन्नियों के बीच यह लड़ाई अब भी (दिसम्बर १९८५) जारी है। ईरान के खुमैनी इसे धर्म-युद्ध यानी कि 'जिहाद' कहते हैं।

हिन्दुस्तान भी इससे अछूता नहीं रहा। प्राचीन काल में शैव-वैष्णव, शैव-जैन आदि सम्प्रदायों के बीच हुए झगड़ों में व्यापक स्तर पर नर-संहार हुआ। आज भी धर्म के नाम पर ही हिन्दू-समाज का एक बड़ा तबका 'शूद्र' के नाम पर

मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित है। क्या विडम्बना है, दक्षिण अफ्रिका में रंग-भेद नीति की हम घोर निन्दा करते हैं, पर अपने ही देश में जाति-भेद के नाम पर शूद्रों पर क्या-क्या अत्याचार नहीं करते !

आये दिन हिन्दू-मुसलमानों के बीच होने वाले दंगों का कारण मजहब नहीं तो और क्या है ? छोटी-छोटी बातों को लेकर मजहब के नाम पर लोग आपस में लड़ पड़ते हैं।' और जान लेने तक में नहीं हिचकिचाते। मजहब के नाम पर इंसान अपनी सारी इंसानियत खोकर वहशी हो जाता है। वह छोटे मासूम, निर्दोष बच्चों तक को नहीं बख्शाता। मजलूम बूढ़े और अबला नारी की हत्या करने तक में उसके हाथ नहीं कांपते। यह सब मजहब के नाम पर ही तो होता है !

हाल ही में पंजाब में जो कुछ हुआ, वह भी मजहब के नाम पर ही तो हुआ।

गांधीजी, मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना—की बात करते-करते मजहब की बलिवेदी पर कत्ल कर दिये गये।

एक धर्म से दूसरे के बीच भारी विरोधाभास होता है। किसी धर्म में हिंसा को तर्कसंगत माना गया है, तो किसी धर्म में कीड़े-मकोड़ों को मारना भी पाप माना गया है। एक धर्म दान को पुण्य मानता है, तो दूसरा (जैनियों का तेरापंथ सम्प्रदाय) दान को पाप बताता है। ईसा-मसीह एक गाल पर थप्पड़ मारने पर दूसरा गाल आगे कर देने की बात करते हैं, तो पैगम्बर मोहम्मद खुदा और कुरान में यकीन न रखने वालों को काफिर की संज्ञा देते हुए काफिर को मारना और सताना पुण्य मानते हैं।

हिन्दू धर्म इतने विरोधाभासों से भरा पड़ा है कि उसमें कहीं कोई सामंजस्य नहीं। वेद, पुराण, उपनिषद और स्मृतियों में कहीं कोई ताल-मेल नहीं। धर्म के अनेक रूप, अनेक व्याख्याएं अनेक रीति-रिवाज इनमें मिलेंगे।

दुनिया में, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, ऐसा कोई धार्मिक ग्रंथ नहीं जो विरोधाभासों से न भरा हो। जिसमें बकवास न हो। सबसे अफसोसनाक बात यह है कि धर्म को मानने वाले इन ग्रन्थों में लिखी गई बातों को ईश्वर की बातें मानते हैं। अन्ध-विश्वास की हद तक इनमें श्रद्धा रखते हैं। इन ग्रन्थों की पूजा करते हैं और इनमें लिखी बातों को ही सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम मानते हैं। वे यह जानते हैं कि इनमें लिखी अधिकांश बातें आज के युग में लागू नहीं हो सकतीं, जीवन में नहीं ढाली जा सकतीं। आज कोई हिन्दू, मुसलमान या सिख, ईसाई, बौद्ध या जैन दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि वह अपने धार्मिक ग्रन्थों में लिखी बातों का पालन करता है। फिर वह क्यों इन ग्रन्थों के नाम पर एक दूसरे से लड़ता है, एक-दूसरे का खून बहाता है, एक-दूसरे से नफरत करता है ?

भारत हजारों वर्षों से एक धर्म प्रधान देश रहा है। यहां कई धर्मों का जन्म तो हुआ ही, बाहर से आये धर्म भी यहां बेरोक-टोक फलते-फूलते रहे। मुस्लिम शासन काल में बादशाहों द्वारा हिन्दू प्रजा पर धर्म के नाम पर किये गये अत्याचारों के बावजूद धार्मिक सदभाव और सहिष्णुता कमोबेश यहा बनी रही। धार्मिक सद्भाव के लिए धार्मिक सहिष्णुता जरूरी है। धार्मिक सहिष्णुता उदारता से गहरा ताल्लुक रखती है। धार्मिक कट्टरता से तनाव उत्पन्न होता है।

आज के सन्दर्भ मे, आज की परिस्थिति मे किसी भी धार्मिक आचार संहिता को शब्दश: लागू नही किया जा सकता। किसी भी धर्म में धर्म की कही गई बातो का अक्षरश: पालन आज के युग में बिल्कुल असम्भव है। दुनिया की हर चीज परिवर्तनशील है। समय और काल के अनुसार चीजें बदलती हैं। फिर यह क्या अजीब बात नही कि लोग मजहब के सिद्धान्तो पर अमल तो न करे, पर मजहब के उन्ही सिद्धान्तो के नाम पर नफरत और दूरियां फैलायें?

इस्लाम में सूदखोरी, शराब, बलात्कार को घोर अपराध माना गया है। पर क्या मुसलमान सूद का धन्धा नही करते? शराब नही पीते? तो अगर वे ये सब धर्म के विरुद्ध आचरण कर सकते हैं, तो गाय न काटें या मस्जिद के सामने बाजे बजने दे, तो इस्लाम का क्या बिगड़ जायेगा?

कितने सिख हैं जो सिख धर्म के मूल सिद्धान्त---सरवत दा भला---का पालन करते है। सिख धर्म मे नशा करना पाप है, पर प्राय: सिख शराब पीते हैं। पर सिगरेट को लेकर ऐसा परहेज करते है कि उसको लेकर कई बार दगे तक भी हो चुके।

ऐसे कितने हिन्दू हैं जो धर्म का पालन करते हैं। हिन्दू दैनिक जीवन में धर्म के विरुद्ध आचरण करता है। पर देवी-देवता की सवारी को लेकर वह कटने-मरने को तैयार हो जाता है। गाय को स्वय भूखो मार देगा, पर मुसलमान द्वारा एक गाय के मारने-काटने पर इसान को काटने तक से नही हिचकिचायेगा।

लाखो हिन्दू नारियो को वेश्या बनाये रखने मे सहायक होने वाला हिन्दू समाज एक हिन्दू लड़की से मुसलमान द्वारा बलात्कार किये जाने पर खून का प्यासा हो जायेगा। हिन्दू द्वारा हिन्दू लडकी पर आये दिन होने वाले बलात्कारों पर कोई चूं तक नहीं करता।

कितने हिन्दू हैं जो सस्कृत मे लिखे वेद समझते है? कितने मुसलमान हैं जो अरबी मे लिखी कुरान समझते हैं? कितने सिख हैं जो उस वक्त की पंजाबी या गुरुमुखी में लिखा गुरुग्रन्थ साहब समझते हैं? बिना समझे ही इन ग्रन्थों की पूजा अर्चना करना क्या महज बेवकूफी नही है?

धर्मान्धता और पाखण्ड की वजह से बहुत सी ऐसी सामयिक सामाजिक परम्परायें इस्लाम धर्म मे अंगीकार होती चली गयीं जो धर्म के बुनियादी स्वभाव से बिल्कुल विपरीत थी। आज के युग मे अप्रासंगिक भी। 'बहुपत्नी' और 'तुरन्त तलाक' को मुसलमान इस्लामी अधिकार मानते हैं। वास्तव में ये सब मध्यकालीन अरब देशों की परम्परायें है। हालांकि पाकिस्तान बांग्ला-देश व अन्य मुस्लिम देशो मे कट्टरता के बावजूद इन धार्मिक कानूनों में सुधार हुआ है, लेकिन भारतीय मुसलमान इस यथार्थ को बिल्कुल नकार जाते हैं। हिन्दू मुसलमानो की कट्टरता ही नहीं बल्कि सख्या मे हिन्दुओं से ज्यादा बढने की योजना भी देखते है।

गहरे हरे रग, अर्धचन्द्र और सुन्नत को मुसलमान इस्लाम धर्म का अग मानते हैं। जबकि तथ्य यह है कि हरा रग और अर्धचन्द्र दोनो ही प्राचीन ईरान के शाही चिन्ह थे। मोहम्मद ने अपनी जिन्दगी मे कई रग के झडे फहराये। भगवा रंग भी उनके झडो मे शामिल हुआ। लेकिन हरे रग के झडे के नीचे वे कभी नही लडे। सुन्नत इस्लाम से भी प्राचीन परम्परा थी जो अरबों और यहूदियो में प्रचलित थी। इसका इस्लाम से कोई सम्बन्ध नही था। मुगल सम्राटों अकबर, जहागीर, शाहजहा, औरंजेब आदि किसी का भी सुन्नत नहीं हुआ था। किन्तु आज मुसलमानों की कट्टर धारणा है कि सुन्नत के बिना वे मुसलमान ही नही है। आक्रमणकारियो द्वारा आरम्भ की गयी ऐसी बहुत सी परम्परायें इस्लाम धर्म का अंग बनती चली गयी।

दरअसल हर समुदाय ने धर्म का मुखौटा लगा रखा है। धर्म मंदिर, मस्जिद, चर्चों, गुरुद्वारों में कैद कर दिया गया है और कट्टरपंथियो के हाथ की कठपुतली बन कर रह गया है। इसलिए सिद्धान्त मे भले ही धर्मों मे सहिष्णुता की बात हो, पर व्यवहार मे धर्म कभी सहिष्णु नही रहा। हा, इस्लाम एकमात्र ऐसा धर्म है जो सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में ही सहिष्णु नही।

धार्मिक अधविश्वास हमे अकर्मण्य, निर्भरशील और दुर्बल बनाता है। अमुक साधू या फकीर से जो मागो वही मिलेगा, अमुक मजार, गुरुद्वारे या मंदिर मे मनौती करो तो सब कुछ मिलेगा, अमुक देवी धनधान्य और सतान देने वाली है, अमुक देवता के पूजन या कांवड चढ़ाने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है—जैसी धारणाओं, मान्यताओं ने सारे देश की मानसिकता को इस तरह जकड रखा है कि लोग इससे उबर नहीं पा रहे हैं। हैरानी तो तब होती है जब हम देखते हैं कि पढे लिखे लोग भी इन सबमे विश्वास करते हैं। हम यह क्यो नही सोचते कि अगर गडे-ताबीज, जादू-टोने, तंत्र-मंत्र, पूजा-पाठ से ही समस्यायें हल होने लगती तो कोई भी दुखी नही होता, सारे के सारे लोग सुखी-सम्पन्न होते।

पर होता उलटा ही है। इस धर्म प्रधान, धर्मभीरुओ के देश मे ही सबसे ज्यादा गरीबी, बीमारी, अशिक्षा, अनाचार व अपराध जड जमाये हैं।

एक नही, कई-कई भगवानो, करोडो देवी-देवताओ, दर्जनो धर्मों के इस देश मे सबसे ज्यादा प्राकृतिक विपदायें घटती रहती हैं।

हजारो वर्षो से यह सब होता चला आरहा है और अगर हमने रास्ता न बदला यानी सही रास्ता न पकडा तो आनेवाले वर्षो मे ऐसा ही होता रहेगा। वैज्ञानिक दृष्टि ही हमे इस अधकार से बाहर निकाल सकती है।

धार्मिक आडम्बर अपने आप मे एक ऐसा सुसगठित व्यवसाय का रूप ले चुका है जिससे लाखों लोगो की रोजी-रोटी चलती है। धर्म से अपनी जीविका चलाने के साथ-साथ ये लोग समाज पर अपना वर्चस्व भी रखते हैं। धर्म के वर्तमान स्वरूप से इनका सीधा स्वार्थ जुडा है। ये कभी नही चाहेंगे कि धर्म के वर्तमान स्वरूप मे जरा भी परिवर्तन हो। इनका भला इसी मे है कि यह यथावत बना रहे। इनमे पडित, महत, मौलवी, मुल्ला तान्त्रिक, ग्रथी, पादरी सभी शामिल हैं। निहित स्वार्थियो का यह वर्ग काफी शक्तिशाली और सगठित है। इनकी भरपूर चेष्टा रहती है कि समाज मे जडता बनी रहे, ज्ञान के दरवाजे बन्द रहें, लोग कर्मकाड, टोने-टोटके, तत्र-मत्र मे आख मूँद कर विश्वास करते रहें, धर्मांधता, रूढिवाद समाज पर हावी रहे। धार्मिक कर्मकाड न रहें तो इनकी रोजी-रोटी कहा से चलेगी? जब भी कोई सुधार की बात होती है या धर्म के वर्तमान स्वरूप पर आघात होता है तो यह वर्ग पूरी ताकत से मुकाबले के लिए प्रस्तुत हो उठता है। इनको राजनीतिज्ञो का तो वरदहस्त प्राप्त है ही, भोलीभाली धर्मभीरू आम जनता भी आसानी से इनके बहकावे मे आ जाती है। किसी भी क्रान्तिकारी परिवर्तन को रोकने मे यह वर्ग अभी तक सक्षम और सफल रहा है।

ब्रिटिश हुकूमत की समाप्ति के बाद आजाद भारत का जो स्वरूप गठित हुआ, वह पिछले भारत से सर्वथा भिन्न था। इसमे रियासते नही थी। रजवाडे नही थे। यह था भाषा के आधार पर वर्गीकृत विभिन्न राज्यो से बना एक विशाल भारत जहा धर्मनिरपेक्षता के बावजूद प्रत्येक जाति व सम्प्रदाय को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

बहुजातीय, बहुभाषीय, बहुधर्मीय भारत प्राचीन काल से ही धर्मप्रधान देश रहा है। धर्म यहा लोगों के जीवन का एक अभिन्न अग रहा है, जिसने किसी वक्त लोगो मे आपसी सद्भाव उत्पन्न करने मे, नैतिक व चारित्रिक विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

पर समय के बदलते तेवर के साथ-साथ धर्म मे जिस वैज्ञानिक दृष्टि का समावेश

होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। इसके विपरीत इसमें कठमुल्लापन आ गया। धर्मगुरुओं ने अपना वर्चस्व बरकरार रखने के लिए सतही कर्म-काण्डों व आडम्बरों को बढ़ावा दिया। फलस्वरूप धर्म में कुरीतियां और विकृतियां पनपने लगीं। लेकिन हजारों सालों के धार्मिक संस्कारों की जड़ें इतनी गहरी पैठ चुकी थी कि विकृतियों और कुरीतियों के बावजूद धर्म के प्रति जनसाधारण में अन्ध श्रद्धा, आस्था व भीरुता बनी रही। स्थिति यहां तक आ पहुंची कि धर्म की आड़ में अधार्मिक आचरणों को सरक्षण व मान्यता मिलने लगी। अर्थ का मदमस्त हाथी धर्म की आत्मा को रौंदने लगा। इन सब का असर समाज पर पड़ना ही था। समाज का नैतिक व चारित्रिक पतन इस सीमा तक हो गया कि समर्थ लोग धर्मविरुद्ध आचरण करके भी धर्म के ठेकेदार कहलाने लगे।

दूसरी ओर आधुनिक और वैज्ञानिक युग का प्रभाव भी समाज पर पड़ा। आधुनिक सुविधाओं ने लोगों के जीवन को सरल और आरामदेह बनाया। उद्योग, कल-कारखाने लगे, विद्युतिकरण हुआ। अंतरिक्ष में उपग्रह छोड़े गये। कहने का मतलब यह कि धर्म के अलावा जीवन के हर क्षेत्र पर विज्ञान का प्रभाव पड़ा।

इन सब का परिणाम यह हुआ कि विज्ञान जहां मनुष्य को आगे बढ़ने के उपाय उपलब्ध कराता रहा, वहीं धर्म उसे पीछे की ओर खींचता रहा। वैज्ञानिक और धार्मिक परिवेश में ताल-मेल बैठाने के लिए वह सुविधावादी दृष्टिकोण अपनाने लगा। चूंकि धर्म का निष्काम व निस्वार्थ स्वरूप कब का लुप्त हो चुका और उसकी जगह वाह्य-आडम्बर, क्रिया काण्डों व पाखण्डों ने ले ली थी, अतः इन पाखण्डों के पालन मात्र से ही उसे समाज में धर्मात्मा के रूप में पहचान और और सम्मान मिलने लगा। दूसरी ओर नैतिक और मानवीय मूल्यों को दरकिनार रख वह अर्थ साधना में व्यस्त हो गया। अनैतिक व अवैध तरीके से बेशुमार धन अर्जित करने लगा। तथाकथित धर्मप्रधान समाज में अब उन लोगों को प्रतिष्ठा मिलने लगी, जिनके पास अगाध काला धन है। नैतिक व मानवीय मूल्यों के लिए समर्पित लोग उपेक्षा और अवहेलना के पात्र हो गये।

धीरे-धीरे सुविधावादी दृष्टिकोण ने धर्म के उदार और लचीले स्वरूप को नकारना शुरू किया। जिन नैतिक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठापना के लिए धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, उन्हें जातिवाद, साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता ने खत्म कर दिया।

हो सकता है, विकास की प्रक्रिया में कभी धर्म प्रासंगिक रहा हो, लेकिन आज के सन्दर्भ में यह अपने आप में बेमानी हो गया है। धर्म का ढंग बिल्कुल विचित्र है। प्रत्यक्ष छान-बीन की पहुंच से परे जो प्रदेश है, धर्म का मुख्यतः उसी से सम्बन्ध है। वह भावना और अन्तर्दृष्टि का सहारा लेता है। संगठित

धर्म धर्मशास्त्रो से मिलकर ज्यादातर निहितस्वार्थों से जुड जाता है। वह एक ऐसे स्वभाव को बढ़ावा देता है, जो विज्ञान के स्वभाव से उल्टा है। उससे सकीर्णता, गैरवादारी, भावुकता, अन्ध-विश्वास, सहज-विश्वास और तर्कहीनता का जन्म होता है। उसमे आदमी के दिमाग को बन्द कर देने का, सीमित कर देने का रुझान है। वह ऐसा स्वभाव बनाता है, जो गुलाम आदमी का, दूसरो का सहारा टटोलने वाले का होता है।

अतः जब ओछे लोगों के हाथ में धार्मिक नेतृत्व आ गया तो धर्म की विशालता और मर्यादा भी संकुचित दायरे मे कैद हो गयी। राष्ट्र, समाज व इंसान के हितो को ताक पर रख निजी हितों के लिए सीधे-सादे अन्ध श्रद्धालुओं की धार्मिक भावनाओ का शोषण धार्मिक नेतृत्व करने लगा। धर्म के सिंहासन से अहिंसा, शान्ति और प्रेम के मंत्र फूंकने के बजाय हिंसा, अलगाव और वैमनस्य के बीज लोगों के मन में बोये जाने लगे। अन्ध धार्मिक सस्कारों से ग्रस्त धर्म पर अन्धी श्रद्धा और विश्वास रखने वालो ने इसे धर्मादेश समझ कर स्वीकार करना शुरू किया। जिस धर्म ने कभी सम्पूर्ण आर्यावर्त को एकता के सूत्र मे बाधे रखा था वही आज देश को तोडने का एक खतरनाक व भयानक हथियार बन उठा है।

इस शताब्दी के दूसरे दशक मे धर्म को प्रत्यक्ष रूप से राजनीति से जोडा गया। धर्म का प्रयोग राजनीतिक हितो के लिए किये जाने की शुरुआत हुई। मुस्लिम बहुल राज्यों पर इसका असर अधिक पडा और कईयो ने इसके खतरे को महसूस किया। कम्युनिष्ट पार्टी के संस्थापक, मुजफ्फर अहमद ने लोगों को इस खतरे के प्रति आगाह एवं सचेत भी किया। वे महाकवि नजरुल इस्लाम के करीबी मित्रो मे से थे और 'लांगल' पत्र के सम्पादक थे। उन्होंने १९२६ के 'लांगल' के एक अंक मे लिखा था—"बादलों से पूरा आकाश बुरी तरह ढक गया है। अभी की शान्ति और नीरवता भंयकर तूफान आने से पहले की है। हिन्दू महासभा, हिन्दू संगठन शुद्धि आन्दोलन, खिलाफत, तवलीग, तनजीम तथा मुस्लिम लीग आदि की स्थापना भविष्य के लिए एक ऐसी घातकपूर्ण स्थिति की जमीन तैयार कर रहे है; जहां भारत की उन्नति का स्वप्न देखने वाली सम्पूर्ण आशायें मटियामेट हो जायेंगी।"

किसी वक्त समाजवादी कहलाने वाले लाला लाजपत राय हिन्दू महासभा के एक प्रमुख स्तम्भ हो गये। वे इसके लिए जो भी कारण दें, और इसे जिस प्रकार भी उचित ठहरायें, लेकिन यह निश्चित है कि हिन्दू महासभा से भारत का कोई भला नही हो सकता। इसके विपरीत यह संकटो और समस्याओं का ही कारण बनी। इसी तरह जेल से आने के पश्चात् डा० सैफुद्दीन किचलू

ने तो यहा तक कहा था कि हिन्दू मुस्लिम एकता के लिये वे अपनी जान तक कुर्बान कर सकते है। और बाद मे वही डा० किचलू तनजीम आन्दोलन के अगुआ बन बैठे।

कांग्रेस इतना बडा विशाल मंच था जहा किसी जाति, किसी धर्म और किसी भी वश के लोग एकजुट हो सकते थे। किन्तु, साम्प्रदायिक संगठनों की स्थापना और धार्मिक कार्यक्रमो के बेतहाशा आयोजनो से कांग्रेस की जीवतता कम हो गई।

साम्प्रदायिक दलो का चरित्रगत विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि ब्रिटिश शासन काल में उनकी भूमिका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ब्रिटिश समर्थक रही। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम की मुख्य धारा से ये तत्व कटे रहे।

आज अखण्ड भारत की माग करने वाला राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ स्वतन्त्रता के पूर्व स्वतन्त्रता-सग्राम मे कही नही था। मुस्लिम लीग की भूमिका से तो सभी जानकार है ही। सिखों का साम्प्रदायिक संगठन सिंह सभा, मुसलमानों का जमायते इस्लामी, सभी अंग्रेज परस्त थे। आर्य समाज मे दो गुट थे। एक आजादी की लड़ाई से जुड़ा था, पर सत्तारूढ गुट हमेशा अंग्रेजो का साथ देता रहा। हिन्दू महासभा का चरित्र भी कमोबेश यही रहा। कुछेक नेता जैसे वीर सावरकर आदि स्वतन्त्रता संग्राम से जरूर जुडे रहे।

साम्प्रदायिकता और आपसी वैमनस्य को बढ़ाने में राजनीतिक नेतृत्व का भी बहुत बडा हाथ रहा। वे अपने अनुयायियों की जाति तथा सामाजिक स्थिति के अनुरूप ही उन्हें प्राथमिकता व महत्व देते है। अपने सभी अनुयायियों के प्रति समान दृष्टिकोण नही होता।

दो राष्ट्र के सिद्धान्त के जन्मदाता सर सैयद अहमद ने १८८८ में कांग्रेस का विरोध किया था कि विधायक काउन्सिल मे भारतीयों को ज्यादा सीटें मिलनी चाहिये। उन्होने कहा था—"क्या उच्च परिवार का कोई सदस्य अपने आप को निम्न वर्ग एवं स्थिति के व्यक्ति द्वारा शासित किया जाना पसन्द करेगा, भले ही वह व्यक्ति कितना ही शिक्षित गुणवान और निपुण क्यो न हो? कदापि नहीं। सरकार की कौंउन्सिलर सीट की अपनी इज्जत है और सरकार इसे उच्च वर्ग के किसी स्तरीय व्यक्ति को ही दे सकती है न कि किसी ऐरू-गैरू को।" सर सैयद की इसी कट्टरता और दो राष्ट्र के सिद्धान्त ने देश का विभाजन करवाने मे मदद की।

इसी प्रकार ख्यातिप्राप्त मौलवी अशरफ अली थानवी भी मुसलमानो के मध्य समानता के घोर विरोधी थे। उन्होने उच्च और निम्न वर्ग की बात की। ऊंच-नीच और जाति-पांति की दीवार को उन्होने और पक्का किया।

वे कहते रहते थे—शेख, सैयद और अलाविस समान हैं। मुगल और पठान एक ही जाति के है तथा उनकी शेखों और सैयदों से किसी भी प्रकार तुलना नही की जा सकती। जुलाहे, नाई और धोबी दर्जियों के बराबर नही। बाप-दादाओं के और पूर्वजो के मुसलमान बनने के आधार पर भी जातीय स्तर निर्धारित होता है।

धर्म का राजनीति मे हस्तक्षेप तथा धार्मिक व राजनीतिक नेतृत्व द्वारा साम्प्रदायिकता की बैसाखी के सहारे अपना वर्चस्व बनाये रखने की क्रमश: कोशिशों का सबसे ज्यादा असर लोगों की राष्ट्रीय भावना पर पड़ा। उनके सामने अपनी जाति, अपना धर्म अधिक महत्वपूर्ण होने लगा। वे भूलने लगे कि भारत राष्ट्र है और पहले वे भारतीय हैं। साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता आज देश की एकता की जड़ो को खोखला कर रही है। आज स्थिति ऐसी भयावह हो उठी है कि भारत मे ही भारतीय नही मिलेंगे।

विभाजन के तुरन्त बाद पाचवें दशक तक और आजादी के दिनों मे राष्ट्र सर्वोपरि था।

हमारी धर्मनिरपेक्षता साम्प्रदायिकता दंगों और देश के विभाजन के संकटों के बाद उपजी थी। इसी आधार पर तो संविधान मे धर्मनिरपेक्षता को स्थान मिला लेकिन विचार धर्मनिरपेक्ष न बन पाये।

१९६० के दशक के बाद आर्थिक व राजनैतिक सत्ता की छीना-झपटी शुरू हुई, उसमे धर्म और राजनीति का सैद्धान्तिक विभाजन खत्म हो गया। दरअसल निजी स्वार्थों की प्राथमिकता की वजह से व्यवहार मे यह विभाजन रह भी नही सकता था। इसलिए जब अपना स्वार्थ सर्वोपरि हो गया तो धर्मनिरपेक्षता जवाब दे गयी। अपने ओछे स्वार्थो की पूर्ति के लिए लोगो ने साम्प्रदायिकता और धार्मिक उन्माद को भुनाना शुरू कर दिया। नतीजतन राष्ट्रीयता पर साम्प्रदायिकता हावी हो गयी।

धर्म के नाम पर आये दिन छोटी-छोटी बातो को लेकर किस तरह दंगे भड़क उठते हैं और लोग पाशविक बर्बरता पर उतर आते है, निर्दोष लोगों, अबोध, मासूम बच्चो तथा औरतो तक पर अत्याचार तथा उनकी निर्मम हत्या करने से भी नही हिचकते। सैंकड़ो—हजारों लोगो की राक्षसी बर्बर हत्या से भी आज हमारा दिल नही दहलता। आखो मे दो बूंद आसू तक नही आते। इसानी मौत के आकडो को क्रिकेट के स्कोर की तरह लेने के आदी हो गये हैं हम। इंसानियत की आधारशिला संवेदनशीलता से रीता हो गया है हमारा हृदय। अगर इस प्रक्रिया को पूरी दृढता के साथ प्रभावी ढंग से न रोका गया तो यह देश कातिलों, राक्षसों और हत्यारों का देश बन जायेगा।

इसके पहले कि हम जोखिम के मुहाने पर पहुंच जायें, देश की राजनीतिक, सामाजिक, परिस्थिति में प्रभावी हस्तक्षेप की जरूरत है। इसके लिए जरूरी है कि उन वास्तविक कारणों का ईमानदारी और साफगोई से अध्ययन किया जाये, जिनकी वजह से खतरा उत्पन्न हुआ है। इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि उसी ईमानदारी, साफगोई और दृढ़ता से उन कारणों को दूर करने का रास्ता निकाला जाय। सही तलाश पर ही हमारे देश की एकता, अखण्डता तथा लोकतांत्रिक प्रणाली का भविष्य निर्भर है।

धर्मनिरपेक्षता हमारे देश की एकता और अखण्डता का एक प्रमुख स्तम्भ है। हमारा देश विभिन्न धर्मों, जातियों एवं उपजातियों का देश है। धर्मनिरपेक्षता से ही सब को एकता की कड़ी में बांधे रखा जा सकता है। विचारों और व्यवहारों में हम धर्मनिरपेक्ष बनें, इसके लिए आवश्यक है पूर्ण प्रतिबद्धता तथा मन वचन और कर्म में एकरूपता। प्रतिबद्धता में कमजोरी व ह्रास चिन्तनीय है। लेकिन केवल चिन्ता करना ही काफी नहीं। चिन्तित लोगों को यह भी बताना चाहिये कि इस दिशा में क्या और कैसे किया जाना चाहिये। क्योंकि सतही प्रयासों से इस समस्या का मुकाबला नहीं किया जा सकता।

अगर धर्म को बाद दे दिया जाये, तो हिन्दू और मुसलमानों के बीच एकता के सूत्र ज्यादा मजबूत हैं। हिन्दू और मुसलमानों के बीच दूरी की वजह धर्म और धर्म-प्रभावित आज की राजनीति है।

हिन्दू धर्म में लाख बुराइयां हों, पर वह औरों के प्रति सहिष्णु है। अगर ऐसा न होता तो पहली सदी में संट थामस और सातवीं सदी में पहली बार जब मुसलमान केरल आये, तो उन्हें हिन्दू हरगिज बर्दाश्त नहीं करते और आसानी से निकाल बाहर करते। हिन्दुओं की सहिष्णुता की वजह से ही वे बिना किसी बल-प्रयोग के हिन्दुओं को ईसाई और मुसलमान बनाने लगे थे। यहूदी और पारसी सैकड़ों वर्षों से इस देश में रह रहे हैं पर हिन्दुओं की ओर से उन पर कभी कोई जुल्म नहीं किया गया।

हिन्दू अगर असहिष्णु रहे हैं तो अपनी ही जाति के प्रति रहे हैं। अपने ही समाज की नारी जाति का कम शोषण हिन्दुओं ने नहीं किया। जन्म से जाति जैसी अमानवीय प्रथा इसी धर्म की देन है। हिन्दू जाति का सबसे ज्यादा अहित मनु ने किया। मनु ने ही जन्मगत जातिप्रथा को विधिवत मान्यता दिलवाई। नारी के बारे में उन्होंने लिखा कि अगर भूल से भी नारी वेद मंत्र सुन ले, तो उसके कान में जलता हुआ शीशा डाल देना चाहिये। उन्होंने नारी के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए लिखा कि वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त पिता-

पति और पुत्र के आधीन है। ये सारी बातें हिन्दू-मुसलमानो के बीच कोई विभेद नही पैदा करती।

जहा तक इस्लाम का प्रश्न है, वह गैर धर्मावलम्बियों को बरदाश्त नही करता। इस्लाम और हिन्दू धर्म मे इतना टकराव है कि दोनो मे तब तक सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध नही हो सकते, जब तक कि मुसलमान आज के युग के अनुसार अपने आचार-व्यवहार और धार्मिक दृष्टिकोण मे सामंजस्य स्थापित नही करते। इससे न केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित होगी, बल्कि मुसलमान पिछड़ेपन से उबर सकेंगे और आज के वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों का लाभ उठा सकेंगे।

यह बड़े दु:ख की बात है कि हमारे देश के मुसलमानो मे कठमुल्लापन दूसरे देशों के मुसलमानो की अपेक्षा ज्यादा ही है। (सऊदी अरब और कुवैत अपवाद है)। यहा तक कि पाकिस्तान, बांग्लादेश मे भी मुसलमानों ने अपने आप को समय के साथ ढाला। जनरल अयूब के वक्त समाज सुधार के कई कानून बने, जिनको उन्होने स्वीकार किया। ईराक, सीरिया, लीबिया, तुर्की आदि देशो में तो मुसलमानो मे काफी परिवर्तन आया है। इतना ही नही गैर-मुस्लिम पश्चिमी देशों मे मुसलमान उन देशो के कानूनों को मानते हुए रह सकते है, पर भारत मे वे अपना पर्सनल-लॉ चाहते है। अगर उन देशों में वे अपने आप को वहा के मुताबिक ढाल सकते है, तो भारत में क्यों नही ?

. गाय को ही लीजिये। हिन्दू गाय की पूजा करते हैं, जबकि मुसलमान ईद और बकरीद के अवसर पर गाय काटना पुण्य समझते हैं।

. हिन्दू कोड बिल के अनुसार हिन्दू एक से अधिक विवाह नहीं कर सकता, पर मुसलमान अपने धर्म के अनुसार चार विवाह कर सकता है।

सूअर से मुसलमानों को सख्त नफ़रत है, जबकि हिन्दू धर्म में सूअर को एक अवतार माना गया है।

होली का त्यौहार मुसलमानों के धर्म के अनुसार धर्म-विरोधी है।

मस्जिद के सामने बाजा बजाना मुसलमानों को बर्दाश्त नही। वे इसे अपने धर्म पर आघात मानते हैं।

मातृभूमि की वन्दना को मुसलमान धर्म-विरोधी मानते है, जबकि हिन्दू दर्शन मे जन्म देने वाली मा और जन्मभूमि को स्वर्ग के बराबर माना गया है। मुसलमानों को वन्दे मातरम् के नारे से इसीलिए चिढ़ है और कई बार इस नारे पर प्रतिबन्ध लगाने की माग कई मुस्लिम-मंचो से की जा चुकी है।

. हिन्दू आम तौर पर मूर्तिपूजक है और मुसलमान मूर्ति-भंजक। मुसलमान मूर्तियो को तोड़ना पुण्य का कार्य समझते है, क्योकि उनके पैगम्बर मोहम्मद ने

मूर्ति तोड़ कर अपने अनुयायियों को इस्लाम की शिक्षा दी थी।

दोनों धर्मों की आचार-संहिता में इन विरोधाभासों के रहते हिन्दू-मुसलमानों मे एकता कैसे हो सकती है ? हमने साफगोई से बात इसलिए की है, क्योंकि हम हिन्दू-मुस्लिम एकता के हामी हैं और समस्या की तह तक जाकर उसे सुलझाने के पक्षपाती हैं।

अगर कोई किसी धर्म में विश्वास रखता है और उसका अनुयायी है, तो यह उसका विशुद्ध व्यक्तिगत आस्था का प्रश्न होना चाहिये। इसका सार्वजनिक प्रदर्शन नही होना चाहिये। क्योंकि एक धर्म के अनुयायी अगर अपने धार्मिक-कृत्यों का सार्वजनिक प्रदर्शन करेंगे, तो दूसरे धर्म वाले भी करेंगे। यह देखा गया है कि इस तरह के सार्वजनिक प्रदर्शनों से प्रतियोगिता की भावना पैदा होती है। लोग एक दूसरे से बढ़-चढ़ कर प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार अपने धार्मिक अहम् की तुष्टि करते है। जिस देश में ७० प्रतिशत लोग गरीब हों और गरीबी की रेखा से नीचे हो, उस देश मे धर्म के नाम पर होने वाले सार्वजनिक प्रदर्शन मे हर वर्ष करोड़ों नहीं अरबों रुपयों का अपव्यय हो, यह कहां तक न्यायोचित है ? इस विशाल धनराशि, समय एवं मानव-श्रम का अगर जनहित में प्रयोग किया जाय तो इसके चमत्कारिक नतीजे हो सकते हैं।

हर वर्ष सारे देश मे लाखों लोग मीलों चल कर कावड़ चढ़ाते हैं। दीवाली मे करोड़ो की आतिशबाजी जलाई जाती है। दुर्गापूजा, कालीपूजा, सरस्वती पूजा में दो-तीन दिन में करोड़ों का अपव्यय होता है। तरह-तरह की धार्मिक सवारियों मे अनाप-शनाप खर्च होता है।

हिन्दुओं की देखा-देखी मुसलमानों में भी धार्मिक अवसरों पर सार्वजनिक प्रदर्शनों के दौरान ज्यादा से ज्यादा दिखावा व बेशुमार खर्च होने लगा है। माईक लगा कर कीर्तनों के जवाब मे मस्जिदों पर भी माईक लग गये हैं। मुहर्रमों का जुलूस दिन व दिन बड़ा होता जा रहा है। ईद और शब्बेबरात मे दीवाली की तरह आतिशबाजी छोडी जाने लगी है।

इस तरह की प्रतियोगिताओं ने दोनों सम्प्रदायों के बीच दूरी को बढ़ाने मे मदद की है। धार्मिक त्योहारों के अवसर पर साम्प्रदायिक दंगों की संभावनायें बढ गई हैं।

लोकतंत्र के सही ढंग से काम करने तथा राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक एकता और संस्कृति के विकास के लिए यह जरूरी है कि भारतीय जीवन से साम्प्रदायिकता हटाई जाये। जब तक धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लेपन के खिलाफ, धर्म और राजनीतिक गठबंधन के खिलाफ, धार्मिक-स्थलों से चलने वाली राजनीति के खिलाफ हर मोर्चे पर राजनीतिक और वैचारिक संघर्ष नही छेड़ा जाता, तब तक

साम्प्रदायिकता के विरुद्ध सफल लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। पर प्रश्न है, यह संघर्ष छेड़े कौन ? राजनीतिक दल दलगत राजनीति के दलदल में इस कदर फसे हैं कि वे साम्प्रदायिकता की बैसाखी के सहारे उस दलदल मे और धंसते चले जा रहे हैं। बौद्धिक वर्ग के निजी स्वार्थ लिए समझौतापरस्त दोगले चरित्र ने उसे एकदम प्रभावहीन बना कर रखा दिया है। बौद्धिक वर्ग में न तो ऊर्जा है और न ही नैतिक साहस।

साम्प्रदायिकता आज राष्ट्र की मुख्य दुश्मन है, जिसका धार्मिक कट्टरता से चोली-दामन का सम्बन्ध है। धार्मिक कट्टरता का मुख्य अवलम्बन है—धर्मान्धता। धर्मान्धता मनुष्य के विवेक और सोचने की शक्ति को नष्ट कर देती है। जो दूसरों के कंधों पर से बन्दूक चलाते हैं, सबसे पहले विवेक उनका ही नष्ट होता है। इतिहास के पन्नों पर खून के छींटे जितने धर्मान्धता ने लगाये हैं, उतने रक्तलोलुप राजसत्ता ने भी नही। धर्मान्धता की यह स्थिति पिछले सौ वर्षों से हमारे देश में बड़ी तेजी से पनपी है। पहले अंग्रेजों ने हवा दी। अंग्रेज चले गये तो वही काम हम कर रहे हैं।

हमें पूरी तह मे जा कर सच्चाई के मोती को खोजना होगा और परखना होगा उन मूल्यों को जिनको हम जी रह हैं। उपदेश देना बहुत आसान है, पर कठिन है आगे बढने की सही राह खोजना। जड परम्पराओं, पूर्व स्मृतियों एवं धर्मग्रन्थो को थोड़ी देर के लिए भूल कर, पूर्वाग्रह और धर्मान्धता के अंधेरो से मुक्त होकर नई स्मृतियो, नये आदर्शों और नये मूल्यों को गढ़ें। जांचने-मापने की नई स्केल बनायें जो विशुद्ध रूप से मानवतापरक हो। धर्म ने आज अलगाववाद, दुराग्रह, कट्टरता, असहिष्णुता और पाखण्ड की सलाखों मे मनुष्य को कैद कर रखा है। तभी तो मंदिर में घंटे, घड़ियाल बजा कर आरती उतारने, मस्जिदो में अजान देकर नमाज पढ़ने, गिरजों में घंटे बजा कर प्रार्थना करने, गुरुद्वारे के पवित्र ग्रन्थ पर चंवर डुला कर कीर्तन करने को ही मनुष्य धर्म समझ बैठता है। लेकिन ये सब व्यक्ति का धर्म हो सकते हैं। मनुष्य का, इंसानियत का धर्म नहीं। मनुष्य का तो एक ही धर्म है, दूसरों के लिए जीना। व्यक्ति और मनुष्य के धर्म के इसी अंतर से लोगों को परिचित कराना होगा। इस फर्क की पहचान करानी होगी। किसी भी साम्प्रदायिक संगठन को, जो धर्म, प्रजाति, जाति के आधार पर सदस्य बनाता है या सदस्यता से वंचित करता है, उसकी राजनीतिक दखलन्दाजी को तो कानूनन अवैध करार करना ही चाहिये, साथ ही इनके द्वारा धार्मिक मंच से राष्ट्र और मानव धर्म विरोधी हरकतों के खिलाफ जनगण में मानसिकता बनानी चाहिये। इनके द्वारा धर्मान्धता को बढावा देने व धर्मान्धता के खतरे से भी लोगों को आगाह करना

हमारा परम कर्तव्य होना चाहिये, ताकि जब इनके खिलाफ राजनीतिक, वैचारिक संघर्ष छेड़ा जाये, तो उसमे जनगण भी अपनी भूमिका स्पष्ट दृष्टि के साथ व दृढ़ता से निभा सकें।

भारत मे दोनों बातें एक साथ बढी। . एक ओर तो विचारों और सिद्धान्तों में हमने अधिक से अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यन्त संकीर्ण होते गये। यह विभक्त व्यक्तित्व, सिद्धान्त और आचरण का यह विरोध, आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे है। कितनी विचित्र बात है कि अपनी दृष्टि की संकीर्ण आदतों और रिवाजों की कमजोरियों को हम यह कह कर नजरअन्दाज कर देना चाहते हैं कि हमारे पूर्वज बडे लोग थे और उनके बडे-बडे विचार हमें विरासत मे मिले हैं। लेकिन पूर्वजों से मिले ज्ञान एवं आचरण में भारी विरोध है और जब तक हम इस विरोध की स्थिति को दूर नही करते, हमारा व्यक्तित्व विभक्त का विभक्त रह जायेगा।

—जवाहर लाल नेहरु, ३० सितम्बर १९५५

मुसलमान और भारतीय संस्कृति

इस्लामी संस्कृति के सम्पर्क में भारतीय संस्कृति ने अनेक नये दृष्टिकोण एवं विचारों को ग्रहण किया। इस सम्पर्क से भारतीय संस्कृति और सम्पन्न हुई। हमारी संस्कृति एवं सभ्यता दोनों को पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान और दर्शन से परिचय कराने का बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम संस्कृति को है, क्योकि वह योरोप मे फैलाव की वजह से पाश्चात्य सस्कृति का बहुत प्रभाव ग्रहण कर चुकी थी। पाश्चात्य दर्शन, विज्ञान तथा चिकित्सा शास्त्र से साक्षात्कार का इसको अवसर मिला। कागज के प्रयोग और खगोलशास्त्र मे विभिन्न तकनीकी शब्दावलियों के परिचय से एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया।

इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय ने भारत के जनगण को भावनात्मक रूप मे बहुत गहरे प्रभावित किया। खडी बोली की कविता, कव्वाली, गजल, अमीर खुसरो की रचनायें, सितार, तबला, सारंगी, सुरश्रृंगार, दिलरुबा आदि हमारी संस्कृति का अंग बन गये। हिन्दुओं के धार्मिक और सामाजिक अवसरों पर शहनाई-वादन शुभ माना जाता है। बिस्मिल्ला खां की शहनाई से कौन भारतीय परिचित नहीं? उत्तर भारत मे कत्थक की लोकप्रियता, कुतुब से लेकर ताजमहल तक की बेजोड स्थापत्य कला, पुस्तक बांधने की कलात्मक शैली, तैमूरनामा और रज्मनामा की सुन्दर और सजावटपूर्ण लिखावट, फारसी में महाभारत का अनुवाद,

मुगल शासकों के शानदार बेहतरीन चित्र आदि हमारी उस सांस्कृतिक परम्परा की अमूल्य धरोहर है, जो इस्लाम से प्रभावित हो समृद्ध हुई। उर्दू का अभ्युदय इस काल की उल्लेखनीय घटना ही मानी जायेगी, जिसने खड़ी बोली के भंडार को और समृद्ध किया। यह कहना उचित ही होगा कि उर्दू ने, खड़ी बोली के विकास मार्ग को तो प्रशस्त किया ही साथ ही हिन्दी यानी खड़ी बोली को सम्पर्क भाषा बनाने में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। अरबी, फारसी और तुर्की के सैकड़ों रोजमर्रा के शब्दों को खड़ी बोली ने बहुत स्वाभाविकता से अपनाया। जैसे रोटी, चपाती, फुलका, पुलाव, चरखा, बन्दूक, कागज, आराम, चपरासी, जमादार, देहात, मोहल्ला, जिला, जमींदार, सरदार, पायल, दारोगा, पेशकार, लिफाफा, पता, लुंगी, पाजामा, तबला, सुराही, जलेबी, कुर्सी, पर्दा, दरी, दुकान, पेशा, हज्जाम, इस्त्री, दर्जी, दलाल, तगादा आदि सैकड़ों शब्दों को हिन्दी ने इस कदर आत्मसात कर लिया कि अधिकांश के पर्याय ही नहीं मिलेंगे।

भारत में अरबों का आगमन इस्लाम से भी पहले का है। ये भारत के पश्चिमी तट पर व्यापारी के रूप में आये। धीरे-धीरे व्यापार बढ़ने के साथ-साथ दोनों में सम्पर्क बढ़ा। भारत के वैभव, सम्पन्नता तथा समृद्धशाली सांस्कृतिक परम्पराओं की यशोगाथा इन अरब व्यापारियों के माध्यम से अरब व फारस के देशों में पहुंचने लगी। ७१२ ई० में मोहम्मद बिन कासिम सिन्ध में हमलावर के रूप में आया, सिन्ध प्रदेश पर कब्जा कर उसने एक शक्तिशाली राज्य की नींव डाली। उसके उत्तराधिकारियों ने उसे और सुदृढ़ किया। १३वीं सदी तक यह पहले खलीफों के राज्य के रूप में और बाद में एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में, तत्पश्चात् दिल्ली सल्तनत के अधीन हो गया। अतः सिन्ध और आस-पास के प्रदेशों पर अरब संस्कृति का अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा जबकि दिल्ली सल्तनत और अन्य मुस्लिम प्रदेश ईरान (फारस) से प्रभावित थे।

अरबों के निकट सम्पर्क का प्रभाव सिन्ध प्रदेश की भाषा व संस्कृति पर विशेष रूप से पड़ा। अरब लिपि का स्पष्ट प्रभाव सिन्धी लिपि पर दिखाई देता है। कई मुस्लिम विद्वान सिन्ध में भारतीय ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन करने आये। उन्होंने संस्कृत सीखी और भारतीय चिकित्सा-शास्त्र, औषध-शास्त्र, खगोल-शास्त्र, ज्योतिष-विद्या, विष-विद्या एवं दर्शन में गहरी दिलचस्पी ली। बगदाद में भारतीय शास्त्र और दर्शन से सम्बद्ध एक केन्द्र खोला गया जहां संस्कृत के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद हुआ।

इस सम्बन्ध का पहला प्रामाणिक लेख ७२१ ई० में मिलता है।

एक हिन्दू खगोलशास्त्री और गणितज्ञ ने बगदाद में ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मदर्शन

के अरबी संस्करण द्वारा अरबवासियों को इस सिद्धान्त से परिचित कराया। हालांकि इसकी कोई प्रतिलिपि उपलब्ध नहीं है, पर ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध है, जो यह सिद्ध करते हैं कि गणित और खगोल-शास्त्र की पुस्तकों का काफी अनुवाद हुआ था।

भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की अधिकांश पुस्तको का अरबी में अनुवाद हुआ। चरक और सुश्रुत जैसे प्रकाण्ड पण्डितो की पुस्तकों का अरबी में अनुवाद हुआ। भारतीय चिकित्सको को अरबों के कुलीन वर्ग में विशेष सम्मान और विश्वास प्राप्त होता था। सरकारी अस्पतालों मे भी उनकी नियुक्ति की जाती थी। खलीफा हसन अल रशीद के राजकीय चिकित्सक माणक का, जिक्र भी आता है, जो भारतीय थे।

विभिन्न विषयो के प्राचीन ग्रन्थो के अलावा भारतीय साहित्य एवं दर्शन ने भी पश्चिमी एशियाई देशो मे अच्छी ख्याति अर्जित की और जनमानस पर गहरा असर डाला। ८वीं शताब्दी मे जन्मे अबु मासर सिंधी ने पैगम्बर मोहम्मद की जीवन-गाथा लिखी और अरब देशो में काफी चर्चित हुए। अरबी की कई पुस्तको में सिंधी कवियों और विद्वानों का उल्लेख मिलता है। अताउल्ला सिन्धी के कसीदे, मर्मभेदी विरह गीत अरबी साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

बहुत से अरब यात्रियों ने अपनी सिन्ध यात्रा के संस्मरणो मे हिन्दू-मुसलमानों के घनिष्ठ सम्बन्धों का जिक्र किया है। उस वक्त हिन्दुओं के लिए 'जिम्मी' शब्द प्रयुक्त होता था। उन्हें 'काफिर' नही कहा जाता था। गौ-हत्या भी वर्जित थी। हिन्दू और मुसलमान दोनो एक-दूसरे के धर्म को न केवल आदर की दृष्टि से देखते थे, बल्कि अध्ययन, मनन में भी काफी रुचि लेते थे। ८८६ में मंसुरा—एक भाषाविद ने कुरान का स्थानीय भाषा मे अनुवाद किया था।

ज्ञान-विज्ञान, साहित्य-दर्शन के इस आदान-प्रदान ने हिन्दू-मुसलमानों को न केवल करीब लाने में ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, बल्कि एक दूसरे की संस्कृति एवं ज्ञान के भंडार को और अधिक समृद्ध किया। प्रारम्भिक मध्यकाल का यह भारत अभी परिवर्तनो और संक्रमणों के दौर से गुजर रहा था। मुस्लिम संस्कृति एवं तहजीब ने भारतीय संस्कृति को प्रभावित करना शुरू कर दिया था। अरब और फारस के देशों से मुसलमानों का आना और यहीं बस जाना, हिन्दुओं द्वारा धर्म परिवर्तन कर इस्लाम की शरण मे जाना आदि मुसलमानों और इस्लाम के बढते हुए प्रभाव के द्योतक थे। लेकिन अभी तक मुस्लिम सम्प्रदाय का स्पष्ट चरित्र व अस्तित्व न उभर पाया था। धर्म परिवर्तन से मुसलमान बनने वाला हिन्दू अपने पुराने संस्कारों के साथ ही जी रहा था। भाषा, जाति और वर्ग सब कुछ मिला-जुला था। हां, धर्म ने अवश्य उन्हें

अलग धरातल पर खड़ा करने की कोशिश की थी लेकिन आन्तरिक तनावों व पारस्परिक विरोधाभासों की वजह से परिवर्तन के इस काल में मुस्लिम सम्प्रदाय को स्पष्ट मान्यता प्राप्त नहीं हुई थी।

समय के साथ-साथ मुस्लिम सम्प्रदाय का स्पष्ट अस्तित्व उभरता चला गया।

मध्यकालीन भारत, विशेष रूप से मुगल काल में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। अरबों के प्रारम्भिक सम्पर्क काल में ज्ञान-विज्ञान का आदान-प्रदान हुआ, महान ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। वह समय एक दूसरे की संस्कृति के परिचय का, पहचान का युग था। लेकिन मुगल काल में परिचय समन्वय में बदल गया था। इस समन्वय ने संगीत, साहित्य, शिल्प, स्थापत्य और चित्रकला के क्षेत्र में अन्यतम कलाकृतियों को जन्म दिया। भारतीय चित्रकला में रिनेसान्स की गहरी छाप मुस्लिम संस्कृति की देन है, जो उसने चीनी परम्पराओं से ग्रहण कर भारतीय चित्रकला को प्रदान की। कला के क्षेत्र में दोनों संस्कृतियों का यह अन्यतम समन्वय सचमुच बेजोड़ और दुर्लभ है।

भारतीय अध्यात्म एवं दर्शन का गहरा असर सूफी, सन्तों और कवियों में दिखाई देता है। सूफी दर्शन ने विशेष रूप से उन मुसलमानों को आत्मिक शान्ति दी जो हिन्दू से मुसलमान बने थे। सन्त पूजा यूं तो सारी दुनिया के मुसलमानों में प्रचलित है, किन्तु भारत में इसका विशेष महत्व है। मृत अथवा जीवित सन्तों के 'खानकाह' हिन्दू और मुसलमान दोनों को भारी संख्या में आकर्षित करते थे। सूफियों में चिश्ती सम्प्रदाय सर्वाधिक ख्याति प्राप्त था। चिश्ती सम्प्रदाय की स्थापना ख्वाजा उस्मान हरुनी के शिष्य शेख मोईनुद्दीन चिश्ती ने की थी। शेख मोईनुद्दीन का जन्म सन् ११४३ में सीस्तान में हुआ था और मोहम्मद गोरी के हमले से कुछ पहले भारत आये थे। कुछ समय के लिए लाहौर रहे, फिर दिल्ली और अन्त में पृथ्वीराज रासो के युग में अजमेर जाकर बस गये। कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी और ख्वाजा फरीदुद्दीन मसूद उनके खास शिष्य थे जिनकी वजह से वे उत्तरी भारत में लोकप्रिय हुए। इन्होंने इस्लामी रहस्यवाद का प्रचार किया। इसी सम्प्रदाय के एक और प्रसिद्ध सन्त निजामुद्दीन औलिया हुए जो १२३६ में बदायूं में जन्मे थे और दिल्ली आकर बस गये थे। शीघ्र ही उनका 'खानकाह' एक महत्वपूर्ण धार्मिक और राजनैतिक केन्द्र बन गया जहां उनका आशीर्वाद लेने हिन्दू, मुसलमान, अमीर-गरीब सभी आते थे।

हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग और सद्भाव को बढ़ाने में अकबर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी कड़ी में टीपू सुल्तान का नाम

भी आता है जिसने दोनों सम्प्रदायों के बीच प्रेम और घनिष्ठता बनाये रखने के लिए अपने आप को संकुचित धार्मिक कट्टरता से ऊपर रखा और धार्मिक सहिष्णुता बनाये रखी। इस सन्दर्भ में प्रेक्सी फर्नांडिस का खोजपूर्ण तथ्यात्मक विवरण आश्चर्य में डालने वाला है। प्रसंग की महत्ता को देखते हुए इसे हम यहां उद्धृत कर रहे हैं।

प्रेक्सी फर्नांडिस लिखते हैं—इस पृष्ठभूमि मे मुझे सेरिंगापट्टम मे अपने मैसूर प्रवास में कुछ रोचक तथ्य मिले। टीपू सुल्तान के महल से सौ गज की दूरी पर सेरिंगापट्टम के किले में और सफेद संगमरमरी मस्जिद की छाँव तले आपको श्री रंगा का मन्दिर मिलेगा। टीपू के जन्म से कई सौ वर्ष पहले विजयनगर के वाइसराय के जमाने मे इस मन्दिर का निर्माण हुआ था। सरकारी कागजातों से यह प्रमाणित होता है कि टीपू के सम्पूर्ण काल में इस मंदिर का वैभव और गरिमा सुरक्षित रही। सचमुच हैरानी से भर देती है यह बात कि टीपू के द्वार तले मंदिर के घंटों की टकार। इससे भी ज्यादा हैरानगी की बात है नानंजगुंड के हिन्दू मन्दिर को टीपू द्वारा दी गई पदशाह लिंग भेट। यह आश्चर्यजनक ही नहीं अति आश्चर्यजनक है। लेकिन इन सब से भी ज्यादा अचंभे वाली बात है टीपू सुल्तान और श्रृंगेरी मठ के जगद्गुरु का पत्र व्यवहार। शंकराचार्य द्वारा स्थापित यह मठ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी प्रभुता का सम्मान व श्रद्धा आज भी सारे भारत में सर्वाधिक है। सन् १९१३ में दीवान बहादुर नरसिंह नायर, मैसूर राज्य के पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष को मठ में चिट्ठियों का एक पुलिंदा मिला जो ऐतिहासिक महत्व का है जिसके अनुसार सन् १७९१ में रघुनाथ राव पटवर्द्धन के नेतृत्व मे मराठों के एक दल ने शिमोगा, जहा श्रृंगेरी मठ है, मे लूट-पाट की। मठ पर भी उनकी कुदृष्टि पड़ी। उन्होंने मठ को लूटा। कई ब्राह्मणों की हत्या की तथा माता शारदा की पवित्र प्रतिमा को स्थानांतरित करने का जघन्य पाप करने मे भी न चूके। उस वक्त मजबूरन जगद्गुरु को श्रृंगेरी मठ छोड़ना पड़ा और वे अस्थायी रूप मे कारकाला मे रहे। उन्होंने टीपू से विनती की और मदद मागी। यह खबर पाकर टीपू बहुत क्रोधित हुआ और स्वामीजी से कहा—"जिन्होने पवित्र स्थान के प्रति ऐसा पाप किया है, उन्हें अपने कुकर्मों का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। जैसा कि कहा गया है—हँसाधिक क्रियांति कर्मा रुद्रभिः अन्न भूयाति' (अर्थात मनुष्य कुकर्म तो हंसते हुए करता है, लेकिन उसका फल रोते हुए भुगतता है)।" टीपू ने आदेश दिया कि मठ में शारदा की मूर्ति [illegible]
जाये। [illegible]
दी गयी।

के जगद्गुरु और टीपू के बीच इस बाबत दो वर्षों तक पत्र-व्यवहार हुआ। यह इस बात को उजागर करता है कि टीपू के हृदय में मठ के प्रति न केवल आदर भाव ही था बल्कि उसकी सुरक्षा के लिए भी बराबर चिन्तित व तत्पर रहता था।

यह विवरण टीपू की धार्मिक सहिष्णुता तथा हिन्दुओं के प्रति सम्मान का परिचायक है, जो इतिहास के पन्नों में स्वर्णिम अक्षरों से लिखी जाने योग्य गौरव-गाथा है।

मुस्लिम शासकों ने प्रशासनिक क्षेत्र में भी हिन्दुओं को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। आठवीं सदी में मोहम्मद बिन कासिम ने जजिया कर वसूलने के लिए ब्राह्मणों की नियुक्तियां कीं। उनसे शासन कार्य में पूर्ण सहयोग लिया। मुस्लिम राजा अपने राज्य-सचिव के रूप में ब्राह्मणों की ही नियुक्ति किया करते थे क्योंकि शासन प्रशासन के क्षेत्र में ब्राह्मणों की कुशलता को वे अच्छी तरह जानते थे। वे उन पर काफी हद तक निर्भर थे। राजस्व व वित्त विभाग में नीचे स्तर पर कायस्थ और क्षत्रिय ही काम-काज देखते थे। यहां तक कि औरंगजेब के शासन काल में भी यह परम्परा जारी रही। औरंगजेब को हिन्दू अधिकारियों को राजस्व विभाग से हटाने का आदेश वापस लेना पड़ा, क्योंकि हिन्दुओं के अतिरिक्त अन्य किसी में उस विभाग को चलाने की क्षमता ही नहीं थी।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मुगल शासकों ने ऊंचे ओहदों पर कुलीन वर्ग के लोगों को ही रखा। नीची जाति के लोग चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, सम्मान की नजर से नहीं देखे जाते थे। मसलन ऊंचे पदों पर रहने वाले हिन्दू अधिकांशतः ब्राह्मण तथा उच्च वर्ग के राजपूत क्षत्रिय ही होते थे। इसी प्रकार उच्च कुलीन वर्ग के मुसलमान ही ऊंचे शासकीय पदों के अधिकारी थे। मुसलमानों में भी विदेशों से आये मुसलमान उन मुसलमानों की अपेक्षा ज्यादा अजीज व आदर योग्य थे जो धर्म परिवर्तन के द्वारा हिन्दू से मुसलमान बने थे। हिन्दुओं में धर्म परिवर्तन नीची जाति के मध्य ही अधिक संख्या में हुआ था। मोहम्मद बिन तुगलक के राज्य में इब्न बतुता भारत आये थे। अपने संस्मरणों में उन्होंने उच्च पदों पर उच्च कुलीन वर्ग के होने का जिक्र किया है। एक बात और विशेष रूप से देखने को मिलती है कि मध्यकालीन भारतीय समाज में हिन्दू व मुसलमान उच्च कुलीन वर्ग में कट्टरता और भेदभाव थे, जबकि निम्न वर्ग में सहयोग व परस्पर मेल-जोल था।

उस वक्त लोगों में दूरी सम्प्रदाय के आधार पर नहीं थी बल्कि उच्च व निम्न जाति के आधार पर थी। उच्च कुलीन वर्ग के हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे और ऊंचे पदों पर आसीन थे।

सहयोग और समन्वय की अनुपम उपलब्धियो ने दो विभिन्न सम्प्रदायो और संस्कृतियों को घनिष्ठ भावनात्मक रूप से बांध दिया था तथा १६ वी शताब्दी के अन्त तक दोनों जातियों के बीच शासकों की कट्टरता के बावजूद सद्भाव कायम रहा। कला और संस्कृति के इस चहुंमुखी विकास के सामानान्तर इसी काल के दरम्यान धार्मिक कट्टरतावादी तत्व भी उभरे और शक्तिशाली हुए तथा संकुचित विचारों से अलगाव के बीज बोने लगे। इन धर्मान्ध कट्टरपंथियो में सबसे पहला नाम ख्वाजा बकीबिल्लाह् का है जिन्होंने साम्प्रदायिकता का बीज बोया। उनके शिष्य शेख अहमद सरहिन्द ने उसे पोषित किया। आगे चल कर इसी परम्परा में सर सैयद ने साम्प्रदायिकता के इस विष वृक्ष को फलने-फूलने में मदद की।

मुगल युग के पश्चात सत्ता जब अंग्रेजों के हाथ मे आई, तो अंग्रेजो ने अपने हितो के अनुरूप साम्प्रदायिकता को बढावा देना शुरू किया। विभिन्न जातियो मे एकता, सहयोग और भाईचारे की भावना मे अंग्रेजों का अहित था। अतः उनमें फूट डालने के लिए अंग्रेजों ने धर्मान्ध कट्टरपंथियो को बढावा देना शुरू किया। 'फूट डालो और हुकूमत करो' की उनकी नीति ने मुस्लिम सम्प्रदाय को जन्म दिया इसके जवाब मे ही हिन्दू साम्प्रदायिकता की नीव डाली गयी।

पर हिन्दू व मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वो के उभरने के बावजूद भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के आन्दोलन मे हिन्दू-मुसलमानों ने कन्धे से कन्धा मिला कर हिस्सा लिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मे तीसरे सत्र के सभापति बदरुद्दीन तैयबजी, बीसवें सत्र के सभापति रहमतुल्ला सिआनी आदि नाम भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के इतिहास में अमर है। कांग्रेस पार्टी के गठन के प्रारम्भिक काल में हिमायु कर-मान का अवदान क्या कभी भुलाया जा सकता है?

बंगाल विभाजन विरोधी आन्दोलन में कुछेक अपवाद को छोड़कर हिन्दू और मुसलमान दोनो ने एकजुट होकर हिस्सा लिया और लड़े। इसको लेकर मैमनसिंह, ढाका, कोमिल्ला, बरिसाल, चट्टगाव, नोआखाली, फरीदपुर आदि मुस्लिम बहुल इलाकों मे बडी-बड़ी सभाएँ हुई। कलकत्ता में हुई सभाओं में हिन्दू और मुसलमान दोनो ने समान रूप मे पूरे जोशो-खरोश के साथ हिस्सा लिया।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में ७ अगस्त १९०८ के ऐतिहासिक दिन को मौलवी हसबुद्दीन अहमद और लाला लाजपतराय द्वारा कलकत्ता टाउन हॉल मे आयोजित विशाल सभा मे मुख्य प्रस्ताव रखा और अनुमोदित किया गया। सरदार अजीत सिंह और सैयद हैदर मिर्जा ने अपने जोशीले भाषण से उपस्थित

जनसमुदाय के हृदय में राष्ट्रीय भावना जागृत की। राष्ट्रीय चेतना जगाने में उनके योगदान को भुला देना अक्षम्य अपराध होगा।

१९०० से १९३४ के दौरान सारे भारत में फकीर, संन्यासियों और बलवन्त राव फड़के की प्रेरणा से अनेक गुप्त क्रान्तिकारी संगठनों का जन्म हुआ।

देवबन्द स्कूल के आस-पास अनेक ऐसे केन्द्र खुले जिन्होंने क्रान्तिकारी विचारों का प्रसार किया। प्रो० बरकतुल्ला, राजा महेन्द्र प्रताप, हरदयाल, हेरम्ब गुप्ता, सी० पिल्लाई, डॉ० मंसूर अब्दुल वहाब और दिलीप सिंह आदि महान स्वतन्त्रता सेनानी यहीं की देन है। पंजाब और बंगाल में सेना में भर्ती न होने की पुरजोर अपील काफी मात्रा में वितरित की गयी। अफगानिस्तान में एक कामचलाऊ आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की गई, जिसके राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रताप सिंह, प्रधान मंत्री प्रो० बरकतुल्ला और गृहमंत्री ओबेदउल्ला सिंधी थे। विख्यात रेशम चिट्ठी काण्ड में इनका उल्लेख है।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान रंगून, बैंकाक व विशेष रूप से सिंगापुर की मुस्लिम बहुल रेजिमेन्ट के क्रान्तिकारियों में देशभक्ति का जुनून भी गजब का था। सात सिख और पांच मुसलमानों को सिंगापुर में फांसी की सजा दी गई। दया की अपील कर प्राण बचाने की अपेक्षा उन्होंने फांसी के तख्ते पर चढ़ना मंजूर किया।

अमर शहीद खुदीराम बोस की शहादत के प्रसंग में उनकी मुसलमान दीदी का उल्लेख किये बिना स्वतन्त्रता संग्राम की गौरव गाथा अपूर्ण होगी। वह दीदी भारतीय पहले थी और मुसलमान बाद में। गिरफ्तारी से पूर्व खुदीराम ने उन्हीं के यहां शरण ली थी। आजादी के लिए मर मिटने वाले अमर शहीद अशफाकुल्लाह खां व राम प्रसाद बिस्मिल को कौन भूल सकता है!

सन् १९१६ में लखनऊ कांग्रेस में (१९०८ में गरम व नरम दल के विभाजन के पश्चात् पहली संयुक्त कांग्रेस) राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक संयुक्त कमिटी बनी, जिसमें ऐनी बेसन्ट, बाल गंगाधर तिलक, अब्दुल कलाम आजाद, डॉ अंसारी और हकीम अजमल खां शामिल थे। रौलेन्ड ऐक्ट के जवाब में एम० ए० जिन्ना ने बयान दिया था—इस बिल से ऐसा विद्रोह और आन्दोलन भड़केगा, जो आज तक नहीं देखा गया। स्वयं गांधीजी जिन्ना के उत्साह को देख कर चकित हुए थे। नेतृत्व देने वाले दिलों में देश-प्रेम के इसी उबाल ने बाद के वर्षों में लोगों में अपूर्व उत्साह और उत्सर्ग की भावना जगाई। एक ओर आर्यसमाजी नेता सत्यानन्द को जामा मस्जिद में भाषण देने बुलाया गया तो दूसरी ओर गांधीजी और सरोजिनी को बम्बई में मस्जिद में भाषण देने का निमन्त्रण मिला। डॉ० सत्यपाल और डा० सैफुद्दीन किचलू के नाम पंजाब के बच्चे-बच्चे की जुबान पर थे। किचलू और सत्यपाल की गिरफ्तारी के विरोध में जलियांवाला बाग

में हुई विशाल जनसभा में पुलिस ने बिना चेतावनी के हजारों निहत्थे-निर्दोष लोगों पर गोलियां बरसाईं।

२० वीं सदी के आरम्भ में हुए जन-विद्रोह ने पूरे देश को राष्ट्रीयता के रंग मे रंग दिया। महात्मा गाधी और अली भाईयों ने आन्दोलन का नेतृत्व किया। विराट जनप्रदर्शन, सभायें, रैलियां आयोजित की गईं। सामूहिक त्यागपत्रों की बाढ़ आ गई। जेलें भर गईं। मजरूल हक द्वारा सदाकत आश्रम की स्थापना हुई। एस० ज़ाकिर हुसैन ने जामिया मिलिया की स्थापना की। अब्दुल और उनके बेटे प्रो० सलीम ने हज जाने वाले कितने ही लोगों की दिशा ही बदल दी। उन्हें सशस्त्र शिक्षा के लिए रूस जाने को प्रेरित किया और वे भेजे भी गये। १९३० में पेशावर में हुए गोलीकांड में ४० पठान शहीद हुए। १९३० में ही अवज्ञा आन्दोलन के दौरान उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र की गढ़वाल रेजिमेन्ट के चन्द्र सिंह का अपनी पूरी रेजिमेन्ट सहित निहत्थे अहिंसक पठानो पर गोली चलाने से इनकार कर देना भी अभूतपूर्व था।

जातीय आधार पर १९२१ और १९३० मे भारत की कुल जनसंख्या के अनुपात मे स्वतन्त्रता संग्राम में हिस्सा लेने वालो मे ६६ प्रतिशत हिन्दू थे और ३० प्रतिशत मुसलमान।

प्राप्त आकड़ो से ज्ञात होता है कि भारत छोड़ो आन्दोलन में बीसियों मुसलमानो ने, इन्डियन नैशनल आर्मी मे सैकड़ों मुसलमानों, बम्बई नौसेना विद्रोह में ४३ मुसलमानों ने भारत की आजादी के लिए जान दी।

उत्तर भारत में स्वामी सहजानन्द और राहुल सांस्कृत्यायन के नेतृत्व मे हुए कृषक संघर्ष, मालाबार मे अबु बाकर के (Baker) तथा उत्तर बंगाल मे किसानो के संघर्ष मे मुसलमान बराबर हिस्सा लेते रहे।

सैकड़ो वर्षों तक एक साथ रहने के फलस्वरूप दोनो ही सम्प्रदायो ने एक दूसरे से बहुत कुछ लिया है।

अमीर खुसरो खड़ी बोली हिन्दी के पहले कवि माने जाते हैं। हिन्दी के पहले गद्यलेखक इंशाअल्ला खां थे। रहीम के दोहे मुसलमानो से कही ज्यादा हिन्दुओं मे लोकप्रिय हैं। कबीर की मृत्यु के बाद उनकी लाश को लेकर हिन्दू और मुसलमानो में झगड़ा हुआ। हिन्दू उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान दफनाना।

तानसेन को संगीत सम्राट कहा जाता है। तानसेन मुसलमान थे और उनके गुरु सन्त हरिदास हिन्दू थे।

मुस्लिम स्थापत्य कला के आधार पर कई हिन्दू मन्दिरो का निर्माण हुआ। कभी पंजाब मे हिन्दू, मुसलमान, सिखो की भाषा उर्दू हुआ करती थी। पर

यह हमारा दुर्भाग्य रहा कि मुस्लिम सम्प्रदायवादियो ने भाषा को भी धर्म के साथ जोड़ दिया और जवाब मे हिन्दू सम्प्रदायवादियो ने उर्दू को मुसलमानों की भाषा करार कर दिया। परिणामस्वरूप जो भाषा कभी दोनो सम्प्रदायो को मिलाने का काम करती थी, आज बांटने का काम कर रही है।

भारतीय सस्कृति का ऐसा कोई आयाम नही जिसमे मुसलमानों का उल्लेख-नीय योगदान न हो। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल से ही इसको समृद्ध करने में मुसलमानो का अपूर्व अवदान रहा। रहीम, रसखान, मल्लिक, मोहम्मद जायसी को हिन्दी मे वही सम्मान प्राप्त है, जो तुलसी और कबीर को है। मुसलमानो मे एक से एक बढकर कृष्ण भक्त कवि और रामायणी हुए हैं। साहित्य ही क्यो ऐसी कौन सी विधा है जो मुसलमानो के अवदान से अछूती रही हो? साहित्य, संगीत, नृत्य, वाद्य-यंत्र, स्थापत्य, फिल्म, खेल आदि हर क्षेत्र मे मुसलमानो का अविस्मरणीय योगदान है। अगर इनके अवदानों को बाद दे दें तो हर क्षेत्र मे अधूरापन और रिक्तता दर्शित होगी।

मजहब मे—जिस रूप मे मैं विचारशील लोगो को भी उसे बरतते और मानते देखता था, चाहे वह हिन्दू धर्म, चाहे इस्लाम या बौद्ध मत या कोई ईसाई मत—मेरे लिए कोई कशिश न थी। अंधविश्वास और हठवाद से उनका गहरा ताल्लुक था और जिन्दगी के मसलों पर गौर करने का उनका तरीका यकीनी तौर पर विज्ञान का तरीका न था। उनमें एक अंश जादू-टोने का था और बिना समझे बूझे यकीन कर लेने और चमत्कारों पर भरोसा कर लेने की प्रवृति थी।

—जवाहर लाल नेहरू

हिन्दू साम्प्रदायिकता

पिछले कुछ वर्षों से जिस तेजी से हिन्दू साम्प्रदायिकता उभर कर सामने आई है, वह अपने आप मे एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है। इस साम्प्रदायिकता का विकराल और बर्बर रूप नवम्बर १९८४ मे देखने को मिला, जब हिन्दुओं ने कई जगह सिखो का कत्लेआम किया। आज स्थिति यह है कि हिन्दू अपने अलावा बाकी सभी सम्प्रदायों की देश भक्ति को शक की निगाहों से देखने लगा है। हिन्दू, चाहे वह राष्ट्रीय हितों के विपरीत ही क्यों न काम करता हो पर अपने आप को देशभक्त मानता है। हिन्दू समाज की यह मानसिकता बन गई है कि इस देश की एकता और अखण्डता की रक्षा केवल उसी को करनी है।

हमे यह नही भूलना चाहिये कि बहुसंख्यक समाज की साम्प्रदायिकता, अल्पसंख्यक समाज की साम्प्रदायिकता से कही ज्यादा खतरनाक होती है। देश की एकता और अखण्डता को अल्पसंख्यक समाज की साम्प्रदायिकता से जितना खतरा है, उससे कही ज्यादा खतरा बहुसंख्यक समाज की साम्प्रदायिकता से है। देश की अखण्डता और एकता की रक्षा कोई एक सम्प्रदाय नहीं कर सकता, सभी को मिल कर करनी है। यह बात हमे हमेशा ध्यान मे रखनी चाहिये।

हिन्दू साम्प्रदायिकता इस देश के लिए कोई नई बात नहीं है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता के समानान्तर हिन्दू साम्प्रदायिकता चलती रही है, हालांकि आज जैसा उग्र रूप हिन्दू साम्प्रदायिकता का कभी नही रहा।

हिन्दुओं मे आज न तो वह सहिष्णुता है और न ही वे स्वस्थ, सम्पन्न व समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा में है जो आज से हजारो साल पहले थीं। सच तो यह है

कि तीन हजार वर्ष पहले संस्कृति में जो पतनोन्मुख क्रिया प्रारम्भ हुई थी, वह निरन्तर जारी रही। आज पूरा का पूरा हिन्दू समाज अधः पतन की स्थिति में पहुंच गया है। आज तो स्थिति यह है कि रूढ़िवाद, कुसस्कारो एवं विकृतियो से यह समाज बुरी तरह जकड़ा हुआ है। इससे उबर पाने की हर चेष्टा नाकाम रही है।

हिन्दू समाज को यह पता नहीं है कि आखिर उसकी संस्कृति क्या है? हिन्दू संस्कृति का प्रादुर्भाव वैदिक युग से माना जाता है। उसी वक्त जाति-प्रथा आई। पर प्रारम्भ में जाति-प्रथा का आधार जन्म नहीं बल्कि कर्म होता था। वैदिक युग में न तो मूर्तिपूजा थी और न ही इतने देवी-देवता। आज के कर्म-काण्डो का भी वैदिक युग से कोई सम्बन्ध नहीं। ये सब बहुत बाद की बातें हैं। वैदिक युग के रीति रिवाज आज के युग से सर्वथा भिन्न थे। जिस गाय को हम माता कह कर पूजते हैं, उस वक्त उसका मांस खाने की मनाही नहीं थी। गो-मास भक्षण का उल्लेख तो वैदिक युग से बहुत बाद तक मिलता है।

बाद में पुराण, उपनिषद, स्मृतियों ने हिन्दू संस्कृति को जहां समृद्ध किया वही उसमें विकृतियां भी पैदा की।

आज से २५०० वर्ष पूर्व, पहले सुधारक बुद्ध हुए, जिन्होंने उस वक्त हिन्दू समाज में व्याप्त पाखण्ड और अन्य विकृतियों का विरोध किया। लेकिन कालान्तर में वे बुराइयां बौद्ध धर्म में न केवल शामिल ही हो गईं, बल्कि हिन्दू समाज ने बुद्ध को एक अवतार मानकर बौद्ध धर्म को भी अपना एक अंग बना लिया। लेकिन बुद्ध द्वारा प्रारम्भ की गई सुधार की प्रक्रिया बाद में भी जारी रही। बुद्ध के समकालीन महावीर तथा उनके सैकड़ो वर्षों बाद गुरू नानक के नाम सुधारकों की श्रेणी में उल्लेखनीय हैं। पर बाद में इनकी परिणति भी वही हुई, जो बुद्ध और बौद्ध धर्म की हुई। समस्त मानव जाति को एक सूत्र में पिरोने की बात करने वाले इन महान पुरुषो के भी अलग-अलग सम्प्रदाय बन गये, जिन्होंने समस्त मानव मात्र को एक करने के स्थान पर अलग करने की विपरीत भूमिका निभाई।

यह सच है कि कभी भारत की संस्कृति विश्व के अन्य देशों के मुकाबले समुन्नत और सम्पन्न थी। यह भी सच है कि विश्व को भारतीय संस्कृति की अनुपम देन रही है। विशेष कर गणित-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, खगोल-शास्त्र आदि के क्षेत्र में भारत किसी जमाने में अग्रणी था। वेद को भारत का ही नहीं विश्व का आदि-ग्रन्थ माना जा सकता है। ईसा से सैकड़ो वर्ष पहले अहिंसा का दर्शन बुद्ध और महावीर ने दिया था। महाभारत और वाल्मीकि रामायण जैसे महाकाव्य लिखे जाने के समय दुनिया में ऐसा कोई देश नहीं था, जो साहित्य

की दृष्टि से भारत का मुकाबला कर सकता था। ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

पर ये सब तो बीते कल की बातें हैं। प्रश्न यह नही कि हम क्या थे। प्रश्न यह है कि हम क्या हैं? अतीत के सास्कृतिक गौरव बोध के सहारे वर्तमान को नही जिया जा सकता। यह अहंकारमय गौरव बोध उस अफीम की तरह है जो हममें नशे की वह खुमारी पैदा करता है, जिसकी वजह से हम वर्तमान और भविष्य के प्रति मुंह मोड़ लेते हैं। अतीत भले ही हमारा अति गौरवशाली रहा हो, पर वर्तमान पतन के गर्त में है। दुनिया के औसत के हिसाब से सबसे ज्यादा जहालत, गरीबी, कंगाली, पिछड़ापन और बीमारी इस देश में है। भिखारियों कोढियो, अन्धों, बहरों, लूलों, लंगडों की संख्या करोड़ो मे है। अमरीका के बाद, जो कि अपराध के लिए सबसे ज्यादा बदनाम है, सबसे ज्यादा अपराध इस देश में होते हैं। नारी पूजकों के इस देश में नारी ही सुरक्षित नही।

सच तो यह है कि आज हमारे पास गर्व करने लायक कुछ नही बचा है। और जो थोड़ा बहुत बचा भी है, तो अगले कुछ वर्षों मे वह भी समाप्त हो जायेगा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इस खतरनाक स्थिति से स्वयं को तथा औरों को आगाह करें और एक सुनहरे भविष्य की नींव डालने की ईमानदारी-पूर्ण कोशिश करें।

कोई भी संस्कृति अपने आप में पूर्ण नही होती। अच्छाई के साथ-साथ उसकी अपनी कमियां व खामियां भी होती हैं। इसके अलावा विभिन्न संस्कृतियो के बीच आदान-प्रदान आदि काल से ही होता रहा है। कोई भी संस्कृति यह दावा नहीं कर सकती कि उसने केवल दिया ही दिया है—लिया कुछ भी नहीं।

हिन्दुओं में अपनी हजारों साल की संस्कृति का गौरव बोध पिछले दो हजार वर्षों से अहम और कट्टरता की हद तक रहा। अपने आप को श्रेष्ठ तथा औरों को मलेच्छ समझने की भावना ने उसका बहुत अहित किया।

यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम किवदंतियो, कपोल कल्पित कथाओं को ही इतिहास मानते आये हैं। यह चीज अपने आप मे घोर अज्ञानता की द्योतक है। तन्त्र-मंत्र और चमत्कारों मे मूर्खता की हद तक विश्वास करते है, जबकि अनुभवो ने यह साबित कर दिया है कि इनसे कभी समस्या का हल नही होता है। तर्क का स्थान कुतर्क ने ले रखा है। वैज्ञानिक चिन्तन और वैज्ञानिक सोच मे हम कोसों दूर हैं। स्थिति इस हद तक हास्यास्पद है कि हाल ही मे बंगलौर में और इससे पहले मद्रास में वर्षा कराने के लिए तांत्रिक का सहारा लिया गया। इसमें राज्य सरकारों का परोक्ष समर्थन था।

आज के इस वैज्ञानिक युग मे इस देश के करोडो लोग, इस बात पर अन्ध विश्वास करते हैं कि अमुक मंदिर या अमुक गुरुद्वारा या अमुक मजार पर जाने से मुहमांगी मुराद मिलती है। अपने आप को भगवान बताने वालों को पूजने वालों की सख्या भी करोडो मे है।

हजारो वर्ष पहले जब आदमी असभ्य, अशिक्षित और अज्ञानी था तो प्रकृति की हर वस्तु, जो उसकी समझ से बाहर थी और जिसके शमन का उपाय उसके पास न था उसको वह देवी या देवता मानकर भेंट-पूजा से उसको तुष्ट करने का प्रयास करता था। प्रकृति-पूजा इसी प्रवृति का परिणाम थी। अति वृष्टि, तूफानी समुद्र, बाढ, महामारी, भूकम्प, चेचक इत्यादि सभी विपदाओं मे उसने देवी देवताओ की खोज कर ली थी और इन विपदाओ का कारण वह देवता के क्रुद्ध होने का परिणाम मानता था। भूत, प्रेत, डायन, पिशाच इत्यादि शब्द, उसी अज्ञानता के युग की देन है।

जैसे-जैसे आदमी उस अंधेरे युग से निकलकर सभ्यता, ज्ञान और समझदारी के मार्ग पर आगे बढ़ा, वैसे-वैसे इस जहालत, पिछडेपन, अज्ञान को पीछे छोड़ता गया। यहा तक की इस विज्ञान युग मे अतरिक्ष के चक्कर लगाकर ग्रहो, उपग्रहो, नक्षत्रो इत्यादि का जायजा ले आया, समुद्रो की तली देख आया, सर्वोच्च पर्वत शिखरो पर झण्डे गाड आया, ध्रुव प्रदेशो का निरीक्षण कर आया और चन्द्र देव की धरती पर साक्षात खड़े होकर उनकी हकीकत जान आया। ऐसे में, बीसवीं शताब्दी के इस अन्तिम चरण मे यदि हमारे समाज में कुछ ऐसे लोग है जो कि प्याज वाली डायन के मनगढन्त किस्से कह-सुनकर भय के मारे अपने द्वारों पर गेरु के हाथ का छापा लगा कर स्वय को सुरक्षित मान लेते है तो उन्हें पाखण्डी, धर्मान्ध, कूप मण्डूक और नासमझ ही कहा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तमाशो के पीछे उन धूर्त, पोंगापंथी और पण्डे-पुजारियों का हाथ रहता है जो सदा ही किसी न किसी बहाने से धर्मभीरू जनता को धर्म के नाम पर भयभीत करते रहते है जिससे उनकी पूछ और ठगी बनी रहे। (१९८५ मे राजस्थान के कुछ इलाकों मे प्याज वाली डायन को लेकर हुई घटनाएँ)

हमे अपने विचारो, व्यवहार, आचरण आदि को सही दिशा मे ढालना चाहिए, यदि हम नहीं चेते और तेजी से आगे बढती दुनिया के साथ नहीं बढे तो हम भी अंधे अज्ञान मे बन्द अपने भाग्य को कोसते पीछे रह जायेंगे।

इस मानसिकता ने देश और समाज का जो अहित किया है, उसकी कोई सीमा नही। सारे देश के चिन्तन मे एक ऐसी अराजकता पैदा हो गई है जहा धार्मिक उन्माद, साम्प्रदायिकता और क्षेत्रीयता जैसे संक्रामक किटाणु आसानी से पैदा होते हैं, पोषित होते हैं।

हिन्दू समाज मे ब्राह्मणों के वर्चस्व ने जाति प्रथा को इस हद तक पहुंचा दिया कि समाज का एक बहुत बडा अंग मलेच्छ व शूद्र करार कर दिया गया जो न्यूनतम मानवीय अधिकारों से भी वंचित कर दिये गये। दुर्भाग्य से यह स्थिति आज भी है। विशेष रूप से पिछले तीन हजार वर्षो से हिन्दू समाज विसगतियो, विरोधाभासो व विकृतियों का शिकार रहा है। लेकिन इसके दम्भपूर्ण, झूठे गौरव बोध ने इनकी हमेशा उपेक्षा की।

भारत में मुस्लिम आक्रमणकारियो के बहुत पहले से ही हिन्दू समाज मे जड़ता और ठहराव की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी और यह अपने आप में ही बुरी तरह विघटित हो गया था। इसी विघटन का फायदा मुस्लिम आक्रमणकारियों ने उठाया और वे धीरे-धीरे यहां के शासक बन बैठे। बाद मे हिन्दू समाज अपने आप मे ही पूरी तरह सिमट गया और अपने इर्द-गिर्द एक ऐसी लक्ष्मण रेखा खीच दी कि अपने भीतर तो उसने किसी को आने नही दिया और बाहर जो निकल गया उसे त्याग दिया। इसका भरपूर लाभ मुसलमानों और बाद में ईसाइयो ने उठाया और बडे पैमाने पर हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन किया गया। इसमे जबरदस्ती कम थी और हिन्दुओं का अपना दोष अधिक था, क्योकि ज्यादातर धर्म परिवर्तन शूद्र और मलेच्छ जाति मे हुआ। अपनी खुशी से अपमान और जिल्लत की जिंदगी से बचने तथा बेहतर जिंदगी के लिए मुसलमान या ईसाई बनने लगे।

यहां यह उल्लेख करना जरूरी है कि हिन्दू शब्द कोई बहुत प्राचीन नहीं है। सबसे पहले इस शब्द का प्रयोग सिकन्दर के वक्त में हुआ था। इसके बाद सैकडो वर्षो तक यह शब्द इतिहास के गर्भ में खोया रहा। कालान्तर में यह शब्द फिर उभर कर आया। ८वी सदी से इस शब्द का ऐतिहासिक उल्लेख मिलता है। फारस के लोग सिन्धु शब्द का उच्चारण नही कर सकते थे। इसलिये फारस से आये मुसलमानों ने सिन्धु नदी को हिन्दू नदी तथा सिन्धु नदी के दक्षिण मे रहने वालों को हिन्दू नाम दिया। यह भी कहा जा सकता है कि हिन्दू और हिन्दुस्तान शब्द मुसलमानों की देन है। सिकन्दर के वक्त हिन्दू शब्द के प्रयोग का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता। किसी भी प्राचीन ग्रन्थ, विशेष कर संस्कृत के किसी ग्रन्थ में हिन्दू व हिन्दुस्तान शब्द का उल्लेख नहीं है। उस वक्त हिन्दू शब्द से किसी धर्म व सम्प्रदाय विशेष का बोध नही होता था। बल्कि आर्यावर्त या भारतवर्ष के वे तमाम लोग हिन्दुओं के रूप मे जाने जाते थे, जो सिन्धु नदी के दक्षिण मे रहते थे।

पहली बार ८वीं सदी में लिखे गये किसी तांत्रिक ग्रन्थ में 'हिन्दू' शब्द का उल्लेख मिलता है। मुगलकाल में यह शब्द बहुत प्रचलित हो गया और तब

महासभा का गठन हुआ। १९२५ में एक और हिन्दू साम्प्रदायिक दल राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का गठन हुआ जिसका उद्देश्य हिन्दुओं को सांस्कृतिक व शारीरिक रूप से सबल बनाना था।

इसके बहुत पहले आर्य समाज की स्थापना हो चुकी थी। हालांकि यह विशुद्ध सुधारवादी संगठन था लेकिन इसके शुद्धिकरण के कार्य से मुसलमानों में तनाव दिखने लगा था। आर्य समाजी हिन्दू से मुसलमान बने लोगों को पुनः हिन्दू बनाने के प्रयत्न करने लगे थे। हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन का सक्रिय विरोध पहले यहीं से शुरू हुआ। उत्साह के अतिरेक में इन्होंने सिखों का भी शुद्धिकरण करना शुरू किया। यहीं से सिख-हिन्दुओं के बीच हल्के से तनाव का सूत्रपात हुआ। पर ऐसा भी होता था कि सिखों में भी आर्य समाजी होते थे।

मूलतः आर्य समाजी, धर्म में व्याप्त पाखण्ड और आडम्बर का विरोध करते थे। सिखों ने आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द को गुजरात से स्वर्ण मंदिर में आमंत्रित कर उनका भाषण करवाया और उन्हें सम्मानित किया। आगे चलकर आर्य समाज में तीन धारायें मुखरित हुई। एक राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत, दूसरी अंग्रेज भक्त और तीसरी विशुद्ध समाज सुधारक।

१९२३ में पंडित मदन मोहन मालवीय की अध्यक्षता में हिन्दू महासभा का अधिवेशन हुआ। इसे राजनीतिक रूप से हिन्दुओं का प्रभावशाली संगठन बनाने के लिए इसका पुनर्गठन किया गया। इस अधिवेशन में इस बात की स्पष्ट घोषणा की गई कि यह कांग्रेस से बिल्कुल अलग है, जिसका प्रमुख उद्देश्य हिन्दुओं के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना है। इस अधिवेशन में हिन्दू महासभा के निम्न उद्देश्यों व लक्ष्यों की घोषणा की गई।

१. हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति, हिन्दू सभ्यता की सुरक्षा एवं उसका विकास और हिन्दू राष्ट्र के लक्ष्य प्राप्त करने की चेष्टा।
२. सारे हिन्दू समाज को सुगठित रूप से संगठित करना।
३. हिन्दू हितों की रक्षा और विकास के लिए तत्पर रहना।
४. छुआ-छूत दूर करना और दलित वर्ग की स्थिति में सुधार लाना।
५. हिन्दू नारी के गौरवशाली आदर्शों की पुनर्नस्थापना करना और उसका विकास करना।
६. हिन्दुओं को शारीरिक रूप से सबल बना कर उनमें योद्धा प्रवृति का विकास करना।
७. उन सब को जो हिन्दू धर्म छोड कर चले गये हैं, उन्हें पुनः हिन्दू धर्म की छत्र-छाया में लाना और उसका विकास करना।

८ अनाथ एवं अबलाओ के लिए अनाथालय एवं नारी निकेतन की स्थापना करना।

९. हिन्दू सम्प्रदाय के धार्मिक, शैक्षणिक सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक हितो एवं अधिकारो की रक्षा हेतु हर सभव कदम उठाना।

१०. हिन्दुओ, भूतपूर्व हिन्दुओ (भारतीय मूल के वे हिन्दू जिन्होने धर्म परिवर्तन कर लिया था) और अन्य भारतीय सम्प्रदाय के मध्य सद्भाव उत्पन्न करना ताकि भाईचारे एवं सद्भाव से युक्त एक संयुक्त व स्वतत्र भारत की स्थापना की जा सके।

पंजाब के प्रमुख क्रान्तिकारी लाला हरदयाल ने हिन्दुओ के लिए एक रूपरेखा तैयार की और उसे पजाब के प्रमुख अखबार मे एक वक्तव्य के रूप मे छपवाया। उन्होने उसमे यह घोषणा की कि हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान और पंजाब का भविष्य चार स्तम्भो पर टिका है, जो इस प्रकार है—

१. हिन्दू सगठन २. हिन्दू राज ३. मुसलमानो का शुद्धिकरण ४. अफगानिस्तान और अन्य सीमाओ का शुद्धिकरण।

उन्होंने कहा कि जब तक हिन्दू समाज ये चार लक्ष्य नही प्राप्त करता तब तक हिन्दू व उसकी आगे आने वाली पीढ़ी की रक्षा असभव है।

मुसलमान, ईसाई एव उनका धर्म, हिन्दू तथा हिन्दू धर्म से बिल्कुल भिन्न है और उन्हे अरब, फारस और योरोप से प्यार है। अतः जिस तरह आंख की किरकिरी साफ की जाति है, इन दोनों धर्मो की भी शुद्धि आवश्यक है। अफगानिस्तान और सीमावर्ती पहाड़ी इलाके, जो कभी हिन्दुस्तान के आधिपत्य मे थे आज इस्लाम के अधीन हो गये है। इन इलाको के कबीले हमेशा ही खूखार और लड़ाकू रहे हैं। अगर ये हमारे दुश्मन रह जाते है, तो नादिरशाह और जमालशाह का युग पुन: प्रारम्भ हो जायेगा। अतः यदि हिन्दू अपनी रक्षा चाहते है, तो उन्हें अफगानिस्तान व सीमावर्ती इलाको पर विजय प्राप्त करनी ही होगी और उनका धर्म परिवर्तन करना होगा।

हिन्दू राष्ट्रीयता के नाम पर हिन्दू साम्प्रदायिकता ने एक बार वक्ती तौर पर तूल पकड़ा था और उसे लाला हरदयाल तथा बाद मे वीर सावरकार जैसे क्रान्तिकारी, और पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे प्रतिष्ठित विद्वानो का वरद्हस्त प्राप्त हुआ था, पर हिन्दू साम्प्रदायिकता कभी जड नही जमा पाई और न ही उसे हिन्दू समाज से व्यापक समर्थन मिला। हिन्दू साम्प्रदायिकता, बावजूद इसके कि हिन्दू जाति हमेशा ही रूढ़िग्रस्त व धर्मभीरु रही है, हिन्दुओं मे वह प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकी जो मुस्लिम साम्प्रदायिकता को मुस्लिम समाज मे प्राप्त हुई। आजादी के पहले इस देश मे जो भी चुनाव हुए उनमें

हिन्दू महासभा को बहुत कम मत मिले जबकि यह हिन्दू साम्प्रदायिकों का एकमात्र संगठन था।

हिन्दू समाज हमेशा ही विसंगतियों व विरोधाभासों का शिकार रहा है और बीच-बीच में समाज सुधारक इसकी जड़ता पर प्रहार करते रहे हैं। इसलिये संकीर्णता के साथ-साथ उदारता भी इस समाज में फलती-फूलती रही। अतः मिला-जुला कर आम तौर पर बाहरी लोगो के प्रति हिन्दू सहिष्णु रहे। भले ही अपने समाज के एक बड़े हिस्से—दलित वर्ग के प्रति इनकी असहिष्णुता अमानवीयता की हद तक पराकाष्ठा पर रही।

स्वतन्त्रता के बाद भी पाचवे दशक तक हिन्दू साम्प्रदायिकता को उभरने का मौका नही मिला। लेकिन १९६० के बाद अवसरवादी राजनीति एवं मुस्लिम साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिकता ने अपने फन फैलाने शुरू किये।

इस देश की राजनीति मे जब तक आदर्शों व मूल्यों का स्थान रहा, तब तक साम्प्रदायिकता दबी रही। पर बाद के वर्षों मे तेजी से ह्रास होते आदर्शों व मूल्यो से उत्पन्न रिक्तता के फलस्वरूप साम्प्रदायिकता को फलने-फूलने के लिए जमीन मिलती चली गई।

हकीकत यह है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता आज अपने पूरे उन्माद मे है। चाहे दिल्ली हो कि भिवंडी या जमशेदपुर या बोकारो इसे जब भी मौका मिला इसने अपना राक्षसी और बर्बर रूप दिखाया। यह तथ्य है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता से न तो हिन्दुओ का और न ही इस देश का भला होना है। साम्प्रदायिकता और धर्म की आड मे हमेशा मुट्ठी भर लोगों ने बहुसख्यक वर्ग का शोषण और उत्पीडन ही किया है और इन्सान को इन्सान से और इन्सानियत से अलग किया है।

१९८० के बाद पंजाब मे हुए अकाली आन्दोलन और उसके बाद भिन्डरांवाला ने जो विष उगला उसने हिन्दू साम्प्रदायिकता को शिखर पर पहुचा दिया। भिन्डरावाला ने हिन्दुओं के विरुद्ध विष वमन कर एक ओर जहां सिखों में उन्माद की स्थिति पैदा की, वही हिन्दुओं को भी उन्माद की हद तक पहुंचा दिया। जिस जनेऊ की रक्षा के लिए सिख गुरुओं ने बलिदान किये, उसी जनेऊ की वे *खिल्ली उड़ाया करते थे। वे अक्सर सिख युवको को* कहा करते थे कि वे शस्त्र धारण करे, एक सिख ३५ हिन्दुओं को मारने की क्षमता हासिल करे। खालिस्तानी तत्वो ने दिल्ली और पंजाब में विशेष कर स्वर्ण मंदिर में खालिस्तानी झंडे फहरा कर, तथाकथित खालिस्तानी करेंसी और पासपोर्ट वितरित करा कर, राष्ट्रीय झडा और सविधान जला कर हिन्दू साम्प्रदायिकता को भड़काया।

इधर कश्मीर मे मुसलमानो के एक वर्ग द्वारा आये दिन पाकिस्तान के समर्थन मे आन्दोलन कर, हिन्दू साम्प्रदायिकता को उत्तेजित किया गया।

इन सब स्थितियो का कुछ स्वार्थी पदलोलुप तत्वों ने भरपूर लाभ उठाया। उन्होंने परोक्ष रूप से हिन्दुओ मे यह भय उत्पन्न कर कि उनके अस्तित्व को भयंकर खतरा उत्पन्न हो गया है, आग मे और घी डाला।

यह सच है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता की भावना से कभी अलग नही हुई, पर जैसा कि प्रारम्भ मे ही लिखा जा चुका है अब हिन्दू ही अपने आपको देश की अखडता के एकमात्र ठेकेदार मानने लगे है। यह एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है।

बहुसंख्यक समाज के नाते हिन्दुओ का विशेष दायित्व है। वे अल्पसंख्यक समुदाय मे व्याप्त इस भावना को दूर करें कि हिन्दू बाकी सारे समुदायों को निगल जाना चाहते हैं। उन्हें अल्पसख्यकों को यह विश्वास दिलाना होगा कि उनसे उनकी अलग पहचान को कोई खतरा नही। पर अलग पहचान का अर्थ यह भी नही लगाया जाना चाहिये कि वह एक दूसरे से टकराने की वजह बने या एक ही राष्ट्र में कई राष्ट्र की सभावना उत्पन्न करे। हमें यह याद रखना चाहिए कि दो राष्ट्र के सिद्धान्त के प्रश्न पर ही भारत का बंटवारा हुआ था, पर बाद मे बांग्ला देश के पाकिस्तान से अलग हो जाने से उस सिद्धान्त को पलीता लग गया।

हिन्दू साम्प्रदायिकता ने पहल कर आक्रामक रुख कभी नही अपनाया, अल्पसंख्यको की साम्प्रदायिकता की प्रतिक्रिया में ही हिन्दू साम्प्रदायिकता उभरी।

यह सही है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता ने कभी राष्ट्र की एकता और अखंडता को चुनौती नही दी। यह सही है कि हिन्दुओं मे सहिष्णुता मुसलमानों तथा सिखों की अपेक्षा कहीं ज्यादा है। यह सही है कि धार्मिक कट्टरता हिन्दुओं मे अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा कही कम है। सिखों व मुसलमानो की तरह हिन्दुओ की राजनीति मंदिरों से नही सचालित होती। सुधारवादी आन्दोलन भी हिन्दुओं में ज्यादा हुए तथा उनका प्रभाव भी पड़ा। पर यह भी सही है कि जब जब भी हिन्दू साम्प्रदायिकता ने सर उठाया है तो यह अन्य सम्प्रदायो की साम्प्रदायिकता के मुकाबले जरा भी कम नही रही। इसका रूप भी उतना ही वीभत्स रहा जो औरो का रहा। इसलिये अल्पसंख्यको की साम्प्रदायिकता के साथ इसे भी जड़मूल से नष्ट करना होगा। देश की एकता और अखंडता तभी बनी रह सकती है जबकि साम्प्रदायिकता को पूरी तरह कुचल दिया जाये। जब तक साम्प्रदायिकता रहेगी देश की एकता को खतरा बना रहेगा।

भाईचारे का हाथ हिन्दुओं को बढ़ाना है। अल्पसंख्यक समुदायों को यह भरोसा और अहसास दिलाना हिन्दुओं का प्रथम कर्त्तव्य है कि अल्पसख्यकों की सांस्कृतिक विविधता को उनसे कोई खतरा नहीं। वे भी इस देश के उतने ही सम्मानित नागरिक हैं जितने कि हिन्दू। और यह भरोसा, यह अहसास केवल शब्दों से नहीं, व्यवहार से दिलाना है।

कांकर - पाथर जोरि के मस्जिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥
—कबीर

मुस्लिम साम्प्रदायिकता

भारत का इस्लाम और मुसलमानो से पहला सम्पर्क करीब १३०० साल पहले हो चुका था। पहला मुसलमान व्यापारी के रूप मे केरल के तटीय इलाकों में आया था। तभी से भारतीयो और मुसलमानो के बीच सांस्कृतिक, सामाजिक और धार्मिक स्तर पर सम्बन्धो की शुरुआत हुई।

इसके काफी बाद मुसलमान आक्रमणकारी के रूप मे आये। शुरू में आक्रमणकारी के रूप मे आने वाले यहा के हिन्दू राजाओ को पराजित कर यहा की बेशुमार सम्पदा लूट कर ले गये। पर बाद में जो आये वे यही के राजा बन बैठे और बस गये। कालान्तर में उनमे और दूसरे भारतीयो मे कोई फर्क नही रह गया। वे भी सम्पूर्ण रूप से भारतीय बन गये। पर एक खास बात यह रही कि बाहर से आये मुसलमान और उनके वंश के लोग यहा हिन्दुओ से, जो मुसलमान बने, उनकी अपेक्षा अपने आप को कुलीन और श्रेष्ठ समझते थे। क्योंकि वे शासक वर्ग की श्रेणी के होते थे।

मुस्लिम राजा अपना राज-काज चलाने के लिए उच्च प्रशासनिक पदो पर इन कुलीन मुसलमानो की तथा इनके साथ-साथ कुलीन हिन्दुओं की नियुक्ति करते थे। मुसलमानों की शासक श्रेणी जहा सुविधाप्राप्त सम्पन्न वर्ग से होती थी, वहीं आम मुसलमान आम हिन्दुओ की भांति दरिद्र होते थे।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच एक दूरी तो थी, लेकिन साम्प्रदायिक सौहार्द्र था। मुसलमानों में शासक श्रेणी के होने का गर्व था और इस्लाम के प्रचार का उत्साह था। हिन्दू छुआ-छूत और जात-पात के बन्धनों मे जकड़े हुए थे। दोनो समाज की इन्ही कट्टरताओ ने उनके बीच एक दूरी बना रखी थी। पर इन सब के बावजूद उनमे कभी कोई साम्प्रदायिक तनाव और दंगा नहीं हुआ।

१८५७ के विद्रोह में दोनों सम्प्रदाय के लोगो ने कन्धे से कन्धा मिला कर हिस्सा लिया। ब्रिटिश विदेशी सत्ता के विरुद्ध इस विद्रोह के दौरान अभूत-

पूर्व एकता और भाईचारा स्थापित हो गया था। विद्रोह में हुई हार से दोनों ही मायूस हुए, पर मुसलमानों में ज्यादा मायूसी थी, क्योंकि अंग्रेजों के आने से वे शासक श्रेणी के स्थान पर शासित श्रेणी में तब्दील हो गये थे। यह दुःख उन्हें काफी अर्से तक खलता रहा।

हिन्दुओं के कुलीन वर्ग ने अंग्रेज शासकों से समझौता कर अपने आप को परिस्थिति के अनुरूप ढाल लिया। परिणामस्वरूप वे हर क्षेत्र में मुसलमानों से आगे बढ़ गये। बाद में मुसलमानों को यह एहसास हुआ तो उनके कुलीन वर्ग के नेतृत्व ने ब्रिटिश शासकों से तालमेल बैठाने और समझौता करने की पेशकश की।

अंग्रेजों के लिए यह सुनहरा अवसर साबित हुआ। उन्हें यह डर था। कि देर-सबेर भारत से अंग्रेजी हुकूमत को उखाड़ फेंकने के लिए हिन्दू और मुसलमान बगावत करेंगे। इसलिये दोनों साम्प्रदायों के बीच तनाव का होना उनके हित में था। धार्मिक कट्टरता की वजह से मुसलमानों में हिन्दुओं की अपेक्षा राष्ट्रीय भावना कम थी। अंग्रेजी हुकूमत ने इस भावनात्मक अन्तर को महसूस किया। उन्हें लगा कि हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान उनके लिए ज्यादा फ़ायदेमन्द और उपयोगी हो सकते हैं।

सर अमीर अली और सैयद अहमद को मुस्लिम साम्प्रदायिकता का जनक माना जाना चाहिये। सर अमीर अली ने बंगाल में 'इन्डियन मोहम्मडन एसोसियेशन' की स्थापना की और संयुक्त प्रान्त (अब उत्तर प्रदेश) में सर सैयद अहमद ने 'मुस्लिम एंग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसियेशन' बनाया। यहीं से मुस्लिम साम्प्रदायिकता का सूत्रपात हुआ।

इन दोनों ही संस्थाओं की घोषित नीति खुले दिल से ब्रिटिश सरकार का समर्थन करने के साथ मुस्लिम जागीरदारों के लिये सरकार से अधिक से अधिक सुविधायें प्राप्त करना था।

मुस्लिम एग्लो ओरियन्टल डिफेन्स एसोसियेशन का उद्देश्य था—(क) मुसलमानों के कल्याण के लिए ब्रिटिश सरकार से राजनीतिक अधिकारों की मांग (ख) ब्रिटिश सरकार की सुरक्षा और उसकी नींव को बनाये रखने के लिए अपना सहयोग देना (ग) देश में शान्ति बनाये रखना और मुसलमानों में राजभक्ति की भावना पैदा करना।

१८९६ में इस संस्था की तरफ से सरकार को एक स्मरण पत्र दिया गया, जिसमें लेजिसलेटिव काउन्सिल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड तथा म्युनिसिपल बोर्ड आदि में मुस्लिम प्रतिनिधियों के रखे जाने की मांग की।

यह भी मांग की गई कि उत्तर-पश्चिम राज्यों की विधान परिषदों में मुसल-

मानों का प्रतिनिधित्व हिन्दुओं के बराबर हो, जब कि इन राज्यों में हिन्दू बहुमत में थे।

पहली बार एक विशेष मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्र की माग की गई जिसमे मुस्लिम प्रतिनिधि को मुस्लिम ही वोट दें।

सर सैयद अहमद ब्रिटिश राज्य के प्रति अपनी अटूट राजभक्ति को न्यायोचित मानते थे। उनके अनुसार ब्रिटिश राज्य के सहयोग और समर्थन से ही मुसलमान प्रगति कर सकते हैं।

१८८५ मे काग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। इसमें हिन्दू, मुसलमान, पारसी सभी थे। स्थापना के थोडे समय बाद ही काग्रेस ने एक राष्ट्रवादी संगठन का रूप ले लिया था।

पर सर सैयद अहमद ने काग्रेस को कभी पसन्द नही किया। कांग्रेस की स्थापना काल से ही इसका विरोध किया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का भूत उन पर पूरी तरह सवार था। काग्रेस के प्रति अपनी घृणा और नाराजगी कभी नही छिपाई। काग्रेस के नेता बदुद्दीन तैयबजी को उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा था—"मैं इस तरह की काग्रेस का विरोध करूगा क्योकि इसका मूल उद्देश्य ही—भारत एक राष्ट्र है—गलत है"।

बाद मे इलाहाबाद से निकलने वाले अग्रेजी अखबार 'पायनियर' मे छपे अपने एक लेख मे उन्होने अपने विचारों को और खुलासा किया। इसमे उन्होने काग्रेस के साथ-साथ हिन्दुओ के प्रति भी अपना विद्वेष प्रकट किया।

हिन्दू और मुस्लिम अलग-अलग राष्ट्र हैं, इस सिद्धान्त को सबसे पहले सर अहमद ने रखा था। पर ऐसा सोचने वाले सर सैयद अहमद अकेले नही थे। बंगाल के सर अमीर अली एवं अन्य कई राज्यों के कुलीन मुस्लिम यहां तक कि बदुद्दीन तैयबजी भी उनके विचारो से सहमति रखते थे।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता बडी तेजी से संगठित रूप लेती चली गई। ब्रिटिश शासकों ने इस साम्प्रदायिकता को पूरी तरह से बढावा और सरक्षण दिया।

१९०५ मे लार्ड कर्जन द्वारा बगाल के विभाजन को लेकर ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध सगठित रूप से पहला राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ। स्वदेशी आन्दोलन को सारे भारत का समर्थन मिला। आन्दोलन के विराट रूप को देख कर ब्रिटिश सरकार घबरा गई। सरकार द्वारा आन्दोलन को कुचलने की तमाम कोशिशें नाकामयाब रहीं, बल्कि सरकारी दमन ने आन्दोलनकारियो का हौसला और बुलन्द किया। सरकार ने और कोई उपाय न देख कर बंगाल के कुलीन मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वो को भडका कर हिन्दू-मुस्लिम दंगे करवाये। इन दगों की पहल मुसलमानों से करवाई गई।

हालांकि इन दंगों के काफी पहले गुजरात मे हिन्दू मुस्लिम दगा हो चुका था, लेकिन वह अकेला ही था। १९०५ मे जो दगे हुए, उनका सिलसिला वहीं का वहीं खत्म नही हो गया। बल्कि इन दंगों को निरन्तरता बनी रही जो आज भी जारी है।

लार्ड मिन्टो की प्रेरणा और समर्थन से विभिन्न मुस्लिम सगठनो के प्रतिनिधियों की एक बैठक १९०६ में ढाका मे हुई, जहा मुस्लिम लीग की स्थापना की गई।

सर आगा खान के नेतृत्व में मुस्लिम लीग का एक प्रतिनिधि मडल १ अक्टूबर १९०६ को शिमला मे तत्कालीन वायसराय लार्ड मिन्टो से मिला। उन्होंने वायसराय को जो ज्ञापन दिया उसमें और कई मागो के अलावा मुसलमानों के और अधिक प्रतिनिधित्व की मांग भी थी।

इसके बाद मुस्लिम लीग अपने आप को मुसलमानो का एकमात्र प्रतिनिधि दल होने का दावा करने लगी। मुस्लिम लीग के अन्तर्गत मुस्लिम साम्प्रदायिकता सगठित रूप से पोषित होती रही।

मुसलमानों के हित के नाम पर मुस्लिम लीग के नेता खुल कर हिन्दुओ का विरोध करने लगे। वे जान-बूझ कर अपने सम्प्रदाय को राष्ट्र की मुख्य धारा से अलग रखना चाहते थे।

कांग्रेस अपना धर्मनिरपेक्ष चरित्र बनाये हुए थी, इसलिये मुस्लिम लीग ने कांग्रेस का विरोध और तेज कर दिया। कांग्रेस ने कभी हिन्दू-हितों की बात नहीं की, उसका जोर राष्ट्रीय एकता पर होता था। बाद में कांग्रेस ने ही भारत की पूर्ण स्वाधीनता की माग रखी। पर मुस्लिम लीग हमेशा कांग्रेस पर हिन्दुओं की संस्था होने का आरोप लगाती रही। मुस्लिम लीग ने कभी भी राष्ट्रीय एकता एव स्वाधीनता संग्राम का समर्थन नहीं किया।

कांग्रेस की ओर से हिन्दू मुस्लिम एकता और देश की स्वाधीनता के प्रश्न पर मुस्लिम लीग से समझौते की पेशकश चलती रही। लेकिन मुस्लिम लीग ने कांग्रेस से दूरी बनाये रखने में ही अपना हित समझा।

मुस्लिम लीग की माग पर १९०९ मे अंग्रेजों ने साम्प्रदायिकता के आधार पर मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन क्षेत्र की मांग स्वीकार कर हिन्दू और मुसलमानो के बीच एक ऐसी खाई पैदा कर दी, जिसे आज तक नही भरा जा सका है।

बिना किसी संघर्ष और आन्दोलन के मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए इन विशेष अधिकारो को मनवा कर साम्प्रदायिकता को एक सम्माननीय दर्जा

दिला दिया। इस प्रकार उसने राष्ट्रीय एकता का विकल्प साम्प्रदायिक राष्ट्रीयता दिया।

सरकार द्वारा मुसलमानों के लिये घोषित अलग निर्वाचन क्षेत्र की बात को कांग्रेस ने स्वीकार कर साम्प्रदायिकता को स्वीकृति दे दी। इससे हिन्दुओं का एक वर्ग कांग्रेस से नाराज हो गया और उसने यह अभियोग लगाया कि अल्पसंख्यक सम्प्रदाय, जिसका राष्ट्रीय हित से कोई सरोकार नहीं, के लिये बहुसंख्यकों के हितों का बलिदान कांग्रेस कर रही है। लेकिन कांग्रेस नेताओं का कहना था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता है। इस एकता के लिए ही उन्होंने समझौता किया है। पर बाद के अनुभवों ने यह साबित कर दिया कि कांग्रेस की यह धारणा गलत थी।

मुस्लिम लीग का हमेशा यह प्रयास रहा कि हिन्दू-मुसलमानों के बीच दूरी बढ़ाई जाये। हिन्दू-मुस्लिम एकता के किसी भी प्रयास से मुस्लिम लीग अपने आप को अलग रखती थी। यहां तक कि जब मुगल सम्राट अकबर की ४०० वी जयन्ती मनाई गई तो मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार किया। क्योंकि उसकी राय में अकबर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था।

हिन्दू-मुस्लिम एकता की जड़ों पर मुस्लिम लीग हमेशा कुठाराघात करती रही। इसमें उन्हें सफलता भी मिली। सदियों से चला आ रहा भाईचारे का सम्बन्ध और साम्प्रदायिक सद्भाव घृणा और विद्वेष में बदल गया। जीवन के सम्पूर्ण ढांचे का इस पर असर पड़ा। मुसलमानों के अलग ट्रेड यूनियन, अलग व्यापारिक संगठन और अलग चैम्बर बनने लगे।

मुस्लिम लीग द्वारा किये जा रहे अलगाव के इन प्रयासों को ब्रिटिश हुकूमत का पूरा सहयोग और समर्थन बराबर मिलता रहा।

१९२१ में कांग्रेस ने मुस्लिम लीग से एक समझौता किया। लखनऊ में हुए इस समझौते में सहयोग का जो दस्तावेज तैयार किया गया, उसके अनुसार मुस्लिम लीग कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन में शामिल होगी और कांग्रेस मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन को असहयोग आन्दोलन के साथ जोड़ेगी। खिलाफत आन्दोलन तुर्की साम्राज्य और तुर्की के खलीफाओं के समर्थन में चलाया जा रहा था और इसका उद्देश्य तुर्की में खलीफाओं के धार्मिक और राजनीतिक वर्चस्व को बनाये रखना था। कांग्रेस की धारणा थी कि इस समझौते से हिन्दू-मुस्लिम एकता को बल मिलेगा और मुस्लिम लीग कांग्रेस की राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता की नीतियों से सहमत होगी। पर ऐसा कुछ नहीं हुआ।

मुस्लिम लीग ने असहयोग आन्दोलन में भाग तो लिया, पर वे कांग्रेस की नीतियों से कभी सहमत नहीं हुए। उनका उद्देश्य, भारत की स्वाधीनता नहीं

वल्कि तुर्की में मुस्लिम साम्राज्य की सुरक्षा था। बाद मे असहयोग आन्दोलन को रोक देना पड़ा, जिसके साथ ही लीग और कांग्रेस का समझौता भी समाप्त हो गया। इस समझौते से हिन्दू-मुस्लिम एकता की जो लहर उठी थी वह १९२४ मे देश के विभिन्न भागो मे हुए हिन्दू-मुस्लिम दगो से दब गई।

जैसा कि हम पहले लिख चुके है कि मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वो ने भारत को कभी भी एक राष्ट्र नही माना और वे दो राष्ट्र के सिद्धान्त की वकालत करते रहे।

मुस्लिम बुद्धिजीवियो और राजनीतिज्ञो के दिमाग मे पाकिस्तान की कल्पना का ताना-बाना २० वी सदी के पहले दशक से ही बुना जाने लगा था। हालाकि मीनिंग आफ पाकिस्तान के लेखक दुर्रानी ने पाकिस्तान की माग के लिए हिन्दुओ को दोषी बताने के अति उत्साह मे यह बताने की कोशिश की मुसलमानो के दिमाग मे बंटवारे का विचार १९३५ मे ही कौधा, साथ ही उन्होने पाकिस्तान की माग को उचित ठहराते हुए यह लिखा कि भारत मे दो राष्ट्र है। एक हिन्दू, दूसरा मुसलमान।

पर सही तथ्य तो यह है कि १९१७ मे स्टाकहोम मे हुई अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस मे भारत के डाक्टर अब्दुल जब्बार खेर और प्रो० सत्तार खेर ने हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत की, यानी कि विभाजित भारत की चर्चा की थी।

१९२० मे बदायूं के मोहम्मद अब्दुल कादिर बिलगिरामी ने और सन् १९२३ मे खान साहेब सरदार गुलखान ने इन बातों को दोहराया।

सरकार द्वारा नियुक्त सर डेनिस ब्रे की अध्यक्षता मे उत्तर-पश्चिम सीमा कमिटी के समक्ष सरदार गुल खान ने गवाही देते हुए कहा कि हिन्दू-मुस्लिम एकता किसी भी हालत में हो नही सकती, इसलिये उत्तर-पश्चिम सीमा मे बसे मुसलमानों का इस्लामिक राज्य ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अलग होना चाहिये।

सन् १९२४ मे अलीगढ़ में भाषण देते हुए मोहम्मद अली ने यह कहा कि अगर हिन्दू-मुस्लिम समस्या का हल न हुआ तो भारत का विभाजन हिन्दू भारत और मुस्लिम भारत के रूप मे होगा।

सर मोहम्मद इकबाल, जिन्होंने कभी 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा-मजहब नही सिखाता आपस मे बैर रखना' जैसा राष्ट्रवादी गीत लिखा, ने १९३० में लीग की अध्यक्षता करते हुए यह घोषणा की कि हम पजाब, उत्तर-पश्चिम राज्य सिन्ध और बलुचिस्तान को एक राज्य के रूप मे देखना चाहते है। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश शासन मे या स्वाधीन भारत मे, इस भारतीय मुस्लिम राज्य में, कम से कम मुझे तो उत्तर-पश्चिम भारत के मुसलमानो का भविष्य दिखाई देता है।

इस तरह के मुस्लिम राज्य की कल्पना को पाकिस्तान का नामकरण देने का श्रेय चौधरी रहमत अली को जाता है, जिन्होंने १९२७ में लन्दन में अपने एक पर्चे—"अभी या कभी नहीं" में स्पष्ट लिखा कि पाकिस्तान मुसलमानों का एक पृथक राष्ट्र है, जिसका क्षेत्रफल और जनसंख्या फ्रान्स जितनी है। उन्होंने लिखा कि हम पृथक राज्य की मान्यता की मांग करते है।

मुस्लिम लीग के नेता यह अच्छी तरह जानते थे कि साम्प्रदायिकता उनका सबसे बड़ा हथियार है और इसके सहारे ही वे मुसलमानों का पृथक राज्य स्थापित कर सकते है। इसलिये मुसलमानों के दिलो-दिमाग में साम्प्रदायिकता का जहर भरने में उन्होंने कोई कसर बाकी नहीं रखी।

पाकिस्तान के संस्थापक मोहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की कल्पना को साकार रूप दिया। जिन्ना को, जो कभी कट्टर राष्ट्रवादी थे, गांधी की नीतियों से मतभेद होने के कारण कांग्रेस छोड़नी पड़ी और वे बुरी तरह हताश और निराश होकर लन्दन चले गये। वहां उन्होंने अपना ध्यान वकालत पर केन्द्रित किया। इधर भारत में जब मुस्लिम लीग को एक प्रभाव शाली नेता की आवश्यकता हुई, तो उसके नेताओं ने लन्दन जाकर जिन्ना को मनाया और उन्हें वापस भारत लाये। तब सर्वाधिकार सम्पन्न होकर जिन्ना ने मुस्लिम लीग का नेतृत्व लिया। इसके बाद जिन्ना का उग्रवादी साम्प्रदायिक रूप हमारे सामने आता है, जिसने कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखा।

जिन्ना के बारे में उल्लेख अटपटा लग सकता है लेकिन हम न भूलें कि पाकिस्तान का समर्थक होने से पहले जिन्ना का एक लम्बा राष्ट्रवादी अतीत था और पाकिस्तान के विचार को भी उन्होंने शुरू में नफरत से ठुकराया था।

कलकत्ता कांग्रेस (१९२८) के साथ ही हुए खिलाफत सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए मुहम्मद अली ने इस बात का जिक्र किया कि नेहरू रिपोर्ट में डोमीनियन स्टेट्स (औपनिवेशिक स्वराज्य) को माना गया और फिर शिकायत की कि 'आप लोग हर रोज गलत और अनैतिक विचारों से समझौता करते हैं लेकिन २५ प्रतिशत की आबादी वाले लोगों को विधान सभा में ३३ प्रतिशत सीटें नहीं दे सकते। आप यहूदी है, आप बनिये हैं।'

मुस्लिम लीग ने अपनी दिल्ली बैठक (मार्च १९२९) में तथाकथित '१४ सूत्र' पेश किये जो उस समय पैदा हो गये फूटवादी वातावरण में वे मंजूर किये जाने योग्य नहीं पाये गये।

इसी समय, जिन्ना के बारे में, जिन्हें स्वयं गांधी भी बाद में 'कायदे आजम' कह कर पुकारने जा रहे थे, जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि वे 'प्रसिद्ध ज्यादा हैं और प्रतिनिधित्वपूर्ण कम'। यह इस बात पर कटाक्ष था कि जिन्ना को जन

आन्दोलनों से चिढ थी और वे सबसे अलग-थलग रह कर काम करना पसंद करते थे।

गांधी जी ने भी, अपने तरीके से और शायद अनजाने मे, जिन्ना को चिढा दिया जब उन्होंने कहा कि वे कोरा चेक देने को तैयार हैं (एक बार कहा कि वे 'स्वदेशी' कलम से, 'स्वदेशी' कागज पर, 'स्वदेशी' स्याही से दस्तखत कर देंगे।) जिन्ना ने साफ जवाब दिया कि उन्हें और कुछ नहीं सिर्फ १४ सूत्र चाहिए।

१९३०-३२ के दौरान जब समय-समय पर जन संघर्ष छिडा तभी हालत सुधरी और सीमान्त गांधी खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में मुसलमानों की भागीदारी शानदार रही। लेकिन वह १९२०-२२ जैसा शानदार देशव्यापी मुस्लिम जन-उभार न था। कुछ डरसी गयी ब्रिटिश सरकार ने लन्दन मे गोल-मेज सम्मेलन (१९३०) बुलाया जिसमे कांग्रेस शामिल नही हुई, लेकिन उसमें शामिल होनेवाले चिमनलाल सीतलवाद जैसे उदारपंथियों ने नोट किया कि आगा खां जैसे लोग तक सीटों के आरक्षण के साथ संयुक्त मतदान के आधार पर समझौते के प्रति अनिच्छुक नहीं थे।

इसके बाद भारत में जुझारू तेवर तेज हुए (इसी समय भगत सिंह की शहादत हुई), लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस ने दूसरे गोलमेज सम्मेलन (लंदन १९३१) में शामिल होना तय किया। इसमे कांग्रेस का प्रतिनिधित्व अकेले गांधीजी ने किया और उनका शेष योगदान कुछ भी क्यों न रहा हो लेकिन उन्होंने साम्प्रदायिक प्रश्न को बिल्कुल गड़बड़ा दिया। इसमे चालाक ब्रिटिश सरकार को अनिच्छुक मध्यस्थ का दिखावा करने का मौका मिल गया और उसने वह साम्प्रदायिक फैसला (कम्युनल अवार्ड) दिया जिसे कांग्रेस अपनी दुविधा में न तो मंजूर कर सकी, न नामंजूर।

१९२८ मे कलकत्ता में साम्प्रदायिक समझौता हासिल करने में नाकामयाबी पर मौलाना आजाद ने सार-गर्भित टिप्पणी की: 'मुसलमान बेवकूफ थे जो आरक्षणों की माग कर रहे थे और हिन्दू उनसे भी बड़े बेवकूफ जो उनसे इंकार कर रहे थे।'

यह दोहरी गलती शर्मनाक तौर पर लंदन मे दोहरायी गयी जहा गांधीजी ने बी. आर. अम्बेदकर के दलित वर्गों संबंधी सुझावों को ठुकराया (और बाद में पूना मे अपने १९३२ के 'आमरण अनशन के बाद' मान लिया) इस तरह अंग्रेजों को नैतिकतासंपन्न मध्यस्थ होने का दिखावा करने और तथाकथित 'अल्पसंख्यकों संबंधी समझौते का दोहन, भारतीय आकांक्षाओं के खिलाफ करने का मौका मिल गया। यही वह समय था जब जिन्ना ने कहा कि उन्हें अपने जीवन का सबसे बडा सदमा पहुंचा, क्योंकि 'हिन्दू मानस, हिन्दू मनोभाव और

हिन्दू दृष्टिकोण ने उन्हें अपने देश के बारे में अत्यन्त निराशावादी बना दिया। उन्होंने वकालत करने के लिए लंदन जा बसने की ख्वाहिश जाहिर की—'इसलिए नहीं कि मैं भारत से प्यार नहीं करता, बल्कि इसलिए कि मैं अत्यन्त निराश महसूस कर रहा हूं।'

१९३५ में जब जिन्ना ब्रिटेन से लौटे और केन्द्रीय विधानसभा के लिए चुने गये तो उन्होंने कहा : मैं कम्युनल अवार्ड से खुश नहीं। मेरा आत्मसम्मान तब तक संतुष्ट न होगा जब तक हम अपनी योजना तैयार नहीं करते। जब तक इसकी जगह लेने वाली योजना के बारे में सहमति न हो, यह रहे।

चूंकि कांग्रेस भी अवार्ड को निगलने के लिए मजबूर हो गयी थी इसलिए मुस्लिम रुख, जैसे कि उसे जिन्ना ने जाहिर किया, जिद्दी न था।

तीस के दशक के मध्य के दिनों में वातावरण अधिकाधिक उग्र हो रहा था। वामपंथी तत्व जिन्हें जवाहरलाल और सुभाष बोस अपने तरीके से मदद दे रहे थे, संघर्ष का संयुक्त लोकप्रिय मोर्चा बनाने के लिए काम कर रहे थे। तभी मुस्लिम लीग ने भी लोकप्रियता अर्जित करने के लिए अपने लखनऊ अधिवेशन (१९३७) में 'स्वतंत्र जनवादी राज्यों के एक संघ में भारत की मुकम्मल आजादी का ऐलान किया—लगभग वैसे ही जैसे कांग्रेस ने १९२९ में किया था—और एक आर्थिक सामाजिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम मंजूर किया जो कांग्रेस के अधिकारों की घोषणा (फरवरी १९३१) जैसा था।

अब और ज्यादा लीग की खिल्ली नहीं उड़ायी जा सकती थी, क्योंकि १९३७ के चुनाव में कांग्रेस १८१ मुस्लिम सीटों में से सिर्फ ५८ पर चुनाव लड़ सकी थी और सिर्फ २६ जीत सकी थी जिनमें से १५ पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत से आयी जहां सीमांत गांधी की भूमिका महत्वपूर्ण थी। दूसरी ओर मुस्लिम लीग ने बहुत थोड़ी सीटें जरूर जीती थी लेकिन इस बात की संभावना दिखायी कि वह मुसलमानों के दिलों में रहे शून्य को भरेगी। खेद की बात है कि स्पष्ट राजनीतिक लक्षणों को नजरअंदाज करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि देश में सिर्फ दो पार्टियां हैं—कांग्रेस और सरकार—जबकि बाकी पार्टियों को सिर्फ पीछे लगना है।

इस प्रकार मुस्लिम लीग के प्रस्तावों को ठुकरा कर कांग्रेस ने भारी गलती की जब १९३७ में विधानसभा चुनावों के बाद उसने यू. पी. में (जो उस समय शुरू हुए मुस्लिम अलगाववाद का हृदय-प्रदेश था) और बम्बई तथा दूसरे प्रांतों में भी समझौता नामंजूर किया। यह निश्चित है कि इस प्रश्न पर मौलाना आजाद सही थे और उनके दूसरे साथी, जिन्होंने लीग की बढ़ती जाती क्षमता को निहायत कम करके आंका, गलत। विभाजन ने सिर उठाने की हिम्मत अभी भी

नहीं की थी और शायद उसे उठते ही दबाया जा सकता था। लेकिन यह होना नहीं था।

राजेन्द्र प्रसाद से लेकर सुभाष बोस तक एक के बाद एक कांग्रेस अध्यक्ष के जिन्ना से मिलने लेकिन कोई नतीजा न निकलने की कहानी उकसा देने वाली है।

निस्सन्देह जवाहरलाल सांम्प्रदायिक चिन्तन से सर्वथा मुक्त थे—सरदार पटेल ने एक बार कटाक्ष मे उन्हें 'ऐसे एकमात्र राष्ट्रवादी मुसलमान जिन्हें मैं जानता हू' बताया था। लेकिन उन्होने जिन्ना के प्रति अपनी व्यक्तिगत चिढ पर काबू पाने से इंकार किया, हालांकि जिन्ना के मन मे उनके प्रति कुछ ऐसी गरमाहट थी जिसके वे (जिन्ना) आदी नहीं थे। इसलिए वे तथाकथित 'मनोवैज्ञानिक व्यवधान' की दुहाई देकर जिन्ना के साथ गभीर बहस को टाल सके और खुलेआम सन्देह प्रकट किया (१९३१) कि हमारे एक दूसरे के साथ बहस करने से क्या मकसद हल होगा?

इस स्थायी प्रश्न पर जवाहरलाल बार-बार नाकामयाब रहे और, जैसा कि किसी ने कहा, 'हवाई दुनिया से वास्तविक दुनिया में कभी नही उतरे।'

अलगाववाद के विचारों को अनुकूल वातावरण मिल गया। मुसलमान कांग्रेस मे समर्थन वापस ले रहे थे, क्योंकि जैसाकि डब्ल्यू कैंटवेल स्मिथने लिखा—'वह उन्हें ऐसी कुछ चीज न दे रही थी जिसमें उनकी दिलचस्पी थी।

जिन्ना ने १९४० मे लाहौर में यह ऐलान किया कि लीग दो-टूक भाव से भारतकी आजादी के पक्षमें है लेकिन यह कि उनकी जीवन पद्धति और दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण यह एक सपना होगा कि हिन्दू और मुसलमान एक समान राष्ट्रीयता के रूप में विकसित हों। यह इसलिए हुआ क्योंकि विदेशी शासन के प्रति घृणा के रूप में संघर्ष तब्दील नही किया गया था।

१९४६ में मुस्लिम लीग ने 'डायरेक्ट एक्शन' का कार्यक्रम मुसलमानो के समक्ष रखते हुए, उन्हें हिंसा और दंगा करने का आह्वान किया। इस अवसर पर भीषण रक्तपात हुआ और व्यापक पैमाने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए। भारत के विभाजन के दौरान १९४७ में जो नरसंहार हुआ वह भी अभूतपूर्व था, जिसमे लाखों लोग मारे गये और करोड़ों लोग बेघरबार हो गये।

विभाजन के बाद यह आशा की गई थी कि धर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र भारत में साम्प्रदायिकता का कोई स्थान नहीं रहेगा। हिन्दू और मुसलमान सदभावपूर्ण वातावरण में भाईचारे के साथ रह सकेंगे।

स्वतन्त्रता के बाद कुछ वर्षों तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता को सर उठाने का मौका नही मिला। पर बाद में मुसलमानों के धार्मिक और राजनीतिक अधि-

कारों के नाम पर मुसलमानों के साम्प्रदायिक सगठन उभर कर सामने आने लगे।

मुस्लिम लीग, जो मृतप्राय. हो चुकी थी, इन्डियन मुस्लिम लीग के नाम मे पुनर्जीवित हो उठी। कश्मीर मे जनमत संग्रह मुक्ति मोर्चा तथा कश्मीर मुक्ति मोर्चा ने पैर पसारने शुरू कर दिये।

मजलिसे मुशावरत, जमाते इस्लामी आदि जैसे कट्टर धार्मिक और राजनीतिक सगठन खुल कर मुसलमानों मे साम्प्रदायिक विद्वेष भरने लगे।

कभी शरीयत के नाम पर, कभी उर्दू भाषा के प्रश्न पर, कभी धार्मिक स्थानों की रक्षा के नाम पर, कभी धर्म परिवर्तन के नाम पर तो कभी किसी लेखक द्वारा इस्लाम की आलोचना के नाम पर ये साम्प्रदायिक तत्व सक्रिय हो उठते हैं और मुसलमानों को हिंसा के लिए उकसाते रहते हैं।

अरब देशों से मुस्लिम सगठनो के नाम आये बेशुमार धन ने भी स्वतन्त्र भारत मे साम्प्रदायिकता की जड़ों को मजबूत करने मे मदद की। भारत में मुस्लिम साम्प्रदायिकता का रूप स्वतन्त्रता के पहले की अपेक्षा और अधिक व्यापक और खतरनाक हो गया।

दक्षिण भारत, जो कभी साम्प्रदायिकता से लगभग मुक्त था, वह भी स्वतन्त्रता के बाद साम्प्रदायिकता के गहरे असर में आ गया। मुस्लिम लीग, स्वतन्त्रता से पहले उत्तर भारत में सबसे ज्यादा सगठित थी, पर अब उत्तर भारत का स्थान केरल ने ले लिया। हैदराबाद के मुसलमानों का नेतृत्व इत्तहादुल मुसलमीन जैसे साम्प्रदायिक सगठन ने ले रखा है।

धर्मनिरपेक्ष सरकार के विदेश विभाग मे बडे पदों पर रहे, आधुनिक सभ्यता मे पले, पश्चिमी शिक्षा से प्रभावित शहाबुद्दीन जैसा व्यक्ति भी मुस्लिम साम्प्रदायिकता के सहारे अपना राजनीतिक भविष्य सुधारना चाहता है। भारत का मुसलमान इस २० वी सदी मे भी धार्मिक कट्टरता एवं कुसंस्कारों से ग्रसित है। वह भारतीयता से ऊपर अपने धर्म को तरजीह देता है। आज भी मुसलमानो के दिमाग मे यह बैठाया जाता है कि वे पहले मुसलमान है, फिर भारतीय। ऐसा नहीं कि सारे मुसलमान साम्प्रदायिक दृष्टि रखते हैं, इनमे देशभक्त, धर्मनिरपेक्ष तथा राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के समर्थकों की सख्या भी कम नहीं है और वह दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।

मुस्लिम साम्प्रदायिकता का मुकाबला हिन्दू साम्प्रदायिकता से नहीं किया जा सकता। सच्चे अर्थों मे धर्मनिरपेक्षता ही इसका विकल्प है।

धर्मान्धता और धार्मिक उन्माद के कारण ही आज मुसलमान न केवल राष्ट्रीय धारा से कट रहे है, बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में भी वे हरिजनों से कहीं अधिक पिछड़े हुए हैं। मुसलमानों की सामाजिक और आर्थिक दशा

को समझने के लिए १९७७ मे अहमदाबाद में फोरम फार सोशली एवं इकोनोमिकली ब्रैकवर्ड संस्था द्वारा किये गये सर्वे मे एक झलक मिलती है। मुसलमानो की प्रति व्यक्ति मासिक आय ४२ रुपये थी, जबकि हरिजनों की ६२ रुपये। मुसलमानों में मैट्रीकुलेट २५ प्रतिशत थे, जबकि हरिजनो मे ४.५ प्रतिशत। और ग्रैजुएट का प्रतिशत मुसलमानों मे १ प्रतिशत था, तो हरिजनों मे १.५ प्रतिशत था। गरीबी के स्तर से नीचे जीने वाले मुसलमान ८५ प्रतिशत थे, जबकि हरिजनों में यह प्रतिशत ७५ था। लेकिन क्या त्रासदी है कि मजहब की छोटी-छोटी बातों को लेकर मुसलमान उत्तेजित हो मरने-मारने पर उतारू हो जाते हैं, पर रोजी-रोटी के जीने के हक के लिए इन्होने कभी कोई संगठित प्रयास नहीं किया। मजहबी जुनून ने एक अच्छी जिन्दगी जीने की राह मे रुकावट डाल रखी है।

दुर्भाग्य से मुस्लिम राजनीति हमेशा ही कुछ मुट्ठी भर कुलीन और सम्पन्न वर्ग के हाथो मे रही। ये थोड़े से लोग ही पूरे मुस्लिम सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करते रहे। इन्हे मुल्ला-मौलवियों का समर्थन मिलता रहा। पर हकीकत मे ये कभी भी सम्पूर्ण मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि नही बन सके और न ही पूरे समाज के लिए इन्होने कुछ किया।

सभ महि जोति जोति है सोई।
तिसदै चानणि सभ महि चानणु होई ।। —नानक
(सभी प्राणियो मे एक परमात्मा की ज्योति ही व्याप्त है।
उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है।)
साच कहूँ. सुनि लेहु सबहि,
जिन प्रेम कियो तिन ही प्रभु पायो।
—गुरु गोविन्द सिंह, अकाल स्तुति

सिख—कल और आज

हिन्दू और सिख प्रारम्भ से ही एक दूसरे के अविभाज्य अंग रहे है। इनमे कभी कहीं कोई विभाजन रेखा नही रही।

सिख धर्म के प्रवर्तक एव संस्थापक से लेकर दसवें और अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह, तक ने हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुओ के खिलाफ कभी कुछ नही कहा। बल्कि हिन्दुओं की रक्षा के लिए कई गुरुओं ने कुर्बानिया दी।

गुरु नानक ने हिन्दू धर्म मे व्याप्त पाखण्ड का विरोध किया, जैसे—मूर्ति पूजा, गंगा में नहाने से पाप-मुक्त होने जैसी कुरीतियो आदि का विरोध। उस वक्त देश मे घोर निराशा का वातावरण व्याप्त था। धर्म पर पाखण्ड हावी हो रहा था। अतः ऐसी स्थिति से उबरने के लिए कई सूफी एवं सन्त उभर कर सामने आ रहे थे। इनमे कबीर के नाम का उल्लेख अप्रासगिक नहीं होगा। कबीर ने भी धार्मिक पाखण्ड पर कस कर चोट की। गुरु नानक की तरह। फलस्वरूप सूफी सन्तों के अलग-अलग पन्थ बनने लगे।

गुरु नानक महान मानवतावादी सुधारक थे। श्री गुरु नानक देव जी ने भारत को एक इकाई के तौर पर माना था। भारतवर्ष की एकता, अखंडता सिखों के लिए विशेष महत्त्व रखती है। इसे कायम रखने के लिए तथा देश की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सिख देशभक्तो के बलिदान भारत के इतिहास में प्रकाश-स्तम्भ का काम करते हैं। श्री गुरु नानक साहब के इन शब्दो को, जो उन्होंने बाबर के हमले के समय कहे थे हम यहां अंकित करना महत्वपूर्ण समझते हैं—

खुरासान खसमाना किया, हिन्दुस्तान डराया,
आपे दोस न देई करता, जयकर मुगल चढाया
काया कप्पड़ टुकटुकहोसी हिन्दुस्तान समालसी बोला

बावन अठ तरे जान सतानैव
होर वो उठ सी मर्द का चेला
सच की वाणी नानक आखै
सच सुणायसी सच की बेला

बाबर की सेनाओ ने ऊधम मचा कर, अधिकाश उजाडा तो पजाब का ही किया था परन्तु गुरु नानक देवजी ने, जो पूरे भारतवर्ष के नेता व गुरु थे, हिन्दुस्तान की ही बात कही है, न कि पंजाब प्रदेश की। सारे हिन्दुस्तान को एक इकाई माना है, जिसके उजाड़े की उन्हें भरपूर चिन्ता थी।

अपने दूसरे शब्दों में शेरशाह सूरी जो भारतीय थे, को 'मर्द दा चेला' (मर्द मुजाहिद) कहा है। उसके समय में भारतवर्ष का बोला होना कहा था। और यह सच्चाई भी है। शेरशाह मर्द का चेला कहलाने के योग्य भी था क्योंकि उसने पहली बार हिन्दुओं और मुसलमानो के लिए एक साझा कानून बनाने की कोशिश की थी। उसके चरण चिन्हो पर अकबर चला। भारतवर्ष के बोलवाले से ही सभी भारतीयों के बोलवाले संबंधित हैं जिनमे सिख भी शामिल हैं। देश के बोलबाले के कारण ही देशवासियों के भी बोलवाले होते है। यही गुरु नानक देवजी का महावाक्य तथा उपदेश है जिसको समझने की इस समय अत्यन्त आवश्यकता है।

गुरुग्रन्थ साहिब ४१ सन्तो, सूफियों और कवियो की रचनाओ का संकलन है, जिनमें ३५ हिन्दू हैं। इस ग्रंथ मे किसी भी प्रकार की हिंसा का जम कर विरोध है। प्रेम पर सबसे ज्यादा जोर है और अहंकार को सबसे ज्यादा बुरा बताया गया है। गुरु ग्रन्थ साहिब का प्रारम्भ ही ॐ शब्द से होता है।

यह एक आम धारणा है कि हिन्दुओं की रक्षा के लिए सिख जाति का जन्म हुआ। इसमें काफी हद तक सच्चाई भी है। गुरु अर्जुनदेव, गुरु तेग बहादुर और गुरु गोविन्द सिंह को मुगल शासक जहांगीर और औरंगजेब का कोप भाजन इसलिए होना पड़ा कि वे मुस्लिम शासको द्वारा हिन्दुओ पर किये जा रहे अत्याचारो का विरोध करते थे।

गुरु गोविन्द सिंह को औरंगजेब से लगातार लड़ना पड़ा। इस अनवरत् लड़ाई के ही कारण उन्हें खालसा पथ और निहंगो की स्थापना करनी पड़ी। गुरु गोविन्द सिंह ने पहली बार इस सिद्धात का प्रतिपादन किया कि जब अत्याचार से लड़ने के सभी उपाय विफल हो जायें तो उसका मुकाबला शस्त्र से किया जाना चाहिए।

१६७५ मे औरंगजेब ने गुरु तेग बहादुर पर इतने अत्याचार और जुल्म किये कि उनकी मृत्यु हो गई। कई सिख गुरुओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा की जिम्मेवारी ली और इसे निभाने के लिए उन्होने कभी अपने प्राणों तक की परवाह नही की।

१७६० में पठानों से सिखों की रक्षा करने के लिए मराठा हिन्दू पंजाब आये, क्योंकि उस वक्त पठानों से मुकाबला करने के लिए सिख अकेले समर्थ न थे। उत्तर भारत में पठानों को रोकने के लिए पानीपत की लड़ाई में एक लाख मराठी सैनिक मरे। कुछ वर्षों बाद पुन महादेवजी शिन्दे (सिन्धिया) ने मराठा, सिख और पठानों के बीच एक त्रिपक्षीय समझौता किया तब जाकर मराठा पंजाब की स्थिरता, स्थायित्व एव शांति के प्रति आश्वस्त हुए।

यह बहुत कम लोग जानते हैं कि गुरु गोविन्द सिंह ने जो कुछ भी लिखा वह खड़ी बोली और ब्रज भाषा में लिखा। उन्होंने पुराणों से प्रेरणा ली और अपना नाम हरराय से बदल कर गोविन्द सिंह रखा जो एक योद्धा का सा नाम था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'विचित्र नाटक' में भागवत गीता में कहे कृष्ण के सिद्धांतों को ही लगभग उसी रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी पुस्तक 'दसवें पादशाह का ग्रंथ' में पुराणों में उल्लिखित हिन्दू वीरों का उल्लेख किया। 'चण्डी का चरित्तर' और 'चण्डी की वार' में ऐसी देवी का जिक्र किया जो शैतानी ताकतों से लड़ती है। इसमें उन्होंने राम और कृष्ण की भी प्रशंसा की।

सिखों के दसों गुरु मूलतः हिन्दू थे। गुरु गोविन्द सिंह के पंज प्यारे पाचों हिन्दू थे। सिखों की सर्वथा अलग पहचान गुरु गोविन्द सिंह के समय से होती है जब उन्होंने सिंह की पदवी देते हुए पांच ककार (कड़ा, केश, कच्छा, कंघी और कृपाण) दिये। पर इसके बावजूद उन्होंने सिखों को कभी हिन्दुओं से अलग नहीं किया। हिन्दू–सिखों में सांस्कृतिक, सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्ध हमेशा की तरह अटूट बने रहे।

अलग सम्प्रदाय होते हुए भी सिख मुसलमानों और ईसाइयों की तरह हिन्दुओं से कभी अलग नहीं हुए। इनमें बेटी-रोटी का सम्बन्ध तो रहा ही, एक परिवार में एक व्यक्ति का सिख और दूसरे का हिन्दू होना परम्परा से आम बात रही है। सांस्कृतिक दृष्टि से दोनों सम्प्रदायों में एकता अधिक और विभिन्नता कम रही। वेश-भूषा, भाषा, धार्मिक रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार, खान-पान आदि में बहुत अधिक समानता है।

कालांतर में सिख एक अलग धर्म और जाति का रूप लेने लगे। लेकिन इसके बावजूद हिन्दू और सिख रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार में एक दूसरे के सबसे करीब रहे। हिन्दू सिखों में वैवाहिक सम्बन्ध तो रहा ही है, एक ऐसा वक्त भी था, जब पंजाब में हिन्दू परिवार में सबसे बड़ा लड़का सिख हुआ करता था। आज भी ऐसे कई परिवार मिल जायेंगे जिनमें एक भाई सिख है; तो दूसरा हिन्दू।

धीरे-धीरे हिन्दू धर्म की तरह सिख धर्म में भी पाखण्ड और कुरीतियां आती गयीं।

गुरु ग्रंथ साहब को पढ़ने और समझने की जगह उसकी पूजा की जाने लगी। उसे सुलाया और जगाया जाने लगा। गर्मियो मे उस पर हवा की जाने लगी और सर्दियों मे उसे ऊनी कपड़ो से ढका जाने लगा। एक वक्त ऐसा भी था जब गुरुद्वारों मे हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां रखी जाती थी और उनकी भी पूजा होती थी।

गुरु नानक ने गगा मे नहा कर पापमुक्त होने की आलोचना की थी। लेकिन उन्ही के अनुयायी स्वर्ण मन्दिर के परिसर मे स्थित सरोवर के 'पवित्र जल' मे नहा कर 'पवित्र' होने लगे। और तो और जल मे लोहे की कटार घुमा कर उसे 'अमृत जल' बताया जाने लगा और उसे 'छकने' (पीने) वाला, सच्चा सिख होने लगा।

बढ़ते हुए धार्मिक पाखण्ड के विरुद्ध स्वामी दयानन्द ने जब आर्य समाज की स्थापना की तो प्रारम्भ मे सिखो ने उन्हें समर्थन दिया। गुजरात से बुला कर स्वर्ण मन्दिर मे उनका प्रवचन कराया। सिख सुधारक आर्य समाजी बनने लगे। इनमें शहीद भगत सिंह के पिता सरदार किसन सिंह का नाम उल्लेखनीय है।

उसीके आस-पास बंगाल मे सुधारको ने 'ब्राह्मो-समाज' की स्थापना की थी। ट्रिब्यून पत्र के संस्थापक एवं प्रमुख सिख नेता सरदार दयाल सिंह मजीठिया ब्राह्मो समाज के उल्लेखनीय अनुयायियों में से थे। यानी हिन्दुओं मे जो सुधारवादी आन्दोलन हुए, उसका असर सिखों पर भी पड़ा।

अंग्रेज इतिहासकारों ने जानबूझ कर सिख, मराठा, मुस्लिम शब्दो का प्रयोग किया, जिससे उनमे अलगाव पैदा किया जा सके।

अंग्रेज इस बात को भलीभांति समझते थे, इसलिए फूट का बीज बोने के लिए उन्होंने सिखों को हिन्दुओं से अलग करने की चाल चली। जब अंग्रेजो ने सिखो को पराजित कर पंजाब पर अधिकार किया था उन्हें सिख पंथ तथा सिख मत को, लोगो की दृष्टि में तुच्छ तथा हेय दिखलाने की आवश्यकता हुई, जिससे लोग उनसे घृणा करने लगें। इस उद्देश्य से उन्होने ट्रंप नामक एक विद्वान से सिखों के धर्म ग्रंथ का अंग्रेजी मे अनुवाद कराया। उसमे उसने सिख मत तथा गुरुओ की खूब खिल्ली उड़ाई। उसमे परस्पर विरोधी बातें दिखला कर ग्रंथ साहब को एक चूं-चूं का मुरब्बा सिद्ध करने का यत्न किया गया। इसके बाद एक समय आया जब अंग्रेजों को हिन्दुओ तथा सिखों के बीच फूट डालने की आवश्यकता हुई। तब उन्होंने मेकलाफ नामक एक दूसरे विद्वान से उसी धर्म ग्रंथ का अनुवाद कराया, उसमे सिख धर्म को हिन्दुओं से एक सर्वथा भिन्न धर्म प्रमाणित करने का प्रयास किया।

सिखों के दस गुरुओं में से नौ के सिर पर लम्बे केश नही थे। गुरुनानक के

चित्रों में उनके सिर पर टोपी और छोटी-छोटी कतरी हुई दाढ़ी रहती थी। परन्तु मेकलाफ ने सभी गुरुओं के ऐसे चित्र बनवाये जिनमें गुरुओं के सिर पर लम्बे केश और पगड़िया थी। मेकलाफ के प्रचार से कई सिख तो यहा तक कहने लगे कि सिखो के लिए गो-मास भक्षण की भी मनाही नही है।

पहले सिखों मे सनातन वैदिक रीति से विवाह होते थे। बाद मे अंग्रेजो ने आनन्द मैरेज कानून बना कर सिखो की विवाह पद्धति भी अलग कर दी। १८८७ मे एक अंग्रेज डब्लू ओवेन कोल के मार्फत ब्रिटिश शासको ने मुख्य खालसा दीवान की स्थापना करवाई। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य था सिखों को हिन्दुओ से अलग करना तथा उनमे अंग्रेजपरस्ती की भावना भरना। खालसा दीवान ने १९०५ से स्वर्ण मन्दिर तथा अन्य गुरुद्वारो से सुधार के नाम पर हिन्दू देवी-देवताओ की मूर्तिया हटवाई। उस वक्त गुरुद्वारो पर उदासी सम्प्रदाय का आधिपत्य था और उन पर ब्रिटिश शासको का वरदहस्त था।

१८४८-४९ मे अंग्रेजो व सिखों मे हुए युद्ध मे अंग्रेजो ने सिखो को बुरी तरह पराजित कर पंजाब के सिख राज्य को अपने साम्राज्य मे मिला लिया। लेकिन सिख इस पराजय को बहुत जल्दी भूल गये और अंग्रेजों के प्रति बहुत जल्दी ही वफादार हो गये। १८५७ के विद्रोह को दबाने मे ब्रिटिश शासको के नेतृत्व मे सिख फौज ने बढ-चढ कर हिस्सा लिया और भारत की पूरी गुलामी में सहायक बने जिससे अगले ९० वर्षों तक भारत को जकड कर गुलाम रखा। उस वक्त सिखों ने अगर अंग्रेजो का साथ न दिया होता तो हो सकता है अंग्रेजो को उसी वक्त भारत छोड देना पडता।

सिखों की स्वामीभक्ति के लिए अंग्रेजो ने उन्हें पुरस्कृत किया और बडी संख्या मे फौज में सिखो की भरती की। अंग्रेजी फौज मे शामिल होकर सिखों ने जिस स्वामीभक्ति और वीरता का परिचय दिया, उससे खुश होकर अंग्रेजो ने उन्हें मार्शल रेस यानी योद्धा जाति की उपाधि से अलंकृत किया।

प्रथम विश्व युद्ध मे योरोप, अफ्रिका और तुर्की मे सिख सिपाही अंग्रेजो की ओर से बहुत बहादुरी से लडे। इस युद्ध मे वीरता के लिए भारतीयो को २२ सैनिक क्रास मिले, जिनमे से १४ सिखो को मिले।

गदर मे हिन्दू और मुसलमानों के एकजुट होकर हिस्सा लेने के कारण हिन्दू व मुसलमान दोनों ही अंग्रेजो की नाराजगी के शिकार हो गये थे। हालांकि बाद में हिन्दू और मुसलमानों में भी एक ऐसा वर्ग उभरा जिसने ब्रिटिश शासको को भरपूर सहयोग दिया।

१८७३ की पहली अक्टूबर को श्री गुरु सिंह सभा की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य सिखों मे पश्चिमी शिक्षा का प्रसार था। सिंह सभा के राजनीतिक अंग

आय पर भी इनका अधिकार होता था। इसलिए इस पर कब्जा जमाने के लिए हर तरह के हथकण्डे अपनाये जाने लगे।

धीरे-धीरे इस सगठन की कार्य प्रणाली रहस्यमय होती चली गई। कभी भी इसके आय-व्यय का ब्यौरा सिखो के सामने सही ढग से नही रखा गया। जब भी लोगो ने थी शिरोमणी गुरद्वारा प्रबन्धक कमिटी के गलत कार्यों का विरोध किया, इसके अधिकारी, सिखों की साम्प्रदायिक और धार्मिक भावनाओं को उभार कर अपने गलत आचरणो पर पर्दा डालते रहे।

धार्मिक कट्टरता और साम्प्रदायिकता को आधार बना कर ही इस पर कब्जा जमाने की कोशिशें होती रही है। और इन कोशिशों मे कांग्रेसियों और अकालियों मे बराबर होड रही। यहा तक कि कम्युनिष्ट पार्टी भी, जो धर्म को अफीम मानती है, इस होड में पीछे नही रही। धर्मनिरपेक्षता को ताक पर रख कर कम्युनिष्ट पार्टी ने 'देश भगत' पार्टी के नाम से १९५४ व १९६० मे कमिटी के चुनावो मे हिस्सा लिया। १९५४ मे कम्युनिष्ट पार्टी को दस सीटें मिली और १९६० में इनका पूरी तरह से सफाया हो गया। कांग्रेस का भी कमोबेश यही हाल रहा, क्योंकि अकाली दल के मुकाबले कांग्रेस और कम्युनिष्ट, धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता की होड में टिक नही पाये। १९६५ के कमिटी के चुनाव मे कांग्रेस और कम्युनिष्ट पार्टी ने मैदान छोड़ दिया और तबसे अकाली दल के ही दो गुट आपस मे लडते रहे। १९७९ में कांग्रेस ने दल खालसा और सन्त भिन्डरावाला को अकाली दल के खिलाफ हर तरह की मदद की। कांग्रेस की खुली मदद के बावजूद अकालियों के सामने ये लोग टिक नहीं पाये।

लोकसभा, विधानसभा और पंचायत के चुनाव मे सिखों की बडी सख्या कांग्रेस को वोट देती रही, पर कमिटी के चुनाव मे सिखो ने हमेशा अकालियो को समर्थन दिया। इसका अकालियों ने भरपूर लाभ उठाया और मनमाने ढंग से बुद्धि-जीवियों सहित समाज के अग्रणी लोगों को आर्थिक व अन्य तरीकों से उपकृत करते रहे। अगर निष्पक्ष जांच की जाये तो करोड़ो का गोलमाल कमिटी के हिसाब-किताब मे मिलेगा।

१९२० से २५ तक चला गुरुद्वारो को महंतों से मुक्त कराने का अकाली आन्दोलन पूर्णतः अहिंसक रहा, पर इसके साथ ही उग्रपंथी हिंसक धारा भी थी। उस समय जो उग्रपंथी समूह था वह अपने को बब्बर अकाली कहता था। इस समूह ने अहिंसा के बजाय हिंसा का रास्ता अपनाया था। इसका उद्देश्य था—वास्तविक या काल्पनिक शत्रुओं और गद्दार सिखो से बदला लेना। (जैसा कि आज के उग्रपंथी लेते है) ब्रिटिश सरकार ने ६२ बब्बर अकालियों को गिरफ्तार किया। उनमें

से २२ तो मुखबिर बन गये थे, ६ को अपने ही साथियो की गवाही के आधार पर फाँसी दे दी गयी थी। बाकी को या तो बरी कर दिया गया या विभिन्न अवधि की सजा दी गयी। पर ये बब्बर उग्रपंथी सिखों की मुख्य धारा से कटे थे। इन्हे जनसमर्थन हासिल नही था।

जिस सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर यह आदोलन किया गया था, बाद में उसमें भी भटकाव आता गया तथा गुरुद्वारों में दूसरी तरह के पाखण्ड पनपने लगे। सिख धर्म की स्थापना पाखण्डों, चमत्कारो, जाति-पाँति व किसी भी मनुष्यगत भेद-भावों के विरुद्ध की गई थी, लेकिन बाद मे ये बुराइया इस धर्म में आती गईं। सिखों मे हिन्दुओं की तरह ऊँच-नीच जातिया होने लगीं। पाखण्ड की हद तक गुरुग्रंथ साहिब की पूजा, अखण्ड पाठ और स्वर्ण मन्दिर परिसर मे स्थित तालाब मे पाप मोचन के लिए स्नान जैसी कुरीतिया जड जमाने लगीं।

२० वीं सदी के प्रारम्भ में सिखों मे, विशेषकर छात्रों मे नये विचारों का प्रवेश हुआ तथा वे स्वतंत्रता आन्दोलन की ओर आकर्षित होने लगे और उसमे बढ-चढ़ कर भाग लेने लगे। इसके पहले १८७९ मे महाराष्ट्र मे वासुदेव बलवन्त फडके ने और पंजाब में रामसिंह कूका ने ब्रिटिश शासन के प्रति विद्रोह किया। १९०७ तक अमृतसर का खालसा कालेज (जो भिण्डरावाला के उदय के बाद अलगाव-वादियों का मुख्य अड्डा बन गया) छात्रों के हृदय मे देशभक्ति की भावना जागृत करने का मुख्य अड्डा बन गया था। गोरों के विरुद्ध उग्र असन्तोष प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान उभर कर आया जब सिखों के एक वर्ग ने गदर पार्टी की स्थापना की तथा जिसने ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध असफल सशस्त्र विद्रोह किया। पर गदर आन्दोलन मे सिखों के साथ हिन्दू भी थे। इनमे डा० खाखेजीत तथा पिंगले आदि के नाम उल्लेखनीय है।

बाद मे १९१९ में अंग्रेजों ने सिखो को भी मुसलमानों की तरह कानून के तहत अलग दर्जा देकर सिखो को कानून की नजर में हिन्दुओं से अलग कर दिया।

सिखो मे भी हिन्दू और मुसलमानो की तरह एक वर्ग ऐसा था जो कट्टर अंग्रेज भक्त था।

सिखो मे हुक्मनामो का भी अपना इतिहास है और इनका दुरुपयोग कोई नई बात नही है।

१८४९ मे पजाब पर अंग्रेजो का कब्जा हो जाने के बाद ब्रिटिश हुकूमत द्वारा कई बार अकाल तख्त और उसके हुक्मनामों का दुरुपयोग किया गया। १८८७ में अंग्रेजी हुकूमत के इशारे पर भाई गुरमुख सिंह के खिलाफ एक हुक्मनामा जारी किया गया। भाई गुरमुख सिंह सुधारवादी धार्मिक नेता थे। उन्होंने मूर्ति-

पूजा और अकाल तख्त तथा हर मन्दिर साहब में तकिये लगा कर गुरुग्रंथ साहब का पाठ करने का विरोध किया था। १८ मार्च १८८७ को अकाल तख्त से एक हुक्मनामा जारी कर भाई गुरमुख सिंह को पंथ से बाहर कर दिया था, लेकिन भाई गुरमुख सिंह ने न तो क्षमायाचना की और न ही अपना सुधारवादी आन्दोलन बन्द किया।

इसी तरह का एक ब्रिटिश परस्त और सिख-समाज विरोधी हुक्मनामा २० सितम्बर १९१४ को गदर आन्दोलन में शरीक सिख स्वतंत्रता सेनानियों के खिलाफ जारी किया गया था। अंग्रेजों की गुलामी से भारत को आजाद कराने के लिए कनाडा और अमरीका से भारत पहुंचे इन सिखों का जब अंग्रेजी की पुलिस से टकराव हुआ तो उस वक्त अंग्रेज हुकूमत के प्रभाव में काम कर रहे अकाल तख्त ने एक हुक्मनामा जारी करके कहा कि अंग्रेजों से लड़ने वालों को सिख नहीं माना जा सकता।

अकाल तख्त की पवित्रता और मर्यादा को उस वक्त भी बड़ी जबरदस्त चोट पहुंचाई गयी थी, जबकि १४ अप्रैल १९१९ को जलियांवाला बाग में नरसंहार के दोषी जनरल डायर और कैप्टन विंगस को स्वर्ण मन्दिर में निमंत्रित करके उन्हें मंदिर के प्रथियों द्वारा बाल कटवाने और सिगरेट पीने की आजादी देते हुए सिख घोषित किया गया। बाद में अकाल तख्त की ओर से गुरमत द्वारा उन्हें सरोपे भी दिये गये।

पर इन सबके बावजूद आम सिख स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ा रहा। स्वतंत्रता संग्राम में सिखों ने सबसे आगे बढ़ कर हिस्सा लिया। यूं तो सारा भारत ही ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध था, लेकिन आजादी की लड़ाई में सबसे ज्यादा कुर्बानी पंजाब और बंगाल के लोगों ने दी। आजादी की लड़ाई में सिखों ने कुर्बानी एक सिख के रूप में 'सिखिस्तान' या 'खालिस्तान' के लिए नहीं बल्कि एक सच्चे राष्ट्र-वादी देशभक्त के रूप में, एक हिन्दुस्तानी की हैसियत से, हिन्दुस्तान की आजादी के लिए दी थी।

अंग्रेज चाहते थे कि हिन्दुस्तान के तीन टुकड़े हों और सिखों को इस बात के लिए बहुत उकसाया कि वे अलग देश की मांग करें। लेकिन सिख नेतृत्व बहकावे में न आया और उन्होंने भारत के साथ रहने का फैसला किया। तत्कालीन अकाली नेता मास्टर तारासिंह ने तो म्यान से, तलवार निकाल कर पाकिस्तान न बनने देने की घोषणा की थी।

अंग्रेज हुक्मरानों की हर कोशिश के बावजूद, हिन्दू-सिखों में कोई भेद-भाव नहीं हो सका। स्वतंत्रता संग्राम में सिखों का योगदान बंगाल के बाद सर्वोपरि रहा। अंग्रेज शासकों ने और स्व० मोहम्मद अली जिन्ना ने तत्कालीन सिख

नेताओं को हिन्दुओ और हिन्दुस्तान से अलग करने की बहुत चेष्टा की पर सफल नही हुए।

विभाजन का दुःख हिन्दू और सिखो ने मिल कर झेला। पाकिस्तान बनने के बाद सारी-की-सारी सिख व हिन्दू आबादी अपना सब कुछ गवा कर, लुट कर, पिट कर पाकिस्तान से खदेडे जाने के बाद, भारत आई और बसी।

पाकिस्तान से आये सिख और हिन्दू केवल पंजाब मे नही बल्कि भारत के विभिन्न प्रदेशो मे भी गये। अपनी मेहनत और मशक्कत से बहुत जल्द ही स्वावलम्बी हो गये तथा हर जगह प्रतिष्ठित नागरिक का दर्जा प्राप्त किया। सिखों के साथ कभी कोई दुर्भाव नही किया गया। वे प्रथम श्रेणी के नागरिक माने गये।

सिख जाति के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि बुद्धि-कौशल और तिकडम से ये दूर रहे। सीमा प्रदेश में रहने के कारण और लगातार विदेशी आक्रमणों का मुकाबला करने के कारण पंजाबी, विशेषकर सिख, योद्धा रहे। इसके अलावा शेष सिख मूलतः कृषक रहे। दिमागी काम से ज्यादा मशक्कत का काम करते रहे। सिख जाति सपाट, सीधी और सच्ची है। इसीलिए पजाब मे व्यवसाय और उद्योग मुख्यत' हिन्दुओ के हाथ मे रहे। सिख का जाति-गत चरित्र यह रहा है कि कोई बात इसके दिमाग मे बैठ जाय या बैठा दी जाय तो निकलती नही। और निकल जाय तो आसानी से बैठाई नही जा सकती। सिख, नया धर्म होने के कारण स्वभावतः कुछ हद तक कट्टर है। धर्मान्धता सिखों में कूट-कूट कर भरी है। बावजूद इसके कि अधिकाश धर्म का पालन नही करते। लेकिन धर्म के प्रति आस्थावान है। धार्मिक कट्टरता और धर्मान्धता का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि सिखो का एक वर्ग निहंग सिख २०वी सदी मे भी १८वीं सदी की जिन्दगी बसर कर रहा है। और सिखो मे उन्हें आदर से देखा जाता है। यहां एक सच्ची घटना का उल्लेख अप्रासंगिक नही होगा।

पंजाब से एक निहंग अपनी घोड़ी में बैठे-बैठे ट्रेन से सफर कर बिना टिकट दिल्ली आया। दिल्ली स्टेशन पर टिकट मांगे जाने पर उसने कहा कि चूंकि वह अपनी घोडी पर चढ़ कर आया है इसलिए उसने टिकट नही कटाई। इस पर बिना टिकट यात्रा करने के आरोप में उसे रोक लिया गया। यह खबर स्टेशन के पास स्थित शीशगंज गुरुद्वारे में पहुंची तो बडी संख्या मे सिख स्टेशन पहुंचे और जुर्माना सहित टिकट का पैसा अदा कर उस निहंग का वीरोचित स्वागत कर जुलूस बना कर ले गये।

एक और घटना का जिक्र यहां करना चाहूँगा। ज्ञानी जैल सिंह जब पंजाब के मुख्यमंत्री थे तो उन्होने एक घोड़े को गुरुगोविन्द सिंह के घोड़े का वंशज बताते हुए

उसका भव्य जुलूस निकाला। जिन रास्तों से यह घोड़ा गुजरा हजारों सिख उसके दर्शनार्थ उमड़ पड़े। घोड़े द्वारा छोड़ी गई लीद को लोग प्रसाद के रूप में उठा कर अपने घर ले गये।

पर जो काम ब्रिटिश शासक नहीं कर पाये, वह स्वतंत्र भारत की राजनीति ने कर दिखाया। हिन्दू और सिखों में अलगाव की बात जो स्वप्न में भी नहीं सोची जा सकती थी, उसे हमारे देश के राजनीतिज्ञों ने अपने क्षुद्र राजनीतिक स्वार्थों के लिए मूर्त रूप दे दिया। जिन सिखों ने देश की अखण्डता और स्वतंत्रता के लिए सबसे ज्यादा कुर्बानी दी वही सिख समाज देश से अलग होने की बात करे, इससे बड़ी त्रासदी और क्या हो सकती है? इसके लिए सिख-समाज का अनुदारवादी कट्टर धार्मिक नेतृत्व तो दोषी है ही, लेकिन शासक दल सहित भारत के अन्य राजनीतिक दल भी कम दोषी नहीं, जिन्होंने सत्ता हासिल करने के लिए या सत्ता में बने रहने के लिए राष्ट्र की कीमत पर वोटों को प्राथमिकता दी। सच पूछिये तो सिख साम्प्रदायिकता देश की आजादी के बाद की देन है।

अब तो हिन्दू और मुसलमानों की तरह हिन्दू और सिखों में भी साम्प्रदायिक कटुता पैदा होती जा रही है। जिन तरह के कारणों से हिन्दू और मुसलमानों के बीच दंगे होते रहे हैं, वैसे ही कारण हिन्दू–सिख दंगों में भी देखने को मिलते हैं।

हरियाणा के करनाल शहर में एक गुरुद्वारा और एक मन्दिर अगल-बगल में हैं। १९८३ में गुरुद्वारा और मन्दिर सिख-हिन्दुओं के बीच तनाव का कारण बने हुए हैं। मन्दिर और गुरुद्वारा की ऊँचाई को लेकर दोनों सम्प्रदायों के बीच तनाव उत्पन्न होता रहता है। कभी सिखों ने गुरुद्वारे के गुम्बद पर ऊंचा निशान साहिब लगा कर अपनी श्रेष्ठता जाहिर करना चाही तो हिन्दुओं ने उससे भी ऊँचा त्रिशूल लगा कर उनकी श्रेष्ठता को चुनौती दी। गुरुद्वारे और मन्दिर की इस ऊँचाई की होड़ ने दोनों सम्प्रदायों के बीच कटुता पैदा कर दी।

नवम्बर १९८४ के दंगों में दिल्ली स्थित केन्द्रीय सरकार के एक बड़े सिख अफसर की बहन की खाली पड़ी जमीन पर हिन्दुओं ने कब्जा कर लिया। समझाने-बुझाने से बात नहीं बनी तो अदालत के आदेश से पुलिस को साथ लेकर जब वे जमीन खाली कराने आये तो देखा कि हिन्दुओं ने देवी-देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की हुई थीं। पुलिस ने दंगों के डर से जमीन को खाली कराने से इन्कार कर दिया और ये पंक्तियां लिखे जाने तक (जुलाई १९८५) जमीन पर असामाजिक-तत्वों का जबरन कब्जा बना हुआ था।

दरअसल पंजाब का असली झगड़ा पंजाबी सूबे की मांग को लेकर शुरू हुआ। अकाली दल ने पंजाबी सूबे की मांग की, जो कि हर दृष्टि से एक जायज मांग थी। जब भाषावार प्रदेश बने तो पंजाबी भाषा का प्रदेश क्यों नहीं बनाया गया?

लेकिन चूंकि यह माग अकालियो ने की इसलिए हिन्दू इसमें अलग रहे। इसके पहले मर्दुमशुमारी मे मातृभाषा का प्रश्न उठा तो पजाब के हिन्दुओं ने अपनी मातृभाषा पजाबी के बजाय हिन्दी लिखाई। यह हिन्दुओ की भूल थी। इधर अकाली दल ने भाषा के साथ धर्म को जोड़ दिया। पजाबी, जो पंजाब के लोगो की भाषा थी, उसे गुरुमुखी नाम देकर उसे धार्मिक रग दे दिया। इसका हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों ने लाभ उठाया और हिन्दुओ को पजाबी के बजाय हिन्दी को अपनी मातृभाषा लिखाने के लिए उकसाया। यही से पंजाब मे हिन्दुओं और सिखो के बीच दूरी पैदा होनी शुरू हुई जिसको कम करने की कोशिश किसी खेमे से नही की गई। राजनीतिक नेताओ ने इस दूरी का लाभ अपने-अपने राजनीतिक हितो के लिए उठाया। देश का हित और पजाब का हित गौण होता गया।

वर्तमान हिन्दू-सिख विवाद विभाजन के बाद भारतीय इतिहास की सबसे दुखद घटना है। इस विवाद का जन्म भारतीयो के कुछ वर्ग विशेष की सकीर्ण विचारों की वजह से हुआ जो मूलतः सहिष्णुता और समझ की परम्परागत हिन्दू विशेषताओं के सम्पूर्ण विपरीत है। कई बार इस बात पर लोगों को आश्चर्य होता है कि क्यों सिख ही अपनी मूल संवैधानिक मांगो को लेकर उत्तेजित होते रहे हैं।

क्यो भाषा के आधार पर पंजाब राज्य सबसे अन्त मे बना और वह भी दस वर्षों बाद? क्यों केवल पंजाब की राजधानी चडीगढ ही अकेले केन्द्र द्वारा शासित होती है? इस तरह और भी बहुत से अनुत्तरित प्रश्न है जिन पर विस्तार और गम्भीरता से खोज की जरूरत है, और राष्ट्रीय स्तर पर इनके उत्तरों से लोगों को अवगत कराने की आवश्यकता है।

१९२० मे गुरुद्वारों मे सुधार के लिए किये गये आन्दोलन के दौरान अकाली दल की स्थापना की गई थी। १९३७ तक इस दल का चरित्र विशुद्ध सुधारवादी था। इसकी गतिविधियां धर्म और समाज मे आई कुरीतियो और रूढियों के विरुद्ध लड़ने तक सीमित थी।

१९३७ से दल के नेताओं ने राजनीतिक उद्देश्य भी शामिल कर लिये और तब से यह सिख सम्प्रदाय-विशेष कर भूमिधर जाट सिखो का प्रमुख राजनीति दल बना हुआ है। मूलतः इसका साम्प्रदायिक चरित्र रहा पर इसके साथ ही इसके राष्ट्रवादी तेवर भी बने रहे। स्वतंत्रता के बाद जब-जब भी अकाली दल सत्ता मे रहा इसको केन्द्र से कभी कोई शिकायत नही रही और न ही इसको कभी यह लगा कि सिख धर्म और सिख पंथ के लिए कोई खतरा है। यह एक अजीब बात है कि जनसंघ और कांग्रेस तक की साझेदारी मे अकाली दल ने शासन किया।

सत्ता हासिल करने के लिए इसने कम्युनिस्टों का सहयोग भी लिया। पर जब भी अकाली दल सत्ता से बाहर रहा तभी सिखों की साम्प्रदायिक भावना को उभार कर केन्द्र के विरुद्ध आन्दोलन चलाता रहा।

अकाली दल की राजनीति और धार्मिक गतिविधियां हमेशा ही गुरुद्वारों से संचालित होती रही हैं। सिखों का समर्थन पाने के लिए दल अपने आन्दोलनों को धरम युद्ध का नाम देता रहा है। अकाली दल ने जब भी जिन मांगों को लेकर आन्दोलन किया उनमें अन्य मांगों के अलावा धार्मिक मांगें भी शामिल होती थीं। अक्सर ऐसा देखा गया कि जैसे-जैसे आन्दोलन जोर पकड़ता था, धार्मिक मांगें प्रमुख हो जाती थी और अन्य मांगें गौण। इन्हीं सब कारणों से पंजाब के हिन्दू, अकाली दल द्वारा संचालित किसी भी आन्दोलन से अपने आप को अलग रखते रहे। पर इन सब का १९८२ तक हिन्दू-सिखों के आपसी रिश्तों पर कहीं कोई फर्क नहीं पड़ा। हिन्दू और सिखों के बीच जो भी हल्की सी विभाजन रेखा रही, उसके लिए अकाली प्रमुख रूप से जिम्मेवार रहे। पर हिन्दू एकदम निर्दोष हों, ऐसी बात भी नहीं। इस दूरी को बनाये रखने में हिन्दू साम्प्रदायिकता भी कम दोषी नहीं रही। पंजाब में अर्से से हिन्दू और सिखों के अलग-अलग शिक्षण संस्थान रहे। इन शिक्षण संस्थानों से जहां एक ओर राष्ट्रीय धारा फूटी, वहीं इसके समानान्तर अपेक्षाकृत छोटे रूप में साम्प्रदायिक धारा भी प्रवाहित होती रही।

१९७७ में इन्दिरा कांग्रेस की हार के बाद अकाली दल न केवल पंजाब में बल्कि केन्द्र में भी सत्ता में भागीदार बना। यह साझेदारी तीन वर्षों तक चली और इस दरम्यान न तो कोई आन्दोलन ही किया गया, न केन्द्र के विरुद्ध कोई शिकायत की गई और न ही आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को लागू करने की बात की गई। हां, १९७३ में पारित आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव संशोधित रूप में १९७८ के अकाली दल के अधिवेशन में जरूर पारित किया गया। जिस वक्त यह प्रस्ताव पारित हो रहा था, उस वक्त मंच पर जनता पार्टी के अध्यक्ष चन्द्रशेखर और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हरकिशन सिंह सुरजीत भी उपस्थित थे। पर जहां तक आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव का प्रश्न है, वह १९८० तक पृष्ठभूमि में रहा, क्योंकि अकाली दल सत्ता में था।

१९७८ में सिखों में एक नया नेता उभर कर आया—भिंडरांवाला। १९७८ में बैसाखी के अवसर पर निरंकारियों के एक धार्मिक उत्सव पर भिंडरांवाला अपने अनुयायियों के साथ हिंसात्मक आक्रमण करने गया। पर निरंकारी शायद इसके लिए प्रस्तुत थे। उन्होंने भिंडरांवाला के लोगों का डटकर मुकाबला किया, जिसमें भिंडरांवाला के १३ अनुयायी तथा तीन निरंकारी मारे गये।

एक सम्प्रदाय के होते हुए भी सिखों और निरंकारियों मे मूलभूत अंतर है। सिखों में जब पाखण्ड आया और मूर्तिपूजा होने लगी, उसके विरोध मे निरंकारी सम्प्रदाय का जन्म हुआ था। बाद में इसने सिखों से अलग सम्प्रदाय का रूप ले लिया। बाकी सिखो की तरह निरंकारी गोविन्द सिंह को अन्तिम गुरु नही मानते। निरंकारियों में गुरु परम्परा अब भी जारी है। इसके अलावा गुरु ग्रन्थ साहिब को भी ये अन्तिम ग्रन्थ नहीं मानते, उसके साथ निरंकारी गुरुओ द्वारा रचित 'अवतार वाणी' को भी इन्होने जोड़ दिया। १९७८ के खूनी दगों के बाद निरंकारियों को सिख ग्रन्थियों ने एक हुक्मनामे के तहत सम्प्रदाय से बहिष्कृत कर दिया। तब से निरंकारी सिख, उग्रपंथी सिखों के हमले के शिकार होते रहे। इन हमलों मे इनके एक गुरु सहित दर्जनों निरंकारियों की हत्या की जा चुकी है।

सिखों मे भी हिन्दुओं की तरह जात-पात है, जबकि सिख धर्म मे इसकी सख्त मनाही है। सिखो में कम से कम ३० प्रतिशत मजहबी यानी हरिजन सिख है, जिनके साथ उच्च वर्ग के सिख शादी ब्याह नहीं करते। हिन्दू हरिजनो की तरह सिखों का यह वर्ग भी शोषित है। मजहबी व निरंकारी सिखो का अकाली दल को समर्थन कभी नही मिला। नवम्बर १९८४ के दंगों के बाद से पहली बार निरंकारी और मजहबी सिख अकालियों के थोडा करीब आये, विशेष कर मजहबी सिख। १९८५ में पंजाब मे हुए लोक सभा व विधान सभा चुनावों मे इन्होंने अकालियो को वोट दिया।

१९७८ मे भिंडरांवाला का उदय कोई आकस्मिक नहीं था। एक सुनियोजित षडयन्त्र के तहत ज्ञानी जैल सिंह और संजय गाधी की मदद से अकालियों के मुकाबले भिंडरांवाला को खड़ा किया गया था। प्रारम्भ मे कांग्रेस की मदद से ही भिन्डरावाला ऊभर उठा। श्री गुरुद्वारा प्रबन्धक कमिटी के चुनाव में इसका इस्तेमाल किया गया। लेकिन वहा बुरी तरह असफल रहा। १९८० के लोकसभा चुनाव में भिन्डरावाला ने खुल कर कांग्रेस को समर्थन दिया और कम से कम दो कांग्रेस (आई) प्रत्याशियों के समर्थन मे भाषण भी दिए। लाला जगत नारायण की हत्या के आरोप मे इसके विरुद्ध वारंट के बावजूद जिस नाटकीय ढंग से सात दिन की मोहलत देकर भारी सम्मान के साथ हजारों सिखों की उपस्थिति में इसे गिरफ्तार किया गया और कुछ ही दिनों बाद विना शर्त रिहा किया गया, उन सब ने इसको सिखों—विशेष कर सिख युवकों के बीच हीरो बना दिया।

अपनो अपार लोकप्रियता से भिन्डरांवाला का दिमाग सातवें आसमान पर पहुंच गया। और वह अपने आप को सिखों का स्वयंभू नेता मानने लगा।

एक वक्त ऐसा आया जब भिन्डरावाला कांग्रेस के हाथ से निकल गया और कांग्रेस (ई) के लिए एक बड़ी चुनौति और खतरा बन बैठा।

भिन्डरावाला लगभग अशिक्षित, पर बहुत ही चतुर, अतिमहत्वाकांक्षी और गर्म मिजाज का व्यक्ति था। उसने सिखो में, विशेषकर युवकों में व्याप्त भटकाव, हताशा और निराशा का भरपूर लाभ उठाते हुए हिन्दुओं के विरुद्ध विष-वमन कर सिखों मे एक नई मानसिकता को उभारा। तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर, गलत ढग से पेश कर एक तरफ वह सिखो के अहम को तुष्ट करता था तो दूसरी तरफ उनमें हिन्दुओं के प्रति द्वेष और नफरत भरता रहता था। वह कहा करता था कि सिखो ने ही आन्दोलन कर आपातकाल समाप्त करवाया तथा हिन्दुओ को भी आजाद करवाया, भाषावार प्रान्त के लिए केवल सिखों को ही इस देश मे आन्दोलन करना पडा इत्यादि। वह हिन्दू पुलिस अफसरों द्वारा सिख कैदियों पर कथित अत्याचार के वीभत्स चित्र खीचा करता था तथा कहता था कि हिन्दुओं के साथ इस तरह के अत्याचार का एक भी उदाहरण सारे देश में नहीं मिलेगा। वह उदाहरण देकर बताता था कि कैसे एक सिख के शरीर से पोस्टमार्टम् मे आधा किलो मिर्चा निकली, किस तरह सिख महिला कैदियों को नंगाकर उनकी परेड कराई गई।

आपातकाल में अकाली दल के ही नही अन्य दलो के लोग भी जेल गये थे। जार्ज फर्नाण्डिस तो उस वक्त तोड़फोड़ तक करा रहे थे। आर०एस०, एस० के हजारो कार्यकर्त्ता सत्याग्रह कर जेल गये।

भाषावार प्रान्त के लिए आन्ध्र, महाराष्ट्र और गुजरात की जनता को आन्दोलन करना पडा था।

हमारे देश की पुलिस, अत्याचार की पर्यायवाची होकर रह गई है। भागलपुर का अंखफोड़वा काण्ड तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसमें पुलिस अफसर सभी हिन्दू थे तथा पीड़ित भी हिन्दू ही थे। बंगाल में नक्सलपंथियो पर पुलिस ने क्या कम अत्याचार किये थे? पर भिंडरावाला को तो तथ्यों से कोई मतलब नही था। उसे तो सिखों में साम्प्रदायिकता उभारनी थी।

वह सन्त होते हुए हिन्दुओ के प्रति ऐसी भाषा का प्रयोग करता था, जिसे हम लिखने का साहस नही कर पा रहे है। और यह भाषण उनका टेप मे है। बात-बात पर हिन्दुओं की भर्त्सना करना, उनका मजाक उड़ाना, उनके प्रति अश्लील शब्दो का प्रयोग करना आदि उसके उपदेश एवं भाषणो का अमिट अग बन गये थे। वह खुलेआम हिंसा की वकालत करता था तथा एक बार तो यहा तक कह दिया कि अगर उसकी 'धर्म प्रचार' की गाडी पुलिस ने न छोडी तो वह पांच हजार हिन्दुओं की हत्या कर उसका बदला लेगा। उसने निर्दोष हिन्दू, सिखो [illegible] आये

दिन होने वाली हत्याओ के विरुद्ध कभी एक शब्द नहीं कहा। उसके शिष्य खुले-आम गैरकानूनी, आधुनिक हथियारों से लैस स्वर्ण मन्दिर परिसर मे घूमते थे। आपसी झगड़े मे जब गुरु रामदास सराय से उसे निकाल बाहर किया गया तो उसने अकाल तख्त मे अपने हथियारबन्द अनुयायियो के साथ डेरा जमा लिया। उसके अनुयायी खुलेआम स्वर्ण मन्दिर तक की पहली मंजिल पर हथियारो से लैस किले की तरह चौकसी करते रहते थे। उन्होने सारे स्वर्ण मन्दिर परिसर की किलेबन्दी कर रखी थी।

लाला जगतनारायण की हत्या को लेकर भिण्डरावाला की गिरफ्तारी के दौरान जो कुछ हुआ उसने भिण्डरानवाला को हीरो बना दिया। उसे हीरो बनाने मे तत्कालीन गृह-मंत्री ज्ञानी जैल सिंह की प्रमुख भूमिका रही। गिरफ्तारी से छूटते ही भिण्डरांवाला स्वर्ण मन्दिर परिसर मे चला गया तथा वहां से उसने जो कुछ किया वह सर्वविदित है। अब वह बहुत ही महत्वाकांक्षी बन चुका था। अपने आपको किसी भी कानून के परे मानने लगा था।

लगातार दो वर्षों तक भिण्डरावाला बेरोकटोक हिन्दुओ, निरंकारियो और यहां तक कि सिखों के एक वर्ग के विरुद्ध खुल कर जहर उगलता रहा। नफरत और आक्रोश के बीज बोता रहा। भिण्डरावाला का एक भी भाषण या इण्टरव्यू ऐसा नहीं होता था जिसमें हिन्दुओं के विरुद्ध अपमानजनक, नफरत से भरी बातें न हो।

सबसे दुख की बात तो यह रही कि सिख नौजवानों पर भिण्डरावाला का तेजी से प्रभाव बढ़ रहा था तथा वे भिण्डरांवाला के नेतृत्व मे पागलपन की हद तक धार्मिक उन्माद की स्थिति में पहुंच गये थे।

ब्लू स्टार आपरेशन और नवम्बर १९८४ मे हुए हिन्दू-सिख दंगो से खालिस्तान का कोई सम्बन्ध नही है। १९६९ मे अकाली दल और कांग्रेस की मिलीजुली सरकार में वित्त मंत्री रहे जगजीत सिंह चौहान ने सितम्बर १९७१ मे लन्दन मे खालिस्तान की मांग करते हुए भारत मे सिखो पर कथित अत्याचारों का भयावह चित्रण किया और कहा कि भारत मे बड़ी संख्या मे गुरुद्वारे नष्ट किये जा रहे हैं। तबसे खालिस्तान समर्थक सिखों का एक वर्ग लगातार इस आधार पर खालिस्तान की मांग करता रहा है कि भारत मे सिख द्वितीय श्रेणी के नागरिक है और उन पर आये दिन अत्याचार होते रहते हैं। जबकि इन कथित आरोपों का कम-से-कम १९८४ तक सच्चाई से कही दूर का वास्ता भी नहीं रहा।

१६ जून १९८० को बलवीर सिंह सन्धु ने स्वर्ण मंदिर मे पत्रकारों की उपस्थिति में खालिस्तान की स्थापना की घोषणा की। १ नवम्बर १९८० को गुरुनानक जन्म दिन समारोह के अवसर पर खालिस्तान के पोस्टेज स्टाम्प बांटे गये। इसके

पहले मार्च १९८० में जगजीत सिंह चौहान ने आनन्दपुर साहिब में खालिस्तानी झण्डा फहराया।

दिल्ली और पंजाब के कई गुरुद्वारों को खालिस्तानी समर्थकों ने अपनी गतिविधियों का केन्द्र बना लिया। स्वर्ण मंदिर से ये तत्व बेधड़क खुलेआम खालिस्तानी गतिविधियों का वर्षों तक सचालन करते रहे। ब्लू-स्टार आपरेशन और नवम्बर के दंगे तो बहुत बाद की बात हैं।

किसी भी निष्कर्ष पर पहुचने से पहले इन तथ्यों को ध्यान में रखना जरूरी है, विशेषकर सिखों के लिए।

इस पहलू का सबसे दुखद पक्ष यह रहा कि सिखों में अपवाद को छोड़ कर किसी ने भी भिण्डरांवाला द्वारा सिख धर्म के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध की जा रही हरकतों का खुल कर विरोध नहीं किया। इससे हिन्दू साम्प्रदायिकों को हिन्दुओं को यह समझाने में सफलता मिली कि सारे सिख भिण्डरावाला के साथ हैं तथा हिन्दू विरोधी हैं। हालांकि यह तथ्य नहीं था, पर सिखों की चुप्पी ने इस धारणा को हिन्दुओं के मन में बैठाने में मदद की।

भिण्डरावाला हिन्दुओं को धोती वाले, टोपी वाले कह कर सम्बोधित करता था। वह खुलेआम सिखों का आह्वान करते हुए कहता था कि एक सिख ३५ हिन्दुओं के बराबर है तथा हर सिख को एक मोटरसाइकिल और एक रायफल या स्टेनगन रखनी चाहिए। सिखों के मन में हिन्दुओं के प्रति जितनी नफरत भिण्डरावाला ने बोई वह सिख इतिहास में बेमिसाल है। सिख–हिन्दू के बीच भिण्डरावाला ने एक ऐसी खाई पैदा कर दी जिसे पाटना एक मुश्किल काम हो गया।

दो वर्षों तक भिण्डरावाला की वजह से पजाब के हिन्दू एक सन्नास की जिन्दगी जीते रहे।

जब लाला जगतनारायण की हत्या की गई तो भिण्डरावाला ने कहा कि हालांकि उनकी हत्या में उसका हाथ नहीं है, पर हत्यारे उसके पास आयें तो वह उन्हें सम्मानित और पुरस्कृत करेंगे। हिंसा की इससे बढ़ कर और वकालत क्या हो सकती है? भिण्डरावाला के इस तरह के वक्तव्यों ने उसके प्रति पजाब ही नहीं सारे देश के हिन्दुओं में एक आक्रोश की भावना पैदा कर दी।

हिन्दुओं को सिखों से यह शिकायत रही कि जब भिण्डरावाला इस तरह की हरकतें कर रहा था तथा पवित्र धार्मिक स्थल स्वर्ण मन्दिर की पवित्रता नष्ट कर रहा था तो उन्होंने उसका विरोध क्यों नहीं किया? स्वर्ण मन्दिर के मुख्य पुजारियों, अकालीदल एवं गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अधिकारियों ने चाहे डर से ही सही भिण्डरावाला को जो समर्थन दिया उससे भी हिन्दुओं में सिख जाति के प्रति दुर्भावना पैदा होने लगी थी।

स्वर्ग मन्दिर मे आये दिन खालिस्तान के समर्थन में सभाएं होती रही, राष्ट्रीय झण्डा जलाया जाता रहा, खालिस्तानी पासपोर्ट एवं करेंसी नोट बांटे जाते थे पर इन घटनाओं पर अकाली दल एवं श्री गुरुद्वारा प्रबन्ध कमेटी के नेतागण या तो चुप रहे या हल्के स्वर मे कहते रहे हमारा उनसे कोई सम्बन्ध नही। भला उनसे कोई पूछे कि जब सम्बन्ध नही तो उन्हें स्वर्ण मन्दिर परिसर से निकाल बाहर क्यो नही किया ? उन्हें राष्ट्रविरोधी गतिविधिया करने की छूट क्यो दी गई ? पर इन सबका उनके पास कोई जवाब नही था और न आज है।

विरोधी दलों की भूमिका भी दुहरी रही। ये अपने दलगत स्वार्थ के लिए कांग्रेस सरकार के विरुद्ध अकालियों की पीठ ठोकते रहे।

सिखों मे उग्रवाद तथा अलगाववाद की भावना बढ़ाने मे विदेशों में रह रहे सिखो के एक वर्ग ने भी कम योगदान नही दिया। उग्रवादियों को बेशुमार धन देकर, विदेश मे उन्हें शरण दिलवा कर, सुनियोजित प्रचार तन्त्र के जरिए उन्हें गुमराह कर तथा तोड फोड़ के लिए आतंकवादियों के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था कर उन्होने साम्प्रदायिकता की आग मे घी डाला कर उसे और प्रज्वलित किया। इसमें उन्हें ब्रिटेन, अमरीका तथा कनाडा के शासक वर्ग के कुछ प्रभावशाली लोगो ने भरपूर मदद की।

पड़ोसी देश पाकिस्तान का रवैया भी इस सारे मामले मे भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा। बगला देश की हार का बदला चुकाने की नीयत से पाकिस्तान ने उग्रवादियों की पूरी मदद की। उन्हें अपने यहा शरण ही नही दी, उन्हे प्रशिक्षण देकर, हथियारो से लैस कर गड़बड़ करने के लिए भारत भी भेजा। यह सब गोपनीय तथ्य नही हैं। पूरी तरह उजागर हो चुके हैं।

केन्द्र की सरकार ने भी मामले को हद से गुजर जाने दिया ताकि स्थिति का ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक लाभ उठाया जा सके।

स्वर्ण मन्दिर में हुई फौजी कार्रवाई के बाद सिखों का एक वर्ग खुल कर बदले के लिए हिंसा की वकालत तथा खालिस्तान की मांग का समर्थन करने लगा। गुरुद्वारों मे सभाएँ कर लोगों को बड़ी से बडी कुर्बानी के लिए तैयार रहने के लिए उत्तेजित किया जाता था। इन्दिरा गांधी, 'हिन्दू सरकार', हिन्दुओं के विरुद्ध दर्जनों की संख्या मे पर्चे व पुस्तिका छाप कर सिखो के बीच वितरित की गई।

इन सब मे हिंसात्मक बदले की बातें तो रहती ही थीं यह भी लिखा जाता था कि सिख हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो के तथा सिख धर्म इस्लाम के ज्यादा करीब है। इसके पक्ष मे यह तर्क दिया जाता था कि स्वर्ण मन्दिर की जमीन अकबर ने दान स्वरूप दी थी तथा उसकी नीव एक मुसलमान सूफी ने रखी

थी। यानी जान बूझ कर बहुत सुनियोजित ढंग से, प्रारम्भ से चले आ रहे परम्परागत सम्बन्धों को तोड़ने का प्रयत्न किया जाने लगा। ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर पेश किया जाता था। केवल यह साबित करने के लिए कि हिन्दू-सिख न कभी एक थे और न रह सकते हैं। यह बताया जाता था कि सिखों ने हमेशा हिन्दुओं का उपकार किया, पर हिन्दुओं ने बदले में विश्वासघात किया।

हिन्दुओं के विरुद्ध फैलाए जा रहे इस जहर का सिख नौजवानों के एक तबके पर अच्छा-खासा प्रभाव पड़ा तथा कई मौकों पर सिख-मुसलमान भाई-भाई जैसे नारे लगने लगे।

इस सबका असर हिन्दुओं पर भी पड़ रहा था तथा हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियां हिन्दुओं को सिखों के विरुद्ध भड़काने में लगी थीं। हालांकि सिखों जैसी मुखरता और सक्रियता हिन्दुओं में नहीं थी। पर जहर तो फैल ही रहा था।

इस लेखक ने स्वयं लोंगोवाल एवं भिंडरावाला से मुलाकात की थी तथा पूछा था कि क्या चंडीगढ़ पंजाब को दे दिया जाये तथा पानी का मामला सुप्रीम कोर्ट के सुपुर्द कर दिया जाये तो समस्या सुलझ जायेगी, तो जवाब मिला आनन्दपुर साहब प्रस्ताव माने बिना समस्या का अंतिम हल नहीं होने का। भिंडरावाला ने यहां तक कहा कि सिख कौम को जब तक आजाद नहीं कराया जाता, समस्या का हल संभव नहीं। उसका आजादी से मतलब निश्चित रूप से भारत में अलग एक स्वतंत्र देश से था जो वह खुल कर नहीं कहता था।

जब भिंडरावाला का आतंक चोटी पर था तब इसके लेखक ने कलकत्ता में रह रहे लगभग सौ सिखों से मुलाकात कर उनसे अनुरोध किया कि वे भिंडरावाला की इन हरकतों का विरोध करें तथा पंजाब में जो कुछ हो रहा है उसकी निन्दा करें तो केवल दो सिखों ने, वह भी डरते-डरते हामी भरी, पर उनकी भी बाद में खुलकर सामने आने की हिम्मत नहीं हुई।

पंजाब में जब भी आतंकवादी हिन्दुओं की हत्या करते थे तो लोंगोवाल का एक ही जवाब होता था, यह सब सरकार करवा रही है। भिंडरावाला तो उक्त हत्याकांडों की निन्दा तक करने को तैयार नहीं था।

सिखों की साम्प्रदायिकता को अन्य राजनीतिक दलों ने राष्ट्रीय हित की उपेक्षा कर अपने दलगत स्वार्थ के लिए हवा दी। वोट पाने के लालच में वे अकाली नेतृत्व को तुष्ट करने में लगे रहे। सुब्रमण्यम स्वामी और राम जेठमलानी ने तो यहां तक बयान दे दिया कि उन्हें स्वर्ण मन्दिर में कोई हथियार ही नहीं दिखा, जबकि आये दिन समाचार पत्रों में आधुनिक हथियारों से लैस, स्वर्ण मन्दिर परिसर में मोर्चा सम्हाले, उग्रवादी सिखों की फोटो छपती थीं। इतना ही नहीं हरमंदर साहब के ऊपर भी हथियार बंद सिख बैठे रहते थे, जिसे कोई

भी देख सकता था। स्वर्ण मन्दिर आतंकवाद और हिंसा का गढ़ बना हुआ था। पर इसका सर्वसम्मत राष्ट्रीय विरोध नहीं हुआ।

सिखों को यह तो नागवार गुजरा कि अकाल-तख्त फौजी कार्रवाई के दौरान नष्ट हो गया पर यह नहीं सोचा कि अकाल तख्त से स्टेनगन व ब्रेन गन से फौजियों पर गोलियों की बौछार की गयी तो जवाब में फौज के जवान क्या करते?

अकाली दल ने जिन मांगों को लेकर सरकार के विरुद्ध धर्म युद्ध छेड़ा उससे सिख साम्प्रदायिकता व धार्मिक उन्माद को बल मिला। राष्ट्रीय एकता और एकता की कीमत पर वे अपनी मांगें मनवाने पर बल देते रहे और अड़े रहे।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव पर बहुत कुछ कहा और लिखा जा चुका है। १९८४ के लोक सभा चुनाव में यह प्रस्ताव एक प्रमुख मुद्दा था। जनता ने भारी बहुमत से इस प्रस्ताव को नकार दिया। सारे विरोधी दलों ने भी इस प्रस्ताव को विघटनकारी बताते हुए इसका विरोध किया। इसके बावजूद अकाली दल इस प्रस्ताव पर अड़ा रहा और इसके नेता बार-बार कहते रहे कि इस प्रस्ताव को माने बिना कोई समझौता नहीं हो सकता। यह सीधी सी बात है कि इस प्रस्ताव को मान लेने का मतलब है, देर-सबेर देश के विघटन को स्वीकार कर लेना क्योंकि इस प्रस्ताव मे जो प्रमुख मुद्दे हैं, वे राष्ट्रीय हितों के विपरीत हैं। इसलिए कोई सरकार इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं कर सकती।

अधिकांश सिखों की आज भी यह धारणा है कि यह प्रस्ताव एक निर्दोष प्रस्ताव है तथा इसमे पंजाब के विकास एवं कल्याण से सम्बन्धित मांगें ही हैं जबकि तथ्य कुछ और है। आनन्दपुर साहिब के राजनीतिक प्रस्ताव में यह स्पष्ट कहा गया है अकाली दल का लक्ष्य निश्चित रूप से दसम पातशाह साहिब, सिख इतिहास के पृष्ठों और खालसा पंथ के हृदय में अंकित चले आ रहे खालसा जी के बोलबाले के लक्ष्य को प्राप्त करना है। उसमें कहा गया है कि शिरोमणी अकाली दल की बुनीयादी नीति सिखो के इस जन्म सिद्ध अधिकार को राज-नीतिक स्तर पर प्राप्त करने की है। इसलिए एक ऐसे पंजाबी सूबे की मांग की गई है, जिसमें सिख और सिख धर्म का विशेष रूप से पृष्ठपोषण और रक्षा हो सके।

१६-१७ अक्टूबर, १९७३ में आनन्दपुर साहिब में पारित प्रस्ताव विकेन्द्री-करण और राज्यों को अधिक स्वायत्तता का राजनैतिक दस्तावेज नहीं है। यह प्रस्ताव सर्घीय व्यवस्था को संकुचित संघीय बनाने का आह्वान नहीं, खालसा का वर्चस्व चाहने वाला मसविदा है। यह राज्य को स्वायत्त नहीं धार्मिक बनाना चाहता है। अगर यह प्रस्ताव मान लिया जाय तो भारत की धर्मनिरपेक्षता

की जड़ें हिल जायेगी और भारत का हर धार्मिक सम्प्रदाय धर्म के आधार पर सूबों और विशेष अधिकारों की माग करने लगेगा।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव मे भारत की विदेश नीति की कटु आलोचना करते हुए यह माग की गई है कि जिन देशो मे सिख रहते हैं तथा जहां सिखों के धार्मिक स्थान हैं, उन देशों से भारत को मैत्री रखनी पड़ेगी।

किसी भी देश की विदेशी नीति का आधार उस देश के आधारभूत सिद्धान्त व हित होते है। जहा तक भारत की विदेशी नीति का प्रश्न है, विरोधी दलो तक ने इसे राष्ट्रीय हित मे माना है। हर संकट की घड़ी मे यह नीति खरी उतरी है। इसके अलावा अगर देश का हर सम्प्रदाय इस तरह का दावा करने लगे तो देश की ऐसी खिचडी विदेश नीति बनेगी, जो देश को ले डूबेगी। इस तरह की मागें देश को कमजोर करती हैं और तोडती हैं।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव मे यह भी माग की गई है कि केन्द्र विदेश, प्रतिरक्षा, मुद्रा एव साधारण सचार के अलावा समस्त विभाग पंजाब को सौंप दे। जहा तक राज्यो को अधिक अधिकार देने का प्रश्न है, वे मिलने चाहिए व उन पर विचार होना चाहिए। लेकिन केन्द्र के हिस्से केवल चार विभाग छोड़ने का मतलब केन्द्र को इस हद तक तक कमजोर कर देना होगा कि कभी भी अलगाववादी शक्तिया उसका लाभ उठा सकती हैं।

आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव मे एक माग यह भी की गई है कि देश के प्रत्येक नागरिक को बिना लाइसेन्स बन्दूक, रिवाल्वर, राइफल, स्टेनगन रखने का अधिकार मिले। बिना हथियार मिले ही जिस देश मे हर वर्ष पचास हजार हत्याएँ होती हों, वहां इस तरह की माग रखना किस हद तक उचित है, इसका फैसला पाठक ही करें।

जब १९७३ मे आनन्दपुर साहिब मे यह प्रस्ताव लिया गया था उस समय यह कहा गया था कि पजाब के बाहर रह रहे अल्पसंख्यक सिखो पर हो रहे अन्याय को रोका जाय। यह बात जानबूझ कर ही सिख समुदाय को गुमराह करने के लिए प्रस्ताव मे शामिल की गयी थी। जबकि स्वयं सिख इस बात को स्वीकार नही करेंगे कि १९८३ से पहले उनके साथ कोई अन्याय या भेदभाव बरता जाता था। हां, आज की बदली हुई परिस्थिति मे उनके साथ दुर्भाग्यजनक घटनाएँ घटी हैं। लेकिन इस स्थिति के लिए भी अकाली दल की साम्प्रदायिक और देश की दोगली राजनीति कहीं ज्यादा दोषी है।

क्या विडबना है कि जिस राष्ट्र विरोधी और अलगाववादी आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को राजीव गांधी ने १९८४ के चुनाव अभियान मे मुख्य मुद्दा बना कर वोटों के लिए जनता की भावनाओं को उभारा, यहां तक कि उस वक्त पूरा या

पूरा विपक्ष इस मामले मे राजीव गाधी के साथ हो गया—उसी राष्ट्र विरोधी आनन्दपुर प्रस्ताव को पंजाब समझौते के दौरान राजीव गाधी ने हीं विचारार्थ सरकारिया कमीशन को सौंप दिया। अवसरवादी राजनीति की यह कलाबाजी हमारी आदर्शहीन, पतनोन्मुख राजनीति का एक और ज्वलन्त उदाहरण सामने रखती है।

आज सिख अपनी ही गलतियों से अपने आपको आहत एव अपमानित महसूस कर रहे है, यह जानते हुए भी कि वे देश के प्रथम श्रेणी के नागरिक रहे हैं। सिखों पर हमेशा हो भारतीयो ने गौरव किया है। आजादी की लड़ाई मे और आजादी के बाद सिख भारत के अभिन्न अग रहे हैं। पर वे आहत हैं। अपमानित हैं। उनकी एक ही शिकायत है—स्वर्ण मन्दिरमें फौज क्यों गयी? पर स्वर्ण मन्दिर मे फौज जाने के पहले जो कुछ होता रहा उस पर वे चुप हो जाते हैं। यह कोरी धर्मान्धता नहीं तो और क्या है?

इन्दिरा गाधी की हत्या और उसके बाद दंगो की हालत क्यो पैदा हुई इन सबका कारण पजाब का लम्बा घटनाचक्र है जिसका जिक्र हम कर चुके हैं।

पिछले करीब एक दशक से यह भावना फैलाई जा रही है कि हिन्दू भारत में बहुमत मे होते हुए भी अल्सख्यको के हाथो मात खाए जा रहे है। कई लोगो ने कई तरह से यह बात जताने की कोशिश की कि हिन्दुओ को एक होकर उठ खड़ा होना चाहिए और राजनीतिक ताकत बन जाना चाहिए। इसमें कोई शक नहीं कि नवम्बर १९८४ के, पहले तीन दिनों मे हुए हत्याकाण्ड मे इस भावना का असर भी कही न कही रहा है।

३१ अक्टूबर से लेकर ३ नवम्बर तक दिल्ली मे एव देश के विभिन्न भागो मे जो कुछ भी हुआ वह बहुत बुरा हुआ। इतिहास मे पहली बार हिन्दू-सिखो के बीच व्यापक स्तर पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। यह एक अनहोनी थी, जिसका किसी को गुमान नहीं था।

३१ अक्टूबर की सुबह इन्दिरा गाधी की हत्या एक व्यक्ति की ही हत्या नही थी। वह ७० करोड़ की आबादी के देश की जनता द्वारा निर्वाचित प्रधान-मंत्री की हत्या थी। इतना ही नहीं इंदिरा गांधी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता की प्रतीक बन गयी थी। यह एक विश्वास की हत्या थी, क्योकि उसको मारने वाले उनके ही सुरक्षा गार्ड थे जिन्होंने उनकी सुरक्षा की कसम खाई थी, गुरु ग्रन्थ साहिब का हवाला देकर। यह एक निहत्थी नारी की धोखे से की गई हत्या थी।

और हत्यारे दो सिख थे तथा उन्होंने धार्मिक उन्माद के बहकावे मे आकर, अमृत छक कर, एक सिख के नाते प्रतिशोध की भावना से ही इन्दिरा गाधी की हत्या की थी। हत्या के कई दिनो बाद एक सिख ने इस लेखक को कहा था कि

अगर इन्दिरा गांधी की स्वाभाविक मौत हो जाती तो सिख जाति का सर हमेशा के लिये नीचा हो जाता।

हत्या के बाद सिखों के एक वर्ग ने इस नृशंस और बर्बर हत्याकाण्ड पर खुशियां मनाईं। यह भी तथ्य है कि पंजाब में हत्यारों की प्रशस्ति में आयोजित सभाओं में सिखों के नेतृ वर्ग के एक हिस्से ने भाषण दिये तथा हत्यारों को शहीद बताया।

इसके पहले गत ढाई-तीन वर्षों से पंजाब में जो कुछ हो रहा था उससे भी सारे देश में भीतर ही भीतर आक्रोश फैल रहा था। आये दिन निर्दोष लोगों की हत्याएं हो रही थी। गुरुद्वारों में विशेषकर स्वर्ण मन्दिर परिसर से उग्रवादियों एवं आतंकवादियों द्वारा अपनी गतिविधियों का संचालन किया जा रहा था। दूसरी तरफ अकाली दल द्वारा धार्मिक एवं राजनीतिक मांगों को लेकर धर्म-युद्ध चलाया जा रहा था।

अकाली दल ने न जाने क्यों टकराव की नीति अपनाई और एक ऐसी जगह पहुंच गये जहां से पीछे नहीं लौटा जा सकता था। अकाली सांसदों एवं विधायकों ने न केवल संसद और विधान सभा का बहिष्कार ही किया बल्कि सदस्यता से त्याग पत्र देकर देश में विद्यमान जनतांत्रिक व्यवस्था को ही नकार दिया। २५वीं धारा में संशोधन के नाम पर संविधान की होली जला कर संविधान के प्रति अनास्था प्रकट की।

अकाली दल ने जिस आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को आधार बना कर आन्दोलन किया उसमें ऐसी चीजें जोड़ दी गई जिसे कोई भी सरकार नाम की चीज स्वीकार नहीं कर सकती। और वरोधी दलों में जिसने भी इस प्रस्ताव का समर्थन किया, ये लोग थे वे जिन्होंने शायद प्रस्ताव पढ़ा ही नहीं। क्योंकि राष्ट्रीय एकता और अखण्डता में विश्वास करने वाले व्यक्ति इस तरह के प्रस्ताव का समर्थन नहीं कर सकते।

अकाली दल और गुरुद्वारा प्रबन्धक कमिटी की शह पर राष्ट्र विरोधी खालिस्तानी तत्व फलते-फूलते रहे। ब्लूस्टार आपरेशन के बहुत पहले से ही भारत की संसद से २०० गज की दूरी पर स्थित दिल्ली के बंगला साहिब और रकाबगंज गुरुद्वारे में तथा पंजाब में स्वर्ण मन्दिर तथा अन्य गुरुद्वारों में आये दिन खालिस्तान की मांग की जाती थी और खालिस्तानी झण्डे फहराये जाते थे। ये लोग देश के किसी भी कानून को मानने को तैयार नहीं थे। सिखों में धार्मिक उन्माद और उत्तेजना फैलाने की कार्रवाइयां सरेआम हो रही रही थी।

इन सबका भारतीय जन मानस पर बहुत विपरीत असर पड़ा था।

स्वर्ण मन्दिर में हुई फौजी कार्रवाई तक तो सिख चुप्पी साधे रहे पर इसके

बाद अचानक मुखर हो उठे तथा जिस तरह काली पट्टी, काली पगड़ी पहन भिण्डरावाला की तस्वीरों के साथ पंजाब से बाहर सिखो ने उग्र प्रदर्शन किये तथा विरोध मनाया उससे वे बाकी समाज से पूरी तरह कट गये

इन सब की चरम परिणति हुई इन्दिरा गांधी की हत्या से। इन्दिरा गांधी की हत्या के समाचार के साथ-साथ लोगों को जब यह मालूम हुआ कि हत्यारे सिख थे तथा कही-कही सिखो ने खुशिया तक मनाईं तो तब तक दबे आक्रोश का ज्वाला-मुखी फूट पड़ा और व्यापक पैमाने पर सिखो पर हमले किये गये। उन्हें मारापीटा गया, उनकी सम्पत्ति लूट ली गई, कहीं-कही कत्लेआम तक हुआ। जब देश के विभिन्न हिस्सो में हिंसा की वारदातें हो रही थी तथा लोगों का आक्रोश पूरे उफान पर था उस वक्त सिखों के धार्मिक नेता जिन्होंने उस वक्त राजनैतिक नेतृत्व भी सम्भाला हुआ था, यह बयान देकर कि उन्हें इन्दिरा गांधी की हत्या से न दुःख हुआ है न खुशी, आग मे घी का काम किया। इससे लोगों की इस धारणा को बल मिला कि सिंह साहेबान का परोक्ष समर्थन इस हत्या को था। विदेश में, विशेषकर ब्रिटेन, अमरीका एवं कनाडा में सिखों ने खुल कर इन्दिरा गाधी की हत्या पर खुशी मनाई, सडको पर नाचे। ३१ अक्टूबर से लेकर ३ नवम्बर तक के घटना क्रम को समझने के लिए इतना सब लिखना इसलिए जरूरी था कि स्थिति का सही आकलन हो।

इन्दिरागाधी की हत्या के बाद जो दगे हुए उन्हें पूरी तरह सुनियोजित हर्गिज नही कहा जा सकता। इसका मतलब तो यह हुआ कि दंगा करने वालो को यह पता था कि अमुक तारीख को अमुक समय इन्दिरा गांधी की हत्या होगी तथा अमुक-अमुक जगहों पर एक निश्चित समय पर दंगा करना है। नही, ऐसा कुछ नही था। यह सब स्वयं-स्फूर्त हुआ।

- कलकत्ता मे जैसे ही बी. बी.सी. रेडियो से खबर मिली कि इन्दिरा जी की हत्या हो गयी तो लोगो ने सिखों को मारना-पीटना शुरू कर दिया। दिल्ली मे दगे शाम ५ बजे के बाद शुरू हुए जब उन्हें विश्वास हो गया कि इन्दिरा गाधी की मृत्यु हो गई तथा जगह-जगह सिखों ने खुशियां मनाईं। हां इसका भरपूर लाभ उठाया असामाजिक तत्वों ने। खुशी मनाने की गलत-सही अफवाहे फैलाकर लोगों को उत्तेजित किया गया।

- जहां तक दगो मे काग्रेस के शामिल होने का सवाल है, यह सही है कि कहीं-कही काग्रेसियो ने इसमे हिस्सा लिया, क्योंकि इन्दिरा गांधी देश की प्रधानमंत्री के साथ काग्रेस की अध्यक्षा भी थीं तथा उनकी हत्या से देश के साथ काग्रेस का कहीं ज्यादा नुकसान हुआ था। उस वक्त काग्रेस सगठन एक मात्र इन्दिरा गांधी के अस्तित्व पर ही टिका हुआ था। इसलिए गुस्से मे काग्रेसियो ने सिखों

के विरुद्ध दंगों में अगुवाई की। यह भी सही है कि कांग्रेस के कुछ नेताओं ने दंगे भड़काये और उनकी अगुवाई की। पर यह वर्षों से दबा जन आक्रोश था जो अचानक फूट पड़ा और इसका लाभ कांग्रेसियों ने उठाया। दंगों के बाद ऊपर से भले ही लोग कुछ कहें पर निजी बात-चीत में तो लोग, विशेषकर हिन्दू यहां तक कहते थे कि सिखों को थोड़ा सबक मिलना चाहिए था।

जो यह आरोप लगाते हैं कि दंगे सुनियोजित थे, वे यह भी कहते हैं दंगे केवल कांग्रेस शासित राज्यों में ही हुए। पर यह तथ्य नहीं है। कांग्रेस शासित राज्य गुजरात, यहां तक कि पंजाब की सीमा से लगा राजस्थान, महाराष्ट्र तथा दो शहरों को छोड़कर मध्य प्रदेश, आसाम आदि में दंगे नहीं के बराबर हुए। राजस्थान से ज्यादा प्रभावित तो पश्चिम बंगाल था, जहां मार्क्सवादी सरकार थी। प० बंगाल में व्यापक पैमाने पर लूट पाट हुई तथा हिंसात्मक घटनाओं में १४ लोग मारे गये। कलकत्ता, सिलीगुड़ी, मालदा, आसनसोल, रानीगंज दंगों से प्रभावित थे। त्रिपुरा भी दंगों से प्रभावित हुआ, जहां मार्क्सवादी सरकार थी।

दरअसल हम लोग हमेशा सचाई से मुह मोड़ते रहते हैं तथा गलत को गलत कहने की हिम्मत छोड़ते जा रहे हैं। हम किसी भी चीज के मूल में जाने के बजाय सतही जांच पड़ताल कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ, अपने आपको संतुष्ट कर लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि समस्या जहां की तहां धरी रह जाती है, उसका निदान नहीं होता।

दंगों के दौरान जिस बर्बरता, वहशीपन, हैवानियत का परिचय दिया गया, वह एक राष्ट्रीय शर्म है। इससे यह भी साबित होता है कि देश का राजनैतिक, सांस्कृतिक व सामाजिक नेतृत्व कितना लकवाग्रस्त, पंगु एवं खोखला हो गया है। पंजाब में जो कुछ हुआ और इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद देश के बाकी हिस्सों में जो कुछ हुआ उससे क्या यह साबित नहीं होता कि इस देश में हिंसा की जड़ें बहुत गहरे पैठ चुकी हैं? सहिष्णुता नाम की चीज हममें नहीं रही? आजादी के बाद से साम्प्रदायिक दंगों के अलावा राजनैतिक कारणों से भी हत्याओं की संख्या बेशुमार बढ़ी है।

१९८२ में कलकत्ता शहर में हजारों लोगों की उपस्थिति में १८ आनंदमार्गियों को जिन्दा जलाया गया। इस नृशंस हत्या की निन्दा में वामपंथी सरकार के लोगों ने एक शब्द नहीं कहा।

उत्तर प्रदेश बिहार में आये दिन हरिजनों पर अत्याचार होते रहे हैं। उनके घरों में आग लगाना, उन्हें जिन्दा जलाना, हरिजन महिलाओं के साथ बलात्कार तो आम बात रही है।

आसाम में हुई हजारों लोगों की हत्या को भी हमने एक रुटीन समझ कर बर्दाश्त किया।

देश में बढ़ रही हिंसक प्रवृति का न तो राजनीतिक नेताओं ने, न ही बुद्धिजीवियो ने मुकाबला किया। जब भी कोई घटना घटी उस पर बयान देकर ही लोग अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे।

तभी तो ३१ अक्टूबर से ३ नवम्बर तक दिल्ली धू-धू कर जलती रही, नेतागण घरों मे बैठे बयान देते रहे। इन चार दिनो में हिंसा का जो नगा नाच हुआ वह अभूतपूर्व है। असहाय, निहत्ये, निर्दोष लोगो की जिस बेरहमी से हत्याए की गयी, उसने सारे देश का सर नीचा कर दिया।

इन्दिरा गाँधी की हत्या के ४८ घटो के अन्दर आजादी के बाद पहली बार देश के ८० छोटे-बडे शहरों मे कर्फ्यू लगाया गया। हजारो लोग मारे गये, हजारो घायल हुए। लाखों बेघर हो गये, अरबो की सम्पति का नुकसान हुआ।

जिस ढंग से लोगो पर हमले किये गये, उन्हें उनके परिवार के सदस्यो के सामने जिन्दा जलाया गया, घायलों को कोई भी सहायता देने से लोगो को रोका गया उससे लगता है भारतीय किस हद तक क्रूर, हृदयहीन तथा मानव सवेदना से कोसों दूर हो गये है। विश्वास ही नही होता कि इस देश की शानदार सांस्कृतिक परम्पराएं रही है, यहां बुद्ध महावीर, नानक, गाधी और भगत सिंह पैदा हुए हैं।

इंदिरा गांधी की नृशंस हत्या के बाद देश के प्राय: सभी हिस्सो में हिंसक वारदातों ने जो कहर ढाया, उससे विभाजन के दौरान छा गये अमानुषिक जुनून की याद ताजा हो उठी। साम्प्रदायिक बदले की आग ने मनुष्य को पागल व वहशी बना दिया। यह सही है कि हिंसा और लूट-पाट की वारदातो के पीछे का कारण साम्प्रदायिक उन्माद था, क्योकि अधिकांश घटनाओं मे मरने वाले सिख थे और मारने वाले हिन्दू थे। पर इस साम्प्रदायिक पागलपन के बावजूद हजारों सिखों को हिन्दुओ ने संरक्षण दिया और उनकी रक्षा की।

दंगा फसाद करने वालों में सभी असामाजिक तत्व थे ऐसा नही कहा जा सकता। अधिकांश जगहों में दंगों में हजारों की भीड शामिल थी, जिसमे सभी तरह के लोग थे। हाँ, उसका नेतृत्व असामाजिक तत्वो के हाथ आ गया था, पर मूक सहमति ऐसे लोगों की भी थी जो समाज में प्रतिष्ठित माने जाते है।

इन्दिरा गांधी को हत्या के बाद दूरदर्शन की भूमिका भी बडी निन्दनीय रही। इंन्दिरा गाधी की लाश के आगे भीड ने—खून का बदला खून से लेंगे—के नारे लगाये जिसका प्रसारण दूरदर्शन ने किया। इससे स्थिति और विस्फोटक हुई। कम से कम दो दिनों तक राजधानी दिल्ली सहित सभी दंगाग्रस्त इलाकों मे प्रशासन नाम

की कोई चीज नहीं रही। पुलिस या तो मूकदर्शक रही या उसने दंगाइयों की मदद की। यह एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है। जो कुछ सिखों के साथ हुआ वह भविष्य में औरों के साथ भी तो हो सकता है।

पर क्या वजह थी कि उन्माद इतना वहशीपन तक जा पहुंचा? इसके मूल में एक प्रमुख कारण यह भी सामने आता है कि लूट-पाट और हिंसा में असामाजिक उपद्रवी तत्वों ने योग दिया। ये ऐसे तत्व थे, जिन्होंने किसी धार्मिक साम्प्रदायिक जुनून में आकर वहशियाना हरकतें नहीं कीं, वरन ये पेशेवर उपद्रवी थे।

आजादी के बाद से सामाजिक विषमता की खाई और चौड़ी हुई है। आर्थिक विकास के लाभ से वंचित सामाजिक अन्याय के शिकार सर्वहारा वर्ग में एक ऐसा हिंसक तबका भी विकसित होता चला गया जो हृदयहीन और क्रूर था। ये एक ओर बेकारी की मार से ग्रस्त थे तो दूसरी ओर सामाजिक सहानुभूति और सुरक्षा से वंचित थे।

निहित तत्वों ने अपने हितों की रक्षा के लिए इस सर्वहारा तबके का भरपूर लाभ उठाया। स्थिति और खतरनाक हो उठी जब राजनीतिक पार्टियों ने भी इन्हें संरक्षण देना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भ में इनका उपयोग विरोधियों के लिए किया जाता था किन्तु बाद में ये पेशेवर उपद्रवी बन गये। दंगा-फसाद, तोड़-फोड़ और लूट-पाट ही इनका मुख्य धन्धा हो गया।

इन्दिरा गांधी की हत्या के बाद स्थिति को और अधिक बर्बर व हिंसक बनाने में इन तत्वों का काफी हाथ रहा। परिणामस्वरूप दिल दहलाने वाला हत्या काण्ड और रक्तपात ४ दिनों तक लोगों पर कहर बरपाता रहा। यहां तक कि पुलिस और प्रशासन इन तत्वों के विरुद्ध कड़ी कार्रवाई करने से हिचकते रहे। अपने राजनीतिक हुक्मरानों की इच्छा का अंदाज वे न लगा सके। यही वजह है कि कई स्थानों पर पुलिस व प्रशासन ने इन 'मसल पावर' के बर्बर काण्डों को देख कर भी 'अनदेखा कर दिया।

शहरी क्षेत्रों में तो ये पेशेवर उपद्रवी तत्व किसी भी संघर्ष व तनावपूर्ण अवसर की ताक में तत्पर रहते हैं। राजनीतिक संरक्षण की वजह से प्रायः प्रशासन भी इन्हें सुरक्षा प्रदान करता है। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद फूटा, ज्वालामुखी इन तत्वों की बर्बरता की चरम परिणति थी।

किन्तु हत्याकाण्ड के बाद भीषण रक्तपात के लिए थोड़े से साम्प्रदायिक व पेशेवर असामाजिक तत्वों को दोष देकर पूरा-का-पूरा हिन्दू समाज दोषमुक्त नहीं हो सकता। इस कलंक की जिम्मेदारी बहुसंख्यक समाज की है जो अल्पसंख्यक समाज की रक्षा करने में अक्षम सिद्ध हुआ है।

बाद में १०, ११ व १२ मई १९८५ को दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान तथा

उत्तर प्रदेश में बम विस्फोट से सौ के करीब निर्दोष बच्चों, महिलाओं, पुरुषों की हत्या कर सिख साम्प्रदायिकता ने यह साबित कर दिखाया कि राक्षसी बर्बरता में वह हिन्दू साम्प्रदायिकता से रत्ती भर भी कम नहीं। इस बर्बर हत्या-काण्ड पर भी मौन साध कर स्वर्ण मन्दिर के ग्रंथियों ने जिस धार्मिक उन्माद का परिचय दिया उससे किसी सच्चे सिख का सर शर्म से झुक जाना चाहिए। इस तरह धोखे से की गयी निर्दोष लोगों की कायरतापूर्ण हत्या का समर्थन सिख धर्म को मानने वाला कभी नहीं कर सकता। धर्म की रक्षा के लिए तथा अत्याचार के मुकाबले के लिए तलवार उठाने की हिदायत देने वाले दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने कभी भी इस तरह के अमानवीय कृत्य की वकालत नहीं की। इस तरह की साम्प्रदायिकता और धार्मिक उन्माद को राष्ट्र ही नहीं मानवता का दुश्मन माना जाना चाहिए।

यह जघन्य हत्याकाण्ड कुछ सिरफिरे उग्रवादियों का कृत्य भले ही था, पर इसे एक बड़ी संख्या के सिख जनमानस का मूक समर्थन भी प्राप्त था। पंजाब में भी सिख आतंकवादियों को काफी हद तक सिखों का समर्थन प्राप्त रहा है वर्ना मुट्ठी भर आतंकवादियों के लिए वर्षों अपनी कारवाई जारी रखना तथा दिन-दहाड़े हत्या कर बच निकलना और पकड़ में न आना कतई सम्भव नहीं होता।

पूरा-का-पूरा समाज एक ऐसी रुग्ण मानसिकता का शिकार हो गया कि विश्वासघातपूर्ण हत्या जैसे जघन्य कृत्य से अपने झूठे अहम् की तुष्टि करने लगा। इस उन्माद के सामने कोई भी नहीं टिक पाया। यह सही है कि यह सब अचानक नहीं हुआ बल्कि इसके पीछे एक गहरी सुनियोजित साजिश काम करती रही। सिख समाज भले ही इस बात को स्वीकार न करे, पर यह सच्चाई है। इस साजिश का संचालन ऐसे तत्वों ने किया जो भारत को कमजोर करना चाहते हैं और सिख समाज को भारत-विरोधी बना कर अपने उद्देश्य की पूर्ति करने की सोच रहे थे।

इस साजिश के प्रारम्भ में भिंडरावाला नहीं थे लेकिन बाद में वे इस साजिश का हिस्सा बन गये थे। ब्लू स्टार आपरेशन, इंदिरा गांधी की हत्या और नवम्बर ८४ के दंगों से उत्पन्न स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया इन तत्वों ने। सिख धर्म और सिख पंथ की रक्षा का नारा देकर सिख समाज को एक ऐसी उन्मादपूर्ण स्थिति में पहुँचा दिया कि वह रुग्ण मानसिकता का शिकार हो गई।

जेल से छूटते ही हरचन्द सिंह लोंगोवाल जैसे उदार नेता को भी यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि स्वर्ण मन्दिर पर हमला कराने का स्वाभाविक परिणाम इंदिरा गांधी की हत्या थी।

इंदिरा गांधी के हत्यारे बेअंत सिंह के भोग के अवसर पर उसके गांव में एक लाख सिखों ने उपस्थित होकर श्रद्धांजली दी। बेअंतसिंह की विधवा बिमल खालसा इसलिए रातों-रात सिख समाज की नेता बन बैठी क्योंकि वह इंदिरा गांधी के

हत्यारे बेअंत सिंह की पत्नी थी। जगह-जगह उसका सम्मान कर उसे सरोपे भेंट किये। बेअंत सिंह को अमर शहीद बताते हुए उसकी प्रशंसा में शहर-शहर, गांव-गांव घूम कर गीत गाकर रागियों ने सिख समाज को उद्वेलित किया। झूठी और बेबुनियाद अफवाहें फैला कर सिखों को गुमराह किया गया। मजे की बात यह है कि मनगढ़न्त किस्सों पर लोग विश्वास करने लगे। किसी ने कहा गोविन्द सिंह के बाज ने प्रकट होकर इंदिरा गांधी की हत्या की प्रेरणा दी। गुरुद्वारों से ऐसे पर्चे बांटे गये कि गुरुगोविन्द सिंह ने सैकड़ों वर्ष पहले ही लिखा था कि दिल्ली में एक रंडी राज करेगी और वह स्वर्ण मन्दिर पर हमला करेगी और उस वक्त खून-खराबे में घोड़ों के खुर खून में डूब जायेंगे। बाद में सिख दिल्ली पर हमला करेंगे और गतह करोड़ हिन्दुओं को मार कर खालसा पंथ का झण्डा दिल्ली में गाड़ेंगे और राज करेंगे।

अमृतसर स्थित एक गुरुद्वारे में ऐसा प्रचार किया गया कि भिंडरांवाले ने आकर सोने का हार चढ़ाया। इसके बाद से ही उस गुरुद्वारे में स्वर्ण-मंदिर से अधिक भीड़ होने लगी।

जब हरचन्द सिंह लोंगोवाल ने एकता, भाईचारे और हिन्दू-सिख सद्भाव का प्रचार शुरू किया तो उनकी भी हत्या कर दी गई।

भिंडरांवाला के ८४ वर्षीय पिता बाबा जोगिन्दर सिंह, जिसकी सारी उम्र रोड़े गांव में खेती करते गुजरी, को रातों-रात संयुक्त अकाली दल का नेता बना दिया गया। और तो और गत ३१ अक्टूबर १९८५ को आल इण्डिया सिख स्टुडेंट्स फेडरेशन ने भिंडरांवाला के दस वर्षीय पुत्र के नेतृत्व में मेहता चौक में जुलूस निकाला। उसी दिन स्वर्ण-मंदिर परिसर में रह रहे अकाली दल के एक कार्यकर्ता को जान से मारने की कोशिश की गई और उसे उठा कर दो तल्ले से नीचे फेंक दिया गया। उसका अपराध यह था कि उसने संत लोंगोवाल के एक हत्यारे को पकड़वाने में मदद की थी।

२७ नवम्बर १९८५ गुरुनानक जयंती के दिन स्वर्ण मंदिर परिसर में स्वर्ण मंदिर के मुख्य ग्रन्थी ज्ञानी साहिब सिंह को उस वक्त गोली मारी गई जब वह परिक्रमा में प्रवेश कर माथा टिकाये प्रार्थना में लीन थे। अहिंसा, प्रेम और भाईचारे के प्रबल समर्थक गुरुनानक के जन्म दिन पर इस जघन्य व कायरतापूर्ण काण्ड ने सिख धर्म और सिख पन्थ की मर्यादा पर क्या आघात नहीं पहुंचाया? इसके पहले सन्त किरपाल सिंह को भी गोली मारी गई थी। आल इन्डिया सिख स्टुडेन्ट्स फेडरेशन के अधिकारियों ने इन ग्रन्थियों को कई बार चेतावनी दी कि या तो वे अपने पद से हट जायें अन्यथा उनके विरुद्ध कार्रवाई की जायेगी। ये घटनाएँ जाहिर करती हैं कि भिंडरांवाला के आतंकवाद ने किस गहराई तक

सिख समाज के युवा वर्ग के एक हिस्से को अपनी गिरफ्त मे कर लिया। सिख धर्म, सिख पंथ और स्वर्ण मंदिर की पवित्रता को भंग करने वाले इस तरह के कारनामों का प्रारम्भ से ही सिख समाज के नेतृत्व ने सशक्त विरोध किया होता तो यह नौबत न आती और न ही ये आतंकवादी और उग्रपंथी पागलपन की हद तक रुग्ण मानसिकता के शिकार ही होते।

यह सब रुग्ण मानसिकता से उत्पन्न निरा पागलपन नहीं तो और क्या है ?

धार्मिक उन्माद मनुष्य को ओछा और संकुचित बनाता है। धार्मिक उन्माद से ग्रस्त व्यक्ति धर्म में उल्लिखित अच्छी बातों को नजरन्दाज करता है। क्योंकि आतंकवाद के नाम पर जो कुछ हुआ और हो रहा है उसके समर्थन मे सिखों के सर्वोच्च धर्मग्रंथ में कहीं एक पंक्ति नहीं मिलेगी।

गुरु गोविन्द सिंह ने जब यह कहा कि जब कोई उपाय न बचे तो तलवार का सहारा लेना चाहिए, तब उनका यह उद्देश्य नही था कि निर्दोष बच्चों एवं महिलाओं की धोखे से हत्या की जाय। पर धार्मिक उन्माद कोई तर्क नही मानता, वह तो कुतर्क पर फलता-फूलता है। यह बात केवल सिखों पर ही लागू होती हो ऐसा नही, हिन्दू, मुसलमानों पर भी समान रूप से लागू होती है।

सिखों का भारत की मुख्य राष्ट्रीय धारा से एकदम अलग-थलग पड़ जाना इस सदी की सबसे दुखद घटना मानी जायेगी। केवल दो वर्षों मे सिख जाति मुख्य धारा से पूरी तरह कट गयी, यह मानव इतिहास में एक अभूतपूर्व घटना है। हम ऊपर से चाहे जो बोलें पर भीतर-ही-भीतर हम अहसास करते है कि सिख आज अपने आपको इस देश में उतना सुरक्षित नहीं महसूस करते हैं, जितना वे १९८३ के पहले करते थे। हिन्दू-सिखों के बीच के परम्परागत स्वाभाविक सम्बन्ध एक झटके में टूट गये। १९८४ मे इंदिरा गांधी की हत्या के बाद देश मे हर सिख शंका की निगाह से देखा जाने लगा। हिन्दू-सिखों के बीच नफरत की भावना बच्चों तक में घर कर गयी। इतना अलगाव, इतनी नफरत, इतनी दूरी तो कभी हिन्दू-मुसलमानों के बीच भी नही हुई थी। साम्प्रदायिकता का जहर मनुष्य को किस हद तक एक-दूसरे से अलग कर सकता है, उसका यह एक प्रमाण है।

सिख धर्म और सिख, भारत और भारतीयता के बिना पूरे नही होते। धर्म के नाते सिखों और मानस के नाते सिखो को समझने वाले इस असलियत को जानते हैं। फिर सिख यह भी जानते हैं कि ग्रंथियो और जत्थेदारो का ही हुक्म चलाना होता तो गुरु गोविन्द सिंह अपने को आखिरी गुरु और अपने बाद गुरुग्रंथ साहिब को सबसे बड़ा गुरु नहीं बताते। ग्रंथी और जत्थेदार धर्म के नाम पर अपनी सत्ता के लिए क्या-क्या कर सकते हैं इसके उदाहरण बीसवी सदी में ही काफी मिल जायेंगे।

भारत की राष्ट्रीयता सांस्कृतिक और धार्मिक स्तरों पर हिन्दुत्व के इस्लामीकरण, इस्लाम के हिन्दूकरण, हिन्दुत्व के ईसाईकरण और इसाइमियत के हिन्दूकरण की प्रक्रियाओं का मेलजोल रही है। पर जब कट्टरवाद उभरने लगता है तो यह प्रक्रिया थम सी जाती है। इसका अर्थ यह है कि जाति प्रथा को खतम किया जाये। एक गतिशील भारतीय समाज की स्थापना हो। वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी मानसिकता बढ़ाई जाये।

गुरुनानक जैसे महान सन्त द्वारा मानवीय प्रेम के आधार पर शुरू किये गए सिख धर्म में तथा गुरु गोविन्द सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय भावना को प्रज्ज्वलित करनेवाले सम्प्रदाय में, धर्म की मामूली जानकारी रखने वाला भी यह जानता है कि निर्दोष लोगों–विशेष कर स्त्री और बच्चों की हत्या का कोई स्थान नहीं है। विश्वासघात सिख धर्म के एकदम प्रतिकूल आचरण है। गुरु ग्रंथ साहिब में तो यहां तक लिखा है कि कोई अगर तुम्हें थप्पड़ मारे, तो घर लौटने से पहले तुम उससे क्षमा मांगो और उसके चरण छुओ। घृणा और विद्वेष का सिख धर्म में कोई स्थान नहीं। अहंकार को गुरु ग्रंथ साहिब में सबसे बड़ी बुराई बताया गया है।

लेकिन क्या विडम्बना है कि सिख समाज का एक वर्ग धर्म की रक्षा के नाम पर, धर्म के विरुद्ध आचरण कर, पूरे सिख समाज को बरगलाने में सफल हो गया।

जरनैल सिंह भिंडरावाले खुल कर घृणा और विद्वेष का प्रचार करते थे। कायरतापूर्ण हत्याओं को जायज ठहराते थे। सिखों को अठारहवीं सदी में ले जाना चाहते थे और गतिशील उद्यमी सिख समाज की मानसिकता को भिंडरावाले १८ वीं सदी में ले जाने में कामयाब हुए।

ब्लू स्टार आपरेशन ने रही-सही कसर पूरी कर दी। रातोंरात लगभग सारा-का-सारा सिख समाज प्रगतिशीलता से मुख मोड़ कर दकियानूसी हो उठा तथा धार्मिक उन्माद में बह उठा। युक्तिसंगत तर्क का स्थान धार्मिक कट्टरता ने ले लिया। दसों गुरुओं द्वारा दिया गया भाईचारे तथा मानवीयता का उदात्त सार्वभौमिक दर्शन घृणा, विद्वेष और संकुचित साम्प्रदायिकता की बेड़ियों में जकड़ दिया गया।

इन सबका नतीजा यह हुआ कि किसी परिस्थिति में, किसी भी स्थान में, किसी भी समाज में घुल मिल कर रहने वाला सिख समाज एकाएक अलग-अलग पड़ गया।

अकाली दल और विशेष कर भिंडरावाला बराबर यह आरोप लगाता रहा है कि सिखों के साथ भेदभाव बरता जाता है। अपने इस आरोप के प्रमाण में उनका यह कहना था कि आजादी के बाद से फौज में सिखों की भरती कम हो गई

है। अकाली दल ने जानबूझ कर यह नजरअन्दाज किया कि सिखो को कृषि, उद्योग, व्यापार तथा सरकारी, गैरसरकारी नौकरियों में नये अवसर उपलब्ध कराये गये।

भारत की कुल आबादी में सिख दो प्रतिशत है। पर ऊपर बताये गये क्षेत्रों मे सिखों का अनुपात अपनी आबादी से कई प्रतिशत अधिक रहा है। सिख सरकारी क्षेत्र में बड़े ओहदो मे अच्छी-खासी सख्या मे रहे। सिख समाज के चौमुखी विकास के अवसरों को एकदम नकार कर केवल फौज मे सिखो की भरती को ही मुख्य मुद्दा बनाया गया। आज के वैज्ञानिक और आधुनिक युग मे कोई समाज विशेष अपने आपको लड़ाकू योद्धा बता कर फौज में अधिक साझेदारी की बात करे तो हास्यास्पद नहीं तो क्या है? क्योंकि ब्रिटिश शासको ने अपने प्रति सिखों के समर्थन के एवज में उनके अहम् की तुष्टी के लिए उन्हें योद्धा जाति की संज्ञा देकर एक भ्रात धारणा फैलाई। सिखो ने इसे स्वीकार किया और अकाली दल ने इस मानसिकता का दुरुपयोग किया।

हालांकि यह सच है कि फौज मे सिखो ने हमेशा अदम्य वीरता का परिचय दिया, लेकिन ऐसा नहीं कि सिखो मे ही यह वीरता है। बल्कि अवसर पड़ने पर जाट, गोरखा, राजपूत, गढवाली आदि जातियों ने भी कम वीरता नही दिखाई।

सिख समाज की यह विशेषता रही है कि मेहनतकश और उद्यमी होने के नाते फौज के अलावा भी हर क्षेत्र में अपना वैशिष्ट्य प्रदर्शित किया। इसलिए सिखों को मात्र योद्धा या वीर फौजी मानना उनके अन्य वैशिष्ट्य को नकार कर उनका अपमान करना है।

पर साम्प्रदायिक दृष्टि लोगों को इतना ओछा बना देती है कि वह वही सब देखना चाहती है, जो उसके झूठे अहम् की तुष्टि करे।

अकाली दल, विशेषकर भिंडरांवाले ने बार-बार यह कहा कि भारत मे सिखों के साथ भेद-भाव बरता जाता है तथा सिख धर्म को दबाया जाता रहा है। उनके द्वारा बारम्बार किये गये इस प्रचार का असर पंजाब से बाहर रह रहे उन लाखों सिखों पर भी पड़ा जो प्रथम श्रेणी ही नही वरन् अति विशिष्ट नागरिक की हैसियत से रह रहे थे एव फल-फूल रहे थे। लोग भूल गये कि स्वतंत्र भारत मे देश के कोने-कोने मे गुरुद्वारे बने तथा १९८२ के पहले कभी किसी गुरुद्वारे पर किसी ने उंगली तक नही उठाई। अगर भेद-भाव होता तो ऐसा सम्भव होता? सिखों के प्रति लोगों के मन मे जो फर्क आया वह १९८३ के बाद और विशेष कर इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद से ही।

इन दंगों से एक बात स्पष्ट होती है कि भारतवासी मानवीय सवेदनशीलता से दूर हटते जा रहे हैं तथा सारा समाज ही अमानवीय अपराधी समाज में तब्दील

होता जा रहा है। देश में बढ़ती हुई हिंसात्मक प्रवृत्ति का सशक्त और संगठित विरोध कभी नहीं हुआ। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि राजनीतिक नेतृत्व ने हिंसात्मक प्रवृत्ति को बढ़ाने में प्रोत्साहन दिया।

इन दिनों में जो कुछ हुआ यह एक राष्ट्रीय शर्म है जिसने सारे देश का सर नीचा किया है। यह तो कोई सोच भी नहीं सकता था भारतवासी इस हद तक क्रूर, हृदयहीन और अमानुषिक हो सकता है। पर यह सब एक दिन की या कोई एक घटना विशेष की उपज नहीं है। यह गत कई वर्षों से चली आ रही प्रक्रिया का अंग है।

हालांकि इंसानियत अभी पूरी तरह खतम नहीं हुई है। अगर दंगा करने वाले हजारो थे तो सिखों को संरक्षण देने व बचाने वालों की संख्या भी कम नहीं थी। हजारो हिन्दुओं ने हजारों सिखो को पनाह दी तथा उन्हें बचाया। दंगो के तुरन्त बाद सैकड़ों स्वयंसेवी संस्थाओं तथा हजारो की संख्या में स्वयंसेवक राहत कार्य के लिए जी-जान से जुट पड़े।

छोटीमोटी मांगों को लेकर चलने वाले आन्दोलन को सबसे पहले आनन्दपुर के प्रस्ताव के गिरफ्त में फंसाया गया। फिर शान्तिपूर्ण आन्दोलन को उग्रवाद की धारा में बहाया गया, फिर स्वर्ण मन्दिर को अलगाववादी और हिंसक राजनीति का अड्डा पंथ की रक्षा के नाम पर बनाया गया। फिर सरकार व अकाली बातचीत के हर दौर को योजनाबद्ध ढंग से हत्याएं करके असफल कराया गया। हिन्दू-सिख एकता के हामियों को चुन-चुन कर मारा गया। स्वर्ण मन्दिर के सैनिक आपरेशन को भारतीय सेना का सिखो पर आक्रमण बताया गया और इस कड़ी में सबसे बड़ा काण्ड इन्दिरा गांधी की हत्या के रूप में किया गया ताकि सारा हिन्दू समाज सिखों से घृणा करने को मजबूर हो जाये और सारा सिख समाज पंजाब से बाहर भारत में खुद को अजनबी और असुरक्षित महसूस कर पंजाब में जाकर बसने के लिये मजबूर हो।

पंजाब में हुई हत्याओं का किसी भी सिख नेता या ग्रंथी द्वारा खुली तौर पर भर्त्सना न किया जाना या सम्पूर्ण सिख समुदाय के मन के किसी कोने में संत भिण्डरांवाला को अपना नायक मान लेने की गुदगुदी महसूस करना इस बात का काफी बड़ा सबूत है कि भारत के सिख समाज में राष्ट्रीय सहमति की ऊर्जा की गर्मी खत्म की जा रही है।

आज सिख समाज का सबसे बड़ा संकट यह है कि उसके पास आधुनिक विचारधारा से प्रभावित नेतृत्व नहीं है। जो नेतृत्व है वह अठारहवीं सदी की मानसिकता से ग्रस्त है तथा उससे बाहर निकलने को तैयार नहीं।

पर साथ ही क्या यह आम हिन्दू के लिए चिन्ता का विषय नहीं है कि क्यों

हर मुद्दे पर उसके और एक आम सिख के दृष्टिकोण मे भिन्नता आई है ? सिखों की इस मानसिकता पर विचार करने के बजाय कुछ हिन्दुओं द्वारा सिखों पर सामूहिक हमला करने में सफल हो जाना और भी ज्यादा चिन्ता पैदा करता है। यह सही है कि हिन्दू समाज ने बडे साफ शब्दो मे और कर्म के द्वारा भी इस बर्बर हिंसा की निन्दा की है। पर यह सच है कि एक मानसिकता ऐसी भी है जो कही न कहीं महसूस करती है कि सिखो को समझाने का और कोई तरीका नही था।

हर सिख के लिए आज यह विचारणीय है कि क्यो पूरे देश मे आज व संदेह के पात्र बने हैं और हर हिन्दू के लिए आज यह विचारणीय है कि क्यों पूरे देश में सिख अकेले महसूस कर रहे हैं। हिन्दू सिख के बीच खड़ी हो रही मानसिकता की दीवार को तोड़ने का काम तो हिन्दू का है। अपने अहं को तुष्ट या रुष्ट किए बिना जब तक हिन्दू उसे अपने में सहेज नही लेता, उसकी उन खूबियों को अंगीकार नही कर लेता जिन पर सिख को सिख के नाते गर्व है, उसकी दार्शनिक शब्दावली को भारतीय दर्शन की व्यापकता नही देता, तब तक हिन्दू सिखो के बीच वह एकात्मकता सही अर्थों मे नहीं आ सकती जो आज संकट की दशा मे पैदा हुई है। क्या बुद्धिजीवियों को इस ऐतिहासिक जिम्मेदारी को निभाने के लिए किसी और बडे आह्वान की जरूरत है ?

अगर भारतीय जनमानस हिंसा, क्रूरता और वहशीपन की ओर बढ़ता रहा तो हमारी हजारो साल की शानदार परम्परायें एव संस्कृति धूल मे मिल जायेंगी और हम इंसान कहलाने के काबिल नही रहेंगे।

राष्ट्र के सामने बडी समस्याएँ है लेकिन जिसने सबको हिला कर रख दिया, वह है—पंजाब।

क्या हरमंदिर भारत से अलग है कि वहां छिपे हत्यारो तथा अपराधियो और देश को खंडित करने तथा रक्तपात में डूबोनेको आकांक्षी लोगो के खिलाफ कोई कार्रवाई यहां की सरकार नही कर सकती ? वाराणसी का काशी विश्वनाथ मंदिर हिन्दुओ के पवित्रतम स्थानो में से एक है और एक बार मंदिर का स्वर्णपत्र चोरी होने पर पुलिस ने मंदिर में प्रवेश किया तथा गिरफ्तारियां की। आज भी वहां ठीक धर्मस्थान पर भीड नियंत्रण के लिए पुलिस लगी रहती है। काशी विश्वनाथ मंदिर मे पुलिस प्रवेश के खिलाफ कोई आक्रोश या हिंसा की लहर नही देखी गई। क्योंकि मान्यता यह है कि जहां कानून व्यवस्था का सवाल है, सरकार को पुलिस या सैनिक कार्रवाई का पूरा हक है। बहुमत सम्प्रदाय का मंदिर भी उतना ही पवित्र है जितना कि अल्पमत का। और देश के संविधान के तहत सेना या पुलिस बहुमत के मंदिर मे प्रवेश कर सकती है तो अल्पमत के मंदिर

में भी। इसके पीछे यह स्पष्ट धारणा और मान्यता है कि देश के कानून और संविधान से अलग होकर किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष को कुछ ऐसे विशेषाधिकार नहीं मिल सकते जो कि उक्त जाति या सम्प्रदाय के लोगों को हत्या और अपराधों में संलग्न होने के बावजूद धर्मस्थलों में छिपने की तथा कानूनी कार्रवाई से छूट प्रदान करें। गुरुद्वारों में छिपे निरीह लोगों की हत्या करने वाले, देश की अखंडता के खिलाफ विद्रोह करने के लिए उनका प्रयोग करने वालों तथा वीरतापूर्ण कृत्यों के लिए जगतविख्यात इस जाति को अपनी कायरतापूर्ण नृशंसताओं से बदनाम करने वालों को जाति-धर्म से क्यों नहीं निकाला या दंडित किया गया, उल्टे उन्हें आज शहीद के रूप में स्थापित करने की कोशिश क्यों कर रहे हैं ?

क्या सिखों का फर्ज नहीं बनता कि वे आत्म विश्लेषण करें और अपने कार्य-व्यवहार को ऐसा रूप दें कि यह न लगे कि वे अलगाव या तन्हाई की तरफ जा रहे हैं जो कि न उनके हित के हैं और न देश के।

अक्टूबर, नवम्बर में हुआ हादसा कोई स्थायी प्रक्रिया नहीं थी। उसे भुला देने में ही सिखों व हिन्दुओं की भलाई है। इसी में राष्ट्र का हित है। सावधानी यह बरतनी है कि भविष्य में इसकी कभी पुनरावृत्ति न हो।

पंजाब में १९८५ में हुए विधान सभा तथा लोकसभा चुनावों के बाद स्थिति में सकारात्मक एवं गुणात्मक परिवर्तन आया है। पर यह कब तक बना रहेगा, कह पाना मुश्किल है। इन चुनावों ने एक बात तो स्पष्ट कर दी कि पंजाब के सिख अलगाववादी नहीं। पर पिछले अनुभवों से यह भी साबित होता है कि धर्म और पंथ के नाम पर उन्हें कभी भी किसी भी हद तक गुमराह किया जा सकता है। अकालीदल का सत्ता में आना समस्या का तात्कालिक समाधान हो सकता है, स्थायी नहीं। इसके लिए जरूरी है कि कलाबाजी की राजनीति को तिलांजली दी जाये तथा धर्म को राजनीति से पूरी तरह अलग कर दिया जाये।

पंजाब में सिख साम्प्रदायिकता के साथ-साथ हिन्दू साम्प्रदायिकता भी रही है। हिन्दुओं का एक वर्ग उसे उभार कर लाभान्वित होता रहा है। स्वर्ण मंदिर की नकल पर दुर्ग्याना मंदिर का निर्माण हिन्दू साम्प्रदायिकता की उपज है।

हिन्दुओं को चाहिए कि वे सिखों से होड़ करने के बजाय सहयोग करें। पंजाब की अपनी संस्कृति रही है जो हिन्दू-सिखों की साझी संस्कृति मानी जाती रही है। इसमें कभी मुसलमान भी शामिल थे, पर विभाजन के बाद आबादी की अदला बदली से वे इस संस्कृति से कट गये तथा पाकिस्तान में पंजाबियों ने गुरुमुखी छोड कर उर्दू अपना ली। पंजाब की संस्कृति विभिन्नता के बावजूद

भारतीय संस्कृति से कभी अलग नही रही। हिन्दू-सिखों के बीच तनाव से पंजाब की मूल संस्कृति पर आघात होता है। इस तथ्य को ध्यान मे रखना बहुत जरूरी है। सांस्कृतिक, सामाजिक एव आर्थिक क्षेत्र मे दोनों ही सम्प्रदाय एक दूसरे से हमेशा ही जुड़े रहे है। उनमे गहरे पारिवारिक रिश्ते रहे है। इसे बनाये रखना है।

सिख उतने ही भारत के है, जितने कि हिन्दू व अन्य भारत के नागरिक। भारत उतना ही सिखो का है, जितना कि हिन्दू व अन्य भारतीय नागरिकों का। इस देश में सिख ही अन्याय के शिकार है, ऐसी बात नहीं। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, आदि भी उसी प्रकार या उससे अधिक अन्याय व शोषण के शिकार हैं क्योंकि व्यवस्था ही ऐसी है। उग्र साम्प्रदायिकता किसी भी समस्या का समाधान कदाचित नही है, बल्कि उसे और अधिक विकटतर बनाती है।

आज प्रश्न केवल सिखों का नही सारे देश का है। सिख अपने आप को अलग-थलग रख कर कुछ हासिल नही कर सकते, बल्कि खोयेंगे ही। इसी प्रकार हिन्दू सिखों से दूरी रख कर राष्ट्र का हित नही कर सकते और न ही कुछ हासिल कर सकते है, क्योकि जो राजनीतिक व धार्मिक प्रश्न पंजाब के है वे कमोबेश सारे देश के है।

हम अविभाजित भारत की एकता और संपूर्णता की बात करते जरूर हैं लेकिन इसके बारे में हमारा ज्ञान बहुत कम है। यह देश और यहां के सब लोग, मेरे हैं, उनकी सब भाषायें मेरी हैं, कि मैं उन्हें सीखना और जानना चाहता हूँ, कहां है ऐसी भावना हम में? बम्बई जैसे शहरों में ऐसे कई संगठन हैं जो जर्मन, फ्रेंच और रूसी भाषा सिखाते हैं लेकिन यहां कहीं भी ऐसा संगठन नहीं जहां सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया जा सके।

—साने गुरुजी

इतिहासकार और साम्प्रदायिकता

हमारे देश की अधिकांश पुस्तकों में इतिहासकार का पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जिसकी वजह से साम्प्रदायिक मानसिकता का बीज पाठक के चेतन—अवचेतन मन पर पड़ जाता है, समय के साथ अनुकूल परिस्थितियों के प्रभाव में गहरी जड़ें बनाता है और पनपता रहता है। साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देने में ये पुस्तकें मदद ही नहीं करतीं, वरन् तथ्यों के तुड़े-मुड़े होने के कारण सम्बन्धित काल की निष्पक्ष और सही तस्वीर पेश नहीं कर पातीं। इसलिए ब्रिटिश शासकों की बराबर यह चेष्टा रही कि इतिहास की पुस्तकें इस ढंग से लिखी जायें, ताकि देश के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच विशेषकर हिन्दू-मुसलमानों के बीच दूरी और वैमनस्य बना रहे।

चूंकि भारत में इतिहास लेखन का काम पाश्चात्य विद्वानों ने शुरू किया, अतः इसमें भी उन्होंने इस देश के हितों को दर किनार कर अपने हितों को ही प्राथमिकता दी। उन्होंने इतिहास लेखन में साम्प्रदायिकता का विष घोला। उनका उद्देश्य था, हिन्दू और मुसलमानों के बीच फूट डाल कर ब्रिटिश शासन को अक्षुण्ण बनाये रखना।

इतिहास लिखने का वह तरीका आज भी जारी है।

ब्रिटिश इतिहासकारों और दार्शनिकों ने भारत के इतिहास को न केवल काफी तोड़-मरोड़ कर लिखा वरन् सबसे पहले साम्प्रदायिक आधार पर भारत के इतिहास को विभाजित किया। इनमें जेम्स मिल का नाम सर्वाधिक चर्चित है, जिन्होंने ब्रिटिश भारत का इतिहास लिखा। इन्होंने ही सर्वप्रथम जातीय आधार पर भारत के इतिहास को हिन्दू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता और ब्रिटिश

सभ्यता, तीन कालो में वर्गित किया। खोज और सूझ के बावजूद उनका यह वर्गीकरण भ्रामक और असन्तुलित है। इन्होने जहा हिन्दू सभ्यता को पिछड़ा हुआ और राष्ट्र विरोधी बताया है, वही मुस्लिम सभ्यता के प्रति इनकी सहानुभूति अधिक रही। इस असन्तुलित दृष्टिकोण के जवाब में भारतीय इतिहासकारों ने भी हिन्दू सभ्यता का अतिशयोक्ति पूर्ण उल्लेख किया। ब्रिटिश इतिहासकारो ने ब्रिटिश काल का गौरवपूर्ण ढग से उल्लेख करते हुए ब्रिटिशो के भारत आगमन को ईश्वर के वरदान के रूप मे चित्रित किया। इसके अलावा तथ्यो का प्रस्तुतिकरण भी प्रामाणिक और निष्पक्ष ढंग से न कर अपने अपने ढंग से आरोपित किया जिसकी वजह से इतिहास के प्रामाणिक व ऐतिहासिक तथ्य निष्पक्ष व सन्तुलित ढग से इतिहास की पुस्तको मे न लिखे जा सकें।

मिल महोदय के अनुसार मुस्लिम काल का आरम्भ ११ वीं या १३ वी शताब्दी के बाद से होता है जबकि विश्लेषण का यह नजरिया इस तरह गलत साबित होता है कि ८वीं शताब्दी मे हिन्दू काल के दौरान अरबों ने सिन्ध पर अधिकार कर लिया था। इसके बावजूद यह समय हिन्दू काल के नाम से जाना जाता है। इसी तरह मुस्लिम काल मे कई हिन्दू राजा भी हुए जिनका शासन काल भी मुस्लिम काल के अन्तर्गत आता है।

इतिहासकार मीर कासिम को पहला मुस्लिम आक्रमणकारी मानते हैं। पर यह नही बताते कि सिन्ध क्षेत्र के तत्कालीन नीची क्षत्रिय जाति के राजाओ मे मीर कासिम को आक्रमण के लिए आमंत्रित किया था। एक मत यह भी है कि सिन्ध क्षेत्र से जाकर डाकू मीर कासिम के राज्य के सीमावर्ती क्षेत्र मे उत्पात करते थे। मीर कासिम ने इसकी शिकायत जब सिन्ध के राजा से की तो राजा का जवाब था—"मैं प्रजा पर राज करता हू, डाकुओ पर नही।' इससे चिढ कर मीर कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया।

कौन नही जानता कि राणा सांगा ने बाबर को आमंत्रित किया था। उसका उद्देश्य बाबर की मदद से इब्राहिम लोदी को हरा देना था। अपने बलबूते पर इब्राहिम लोदी को हरा कर बाबर स्वयं राजा बन बैठा, इसमे अस्वाभाविक क्या था?

सुप्रसिद्ध इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार ने चारण कवि चन्द्रवरदाई के पृथ्वी राज रासो को ऐतिहासिक प्रमाण नहीं माना। अपनी खोज के आधार पर इस गाथा को विशुद्ध काल्पनिक करार करते हुए उन्होने इस बात को उद्घाटित किया है कि जयचन्द्र ने कोई विश्वासघात नही किया था बल्कि वह स्वयं भी मोहम्मद गोरी के खिलाफ लड़ा था। उनके मतानुसार संयुक्ता जयचन्द की पुत्री ही नहीं थी और न ही कोई स्वयंवर हुआ था। पर सामान्य ज्ञान रखने

वालों की बात तो छोड़िये, हमारे देश का प्रबुद्ध वर्ग भी जयचन्द को आज भी एक विश्वासघाती के रूप में चित्रित करता है। आज जयचन्द और विश्वासघात एक दूसरे के पर्याय बन गये हैं। ब्रिटिश इतिहासकारों ने इस चतुराई से दुराग्रहपूर्ण इतिहास की रचना की कि हम भारतवासी एक भयंकर भ्रान्ति के शिकार हो गये।

कई भ्रान्तियां तो हमारी खुद की गढ़ी हुई हैं। ५०० वर्ष पहले लिखी रामायण को भी हम ऐतिहासिक दस्तावेज मानते हैं। जबकि सच्चाई यह है कि रामायण एक महाकाव्य अवश्य है पर इतिहास हर्गिज नहीं। विभिन्न काल में विभिन्न भाषाओं में लिखी रामायण में तथ्यात्मक अन्तर देखा जाता है।

मोहम्मद गजनी के नाम को तो इतिहासकारों ने एक मुसलमान होने के नाते मन्दिर और मूर्ति भंजक के रूप में लिखा। किन्तु मन्दिर और मूर्ति तोड़ने वाले हिन्दू राजाओं का जिक्र उन्होंने नहीं किया। ११ वीं शताब्दी में कश्मीर के राजा हर्ष ने मन्दिरों को तोड़ा, तुड़वाया। इसी तरह राजा शशांक ने सुप्रसिद्ध बोधि वृक्ष को समूल उखड़वाया और मन्दिरों को नष्ट किया। इन्होंने धन के लालच में मन्दिरों को लूटा। लेकिन इस सन्दर्भ में इतिहास में इनका जिक्र नहीं आता।

इसी तरह सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को भी हिन्दुओं पर अत्याचार करने वाले एक धार्मिक उन्मादी के रूप में इतिहास में चित्रित किया गया है, जबकि तथ्य यह है कि विद्रोही हिन्दू जमींदारों को दबाने के लिए जितने कड़े कदम उन्होंने उठाये उतने ही कड़े कदम मुस्लिम इक्तदारों के प्रति भी।

यह सही है कि औरंगजेब द्वारा हिन्दुओं पर जजिया कर लगाया गया। लेकिन मुसलमानों पर लगाये गये 'जकात' का उल्लेख अधिकांश इतिहास की पुस्तकों में नहीं आता। इस बात का उल्लेख भी नहीं मिलता कि उस वक्त जजिया व जकात करों को प्रशासन व युद्ध के खर्चे के लिए लगाया गया था। औरंगजेब ने मन्दिरों को तोड़ा, पर औरंगजेब के भाई दारा शिकोह ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद किया था। वह हिन्दू धर्म का आदर करता था। इसका जिक्र तो इतिहासकारों ने किया, लेकिन उन्होंने इस ऐतिहासिक तथ्य को बिल्कुल नजरअन्दाज कर दिया कि उज्जैन के महाकालेश्वर मन्दिर के रख रखाव के लिये व महापुजारी के लिए औरंगजेब नियमित रूप से अनुदान देता था। औरंगजेब ने बीजापुर और गोलकुण्डा के सुल्तानों को भी नहीं बख्शा। इसी तरह बाद के समय में नादिरशाह ने दिल्ली लूटते समय मुसलमानों को भी नहीं बख्शा।

एक खास तरह के दृष्टिकोण वाले इतिहासकार इस ढंग से मुस्लिम काल को चित्रित करते हैं, जिससे राष्ट्रीय एकता कमजोर होती है और साम्प्रदायिक तनाव

बढ़ता है। इनमे आर० सी० मजूमदार का नाम विशेष रूप से चर्चित है, जिन्होने मुस्लिम काल को सर्वाधिक अन्धकारपूर्ण काल कहा है। इनकी इतिहास पुस्तक विश्वविद्यालयों मे मान्यता प्राप्त है और छात्रो को पढ़ाई जाती है।

जब भी किसी मुस्लिम राजा ने हिन्दू राजा पर हमला किया तो उसे इतिहासकारों ने इस ढग से वर्णित किया कि ऐसा लगा जैसे वह लड़ाई दो राजाओ के बीच न होकर हिन्दू-मुसलमानो के बीच थी। जब कि दोनो ही राजाओ की फौज मे हिन्दू और मुसलमान दोनों होते थे।

इतिहासकारों ने हिन्दू राजाओं को बहुत अच्छा और मुसलमान राजाओ को बहुत अत्याचारी और क्रूर दिखाया है। इतिहास की लगभग सभी पुस्तको मे अलाउद्दीन खिलजी की इसलिए निंदा की गई है कि तख्त पाने के लिए उसने अपने चाचा को मार डाला। कईयों ने इसे इतिहास की निकृष्टतम कोटी की हत्या की संज्ञा दी। लेकिन हिन्दू राजाओ के महलो और परिवारो मे षडयन्त्र होते रहते थे। भाई का भाई से, बेटे का बाप से, रानी का राजा से आदि प्रकार के षड़यन्त्र हिन्दू-मुस्लिम दोनों तरह के राजाओ के यहा होते थे। स्वयं शिवाजी के सौतेले भाई ने उनके विरुद्ध लड़ाई लड़ी थी और शिवाजी के बेटे सम्भाजी मुगलों से जा मिले थे। मुस्लिम राजाओ के हरम में सैकड़ो रानियां और दासिया होती थी, उसी प्रकार हिन्दू राजाओ के महलो मे भी इनकी सख्या कम नही होती थी। महाराजा रंजीत सिंह के हरम मे करीब ९० रानिया थीं।

राणा प्रताप को हिन्दू राष्ट्र की एकता और अखण्डता के प्रतीक के रूप में दर्शाते हुए इतिहासकारों ने उन्हे राष्ट्र नायक के रूप में चित्रित किया। पर ऐतिहासिक तथ्य यह है कि उनकी लड़ाई मुगल शासकों के विरुद्ध अपने राज्य चित्तौड़ को मुक्त कराने तक सीमित थी। यह सच है कि राणा प्रताप अदम्य वीर, साहसी, पराक्रमी थे। मुगलो के सामने उन्होंने कभी घुटने नहीं टेके। लेकिन उन्हें हिन्दुओ का मुक्तिदाता बताना इतिहास के साथ अन्याय करना है। यही बात छत्रपति शिवाजी पर लागू होती है। शिवाजी को मुसलमानों के शत्रु के रूप मे चित्रित किया गया है और उन्हे भी हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतीक बताया गया है। जबकि ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार शिवाजी ने कभी भी औरंगजेब को दिल्ली की गद्दी से च्युत करने की चेष्टा नही की। उनकी लड़ाई औरंगजेब से इसलिए थी कि वह उनके मामले मे दखल देता था। यूं शिवाजी की फौज में कई हजार मुसलमान फौजी थे। उनके एक सिपहसालार भी मुसलमान थे।

मुगल साम्राज्य की रक्षा करने और उसके विस्तार करने मे राजस्थान के

राजपूत राजाओं और सिपाहियों का बहुत बड़ा हाथ रहा। जिस औरंगजेब को हिन्दुओं का कट्टर शत्रु बताया जाता है उसकी फौज के बड़े आला अफसरों में राजपूत राजा होते थे। और राजपूत फौजियों की अच्छी खासी संख्या होती थी।

राणा प्रताप के वंशधर राजाओं ने शाहजहां व जहांगीर की काफी खिदमत की थी, जिससे खुश होकर उन्होंने उन राजपूत राजाओं को जागीरें प्रदान की थी। इसी तरह १८५७ का गदर दबाने में अधिकांश राजपूत राजाओं ने अंग्रेजो की मदद की थी।

अतः यह गलत है कि मुस्लिम काल में साम्प्रदायिक तनाव था, हालांकि, धार्मिक मतभेद अवश्य थे।

कुछ पुनरुत्थानवादी इतिहासकार कहते हैं कि मुसलमान हमलावर हैं और वे बाहर से भारत में आये हैं। उनके कहने का अर्थ यह है कि मुसलमान विदेशी हैं और उन्हें भारत से चले जाना चाहिये। लेकिन शक, हूण, कुषाण यहां तक कि आर्य भी तो विदेशी हमलावर थे। भारत के मूल निवासी तो वे हैं, जो अनार्य कहे जाते हैं। आज हम उन्हीं आर्यों के वंशज कहलाने में गर्व अनुभव करते हैं जो कभी बाहर से आये थे। समय के प्रवाह में जो जातियां यहां आईं और यहां रच-बस गईं उन्हें हजारों-सैकड़ों वर्षों बाद भारत से चले जाने को नहीं कह सकते। ऐसी बातें राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक सद्भाव को कमजोर करती हैं।

यह सही है कि कई मुसलमान शासकों ने हिन्दू धर्म स्थानों को तोड़ा और उसी सामग्री से मस्जिदों का निर्माण कराया। उन्होंने हिन्दुओं पर अधिक अत्याचार किये। लेकिन मुसलमानों पर अत्याचार नहीं किये, ऐसी बात नहीं। वस्तुतः वे हिन्दुओं के शत्रु नहीं वरन स्वभाव से क्रूर व अत्याचारी थे, जिन्हें धार्मिक उन्मादियों ने संरक्षण व बढ़ावा दिया और उनके अत्याचारों को जायज ठहराया। उन्हें अत्याचारी राजा के रूप में चित्रित किया जाना चाहिये।

इन दिनों इतिहास लेखन को लेकर एक नई धारा चली है। कुछ सिख इतिहासकार सिख धर्म को तोड़-मरोड़ कर पेश करने लगे हैं। उनकी राय में सिख धर्म हिन्दू धर्म की अपेक्षा इस्लाम के ज्यादा करीब है और सिख हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों के ज्यादा करीब हैं। यह सब जानबूझ कर इसलिए किया जा रहा है, ताकि हिन्दू और सिखों के बीच स्थायी दीवार खड़ी की जा सके और देर सबेर सिखों की खालिस्तान की मांग को न्यायोचित ठहराया जा सके।

जबकि तथ्य यह है कि सिख धर्म और दर्शन हिन्दू धर्म के करीब ही नहीं बल्कि यह कहना ज्यादा उचित होगा कि हिन्दू धर्म के विकास की प्रक्रिया का एक अंग है।

ये सिख इतिहासकार अपने मत के समर्थन मे मुख्यत: यह तर्क देते है कि इस्लाम की तरह सिख धर्म में मूर्ति पूजा वर्जित है, एकेश्वरवाद का सिद्धान्त माना गया है तथा जाति प्रथा को नकारा गया है। वे इस बात का जानबूझ कर उल्लेख नहीं करते कि हिन्दू धर्म के प्रारम्भिक काल में वैदिक युग, मूर्तिपूजा नहीं थी। निराकार व एक ईश्वर का उल्लेख हिन्दू धर्म मे है और इस्लाम के बहुत पहले से है। इस्लाम के ११ सौ वर्ष पहले बुद्ध ने जाति विहीन समाज के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मूर्तिपूजा का विरोध किया था तथा निराकार, एक ईश्वर की बात कही थी। हिन्दू धर्म और हिन्दू धर्म से अटूट सम्बन्ध तथा उनसे प्रभावित होने के फलस्वरूप कालान्तर मे सिखों में जात-पात का भेदभाव होने लगा और मूर्ति की तरह गुरु ग्रन्थ साहिब को पूजने लगे।

इन इतिहासकारो ने कुरान या तो पढ़ा नही या जानबूझ कर इस बात का उल्लेख नहीं करते कि कुरान के अनुसार कुरान शरीफ के समकक्ष या उससे ऊपर कोई व्यक्ति यदि अन्य किसी ग्रन्थ को मानता है, वह काफिर है।

ये इतिहासकार हिन्दू राजाओ से सिखो की लड़ाई को बहुत बढा-चढ़ा कर पेश कर रहे हैं। जबकि तथ्य यह है कि सिखों के अधिकाश धर्म गुरुओ का विरोध मुगल राजाओं से रहा और मुगल सम्राटो ने सिख गुरुओ पर अमानुषिक अत्याचार किये। कइयो को मौत के घाट उतारा या यहां तक कि गुरु गोविन्द सिंह के बच्चों तक को नही छोड़ा।

कई सिख गुरुओं ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए अपना बलिदान दिया।

इस तरह इतिहासकारो ने तथ्यों को मरोड कर जो कुछ भी लिखा और लिख रहे हैं, उसने हिन्दू-मुसलमानों को बाटने मे विध्वन्सकारी भूमिका ही अदा की। इसी तरह की कुचेष्टा इतिहासकार अब भी कर रहें है। वे ऐतिहासिक तथ्यों को न केवल तोड मरोड कर ही लिख रहे है वरन् अपने पक्ष को साबित करने के लिए मनगढ़न्त किस्सों और अफवाहों का सहारा ले रहे है।

साम्प्रदायिक एवं फूटवादी समझ तो दरअसल अंग्रेजों द्वारा फैलाई गई थी।

भारत जैसे देश में इतिहास लेखन एक बहुत ही सवेदनशील विषय है। ऐतिहासिक तथ्यों को न तो दबाया जाना चाहिये और न ही उन्हें गलत ढग से पेश किया जाना चाहिए। नवीन शोधों और नये तथ्यों के प्रकाश मे इतिहास को फिर से लिखा जाना जरूरी है ताकि सही स्थिति स्पष्ट हो सके। ऐसी कोई भी पुस्तक पाठ्यक्रम में न रखी जाय, जो साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखी गई हो और पूर्वाग्रहो पर आधारित हो।

इतिहासकार बेशक तथ्यों को बिना तोड़े-मरोडे पेश करे लेकिन उसके लिखने का ढंग ऐसा होना चाहिये कि विभिन्न धर्मो-जातियो के बीच कटुता न फैले। साम्प्रदायिक सदभाव बढ़े और राष्ट्र और राष्ट्रीय एकता मजबूत हो।

जनता से अलग रह कर हम बिल्कुल अजनबी बन जायेंगे। साहित्यकारों को मनुष्यों से मिल-जुल कर उन्हें पहचानना है। अगर साहित्य मानवता से तादात्म्य स्थापित न कर सका, तो वह अपने सत्य और आकांक्षाओं को पाने में विफल रहेगा।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

आज फूलों को लेने और देने का दिन नहीं है। सोचती हू, हम ऐसे फूल हों, जिनसे इन्सानियत की महक आये। हमारे होते हुए यदि देश में कहीं कुछ होता है, तो मैं सोचती हूं कि कही पर हम भी गुनाहगार हैं। हमारा चिन्तन लोगों तक पहुचा ही नहीं है।

—अमृता प्रीतम

बुद्धिजीवियों की भूमिका

अक्सर यह देखा गया है कि देश में जब भी साम्प्रदायिकता या धार्मिक, उन्माद ने कोई संकट उत्पन्न किया तथा देश की एकता और अखण्डता को चुनौती दी, बुद्धिजीवियों ने या तो उपेक्षा, निरपेक्ष, निर्विकार भाव अपनाया या अपनी सीमा महज औपचारिक विरोध तक कैद रखी। आज का बुद्धिजीवी दोहरी, दोगली मानसिकता में जीने का आदी हो गया है। उसके बोलने और लिखने के तेवर अलग होते हैं। अपने सभाषण और लेखन में वह जिन आदर्शों व सिद्धान्तों की वकालत करता है, व्यवहार में ठीक उसका उल्टा आचरण करता है। स्थिति में गिरावट का आलम यह है कि वह कमीनगी के स्तर तक समझौता कर जीने की कला में पारंगत हो गया है।

इसीलिए आज लेखक की पकड़ अपने पाठकों पर ढीली पड़ गई है। लेखक-पाठक के रिश्ते में गहराई व तारतम्य नही रह गया है। लेखक के सोच का असर पाठक पर नही पड रहा। इसकी वजह यह नही कि आज का लेखक पहले के लेखक से अच्छा नही लिख रहा। लेखन में सुधार हुआ है, भाषा संवरी है। पर उसमें ईमानदारी का अभाव हो गया है और यह बात पाठक वर्ग अच्छी तरह समझ गया है। वह जानता है कि लेखक जो कुछ लिखता है, उसमें उसका स्वयं का विश्वास नही। या वह जो कुछ लिखता है, उसके विपरीत उसका आचरण होता है। इसलिए लेखक आज पाठक को उद्वेलित नहीं कर पाता।

आज लेखक पहले अपना हित-अहित, शुभ-लाभ सोच कर लिखने लगा है। उसकी पहली चिन्ता होती है कि उसकी पुस्तक बिकेगी या नही, कोर्स मे लगेगी या नही, उसकी सरकारी खरीद होगी या नही। उसके लिखने से कोई नाराज तो नहीं होगा। इस तरह वह अपने लेखन से समझौता करने लगता है तथा मूल उद्देश्य से भटक जाता है। प्रगतिशीलता के नाम से चर्चित होने के मोह में वह अश्लीलता की हर सीमा लांघने लगता है। वास्तविकता से आंखें मूद अपनी काल्पनिक दुनिया गढता है जिसकी वजह से मानवीय संवेदनशीलता, आदर्शों, सिद्वान्तो से वह काफी दूर हट जाता है।

वामपंथ और प्रगतिशीलता मात्र एक मुखौटा बन कर रह गई है। सरकार से, सेठों से आश्रय पाने के लिए ये तथाकथित प्रगतिशील लेखक किसी भी हद तक समझौता करने को तैयार रहते हैं।

अपने आपको मार्क्सवादी और कम्यूनिष्ट कहलाने वाले बुद्धिजीवी, विवाह-शादी, जीने-मरने पर वे सभी धार्मिक कर्मकाड करते हैं जो एक साधारण आदमी करता है। ऐसे वक्त ये इस तथ्य को नजरंदाज कर जाते हैं कि मार्क्स ने धर्म को अफीम बताया था। इनके सोच और चिंतन का व्यावहारिक जिन्दगी से कोई तालमेल नही होता। इनके लिखने और बोलने के तेवर अलग होते है, पर जब उसे जिन्दगी मे ढालने का प्रश्न पैदा होता है तो बगलें झाकने लगते हैं। अब भला सोचिए, जो स्वयं मे बदलाव नही ला सका वह समाज को किस बूते पर, बदलेगा ?

राष्ट्रीय ख्याति के कई प्रगतिशील वामपंथी लेखक पैसे के लिए ऐसे लोगो की जीवनियां लिखकर देते है, जो सारा जीवन ही नैतिकता, ईमानदारी की कीमत पर बेशुमार धन कमाने मे सफल रहे। ऐसे लोगों के अभिनन्दन ग्रन्थों के सम्पादन करने मे इन्हें समझौता नजर नहीं आता। इनके दोगलेपन का असर यह हुआ है कि इनका लेखन पाठकों के मन को नही छूता। ओजस्वी से ओजस्वी व सशक्त रचनाएँ इनके स्वयं का व पाठकों का मानसिक विलास ही कर पाती हैं।

प्रभावशाली पर सुविधाप्राप्त बुद्धिजीवियो का चिन्तन देश के अवाम और उनकी समस्याओं से कट कर सुसज्जित ड्राइंगरूम, क्लबो और बड़ी होटलों के घेरों मे सिमट कर रह गया है। ये सोचते तो बहुत अच्छा है, पर जब इनके सोच को व्यवहार में ढालने का वक्त आता है तो अपनी सुविधाओं पर आंच आने के भय से कन्नी काट जाते हैं।

१९८५ मे गुजरात मे महीनों विभिन्न सम्प्रदायों और जातियो के बीच हिंसा का ताण्डव होता रहा। वहा जाकर कुछ करना तो दूर, उस दौरान

उस ज्वलन्त समस्या पर जनचेतना जागृत करने की दिशा में भी इन्होंने कुछ नहीं किया। आसाम और पंजाब के दंगों के दौरान भी इस वर्ग ने साम्प्रदायिकता के जहर को उतारने की कारगर कोशिश नहीं की बल्कि अपनी-अपनी खोलों में, अपने-अपने बिलों में कायरों की तरह दुबके रहे।

इनमें अपवाद हैं, पर वे उपेक्षित ही अलग-थलग पड़े हैं।

इन सब का नतीजा यह हुआ कि राष्ट्रीय समस्याओं पर इन्होंने जो कुछ लिखा, उसका स्थायी क्या अस्थायी असर भी पाठकों पर नहीं पड़ा। जिस तरह मनोरंजन के लिए लोग सिनेमा देखते हैं, शेरो-शायरी या कव्वाली सुनते हैं, उसी प्रकार कोई पुस्तक पढ़ लेते हैं, या विचार गोष्ठियों में भाषण सुन लेते हैं।

आज अगर बौद्धिक वर्ग सचेतन, ईमानदार, निष्ठावान, सक्रिय और अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर होता, तो वह साम्प्रदायिकता के विरुद्ध जनमत बनाने में कारगर भूमिका निभा पाता। लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

पंजाब में जब भिंडरांवाला के नेतृत्व में धार्मिक उन्माद चरम पराकाष्ठा पर था, तब प्राणों के भय से सिख बुद्धिजीवी बिलों में घुसे रहे। भिंडरावाला के वक्त तो प्राणों का भय था, पर बम्बई में शिव सेना की साम्प्रदायिकता के विरोध में क्या अड़चन थी? वहां भी बुद्धिजीवियों का रवैया उपेक्षापूर्ण ही रहा। जब उनसे इन सबका कोई जिक्र किया जाता है तो इनका जवाब होता है कि उन्हें तो लिखने-पढ़ने से ही फुर्सत नहीं। इन झमेलों में वे क्यों कर पड़ें। यानी साम्प्रदायिकता समाज से कोई इतर चीज है, जिससे बुद्धिजीवियों को कोई लेना देना नहीं।

इस वर्ग के आजादी से पहले और बाद के रवैये में जमीन-आसमान का फर्क है। आजादी के लिए लड़ने-मरने की प्रेरणा देने में बुद्धिजीवी अग्रणी रहे। स्वयं उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाई, पर स्वतन्त्रता के बाद साम्प्रदायिकता जैसी राक्षसी और पाशविक मानसिकता के विरुद्ध इन्हें जैसे लकवा मार गया।

देश का पत्रकार वर्ग भी अपनी परीक्षा में खरा नहीं उतरा। देश के विभिन्न राज्यों, धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों और उपजातियों के बीच भावनात्मक, रागात्मक सम्बन्ध और सद्भाव पैदा करने में पत्रकार वर्ग अधिक कारगर भूमिका निभा सकता था। जो जिम्मेदारीपूर्ण भूमिका अदा करनी चाहिए थी, वह उसने नहीं की। उद्देश्यपरक पत्रकारिता की उपेक्षा करते हुए राष्ट्रीय एकता, अखण्डता एवं सद्भाव कायम करने के लिए उसने किसी प्रकार की आचारसंहिता का पालन नहीं किया।

पत्रों की प्रसार संख्या बढ़ाने का स्वार्थ, अधिक विज्ञापन प्राप्त कर अधिक

मुनाफा बटोरने की गरज ने पत्रकारो को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे सनसनीखेज पत्रकारिता व पीली पत्रकारिता की हद तक जाकर अपने मालिकों को सन्तुष्ट करें। रातों-रात नाम कमा लेने की ललक ने पत्रकारों को दिग-भ्रमित किया। इस बात की परवाह किये बिना कि जनमानस पर इसका क्या असर पडेगा, उन्होंने वह सब लिखा जिससे राष्ट्र का अहित हुआ।

देश में जब भी साम्प्रदायिक दंगे हुए, देश के तथाकथित राष्ट्रीय पत्रो ने चटखारे लेकर नमक मिर्च लगा कर सविस्तार भावुकतापूर्ण हत्याओं और बर्बरता का चित्रण करे अल्प सख्यकों के मन में आक्रोश और हिंसा का संचार किया। अल्पसंख्यकों के हृदय में बहुसंख्यकों के प्रति रोष, द्वेष व उत्तेजना पैदा करने में मदद की। दूसरी ओर ये अल्पसंख्यकों के कुछ कार्यो को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर मोटी सुर्खियों में छाप कर बहुसंख्यकों की भावनाओं को उभारते रहे और नफ-रत का जहर बेच कर अपनी बिक्री बढ़ाते रहे। आसाम, पंजाब और फिर गुजरातमे दंगों व आतंकवाद को बढाने में समाचारपत्रों की निन्दनीय व निराशा-जनक भूमिका रही।

पंजाब मे भिंडरांवाला और उसके समर्थको, इन्दिरा गाधी के हत्यारों बेअंत सिंह और सतवंत सिंह, अकाली दल के अर्धशिक्षित व अशिक्षित नेताओ के बैसिरपैर के इन्टरव्यू आदि को प्रमुख स्थान दिया जाता रहा है। पाठको के सामने उन्हें हीरो के रूप में पेश किया जाता रहा।

पुलिस-अत्याचार हमारी व्यवस्था का एक अभिन्न अंग है तथा हर वर्ग का व्यक्ति इसका शिकार होता रहता है। लेकिन पंजाब और दिल्ली मे पुलिस के अत्याचार को इन पत्रों ने इस तरह पेश किया, जैसे वह केवल सिखों के साथ ही होता हो।

एक बारह वर्षीय सिख बालक का सचित्र इन्टरव्यू बडी पत्र-पत्रिकाओं में बड़ी सुर्खियों मे छापा गया, जिसमें उसने यह कहा कि वह पाकिस्तान जाकर आतंकवाद का प्रशिक्षण लेकर प्रधानमंत्री राजीव गांधी व उनके परिवार के सदस्यों की हत्या करना चाहता है। इस अकेले इन्टरव्यू ने जहां सिख युवकों को उग्रवादी बनाने की प्रेरणा दी, वही हिन्दुओं में सिखों के प्रति दुर्भावना और नफरत पैदा की।

आसाम में हुए कत्लेआम के रंगीन चित्र कवर पृष्ठ पर छाप कर पत्रिकाओं ने भले ही अपनी बिक्री बढ़ाई हो पर इससे अल्प संख्यकों के मन में नफरत ही पैदा हुई, इस तरह के सैकड़ों हजारों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

१९८५ में, महीनों गुजरात में जो हिंसात्मक घटनायें घटती रही जिनमें सैकड़ों लोग मारे गये, करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हुई तथा विभिन्न सम्प्रदायों के

बीच दूरी उत्पन्न हुई, उन सब के पीछे बड़े समाचारपत्रों की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। अहमदाबाद के एक बड़े समाचारपत्र के संपादक ने गुजरात के तत्कालीन मुख्यमंत्री माधव सिंह सोलंकी से व्यक्तिगत वैमनस्य का बदला चुकाने के लिए जो कुछ भी, जिस ढंग से लिया, उससे गुजरात में हिंसा और भड़की।

पत्रकार समाज की दृष्टि है और समाज को सही दिशा देने का उत्तरदायित्व पत्रकार पर भी होता है। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि पत्रकार वर्ग अपनी इस रचनात्मक भूमिका का निर्वाह करने में पूरी तरह असफल रहा। आजादी के पहले की समर्पित पत्रकारिता का आजाद भारत में कोई स्थान नहीं रहा। अन्य उद्योग-व्यवसायों की तरह पत्र-पत्रिकाओं ने भी मुनाफा कमाने वाले उद्योग का रूप ले लिया, फलस्वरूप पत्रकारिता का व्यवसायीकरण हो गया।

यहा पुनः यह स्पष्ट कर दें कि इस वर्ग में भी अपवाद हैं पर वे इतने नगण्य हैं कि उनका कहीं विशेष असर नहीं।

मूल बात यह है कि जिन मूल्यों की बुद्धिजीवी बार-बार अपने लेखन में वकालत करते हैं, अगर उनका पालन वे स्वयं नहीं करते तो उनकी वकालत उस वकील की वकालत की तरह है जो फीस के एवज में अपने पक्ष को बड़े प्रभावशाली ढंग से पेश करता है, पर सुननेवाले के दिल और दिमाग पर कोई असर नहीं होता।

पिपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज तथा पिपुल्स यूनियन फॉर डेमोक्रेटिक राइट्स—ये दोनों ही संगठन देश के ख्यातिप्राप्त बुद्धिजीवियों के हैं। जिनमें भूतपूर्व न्यायाधीश श्री० तारकुण्डे का नाम उल्लेखनीय है। यह बात दीगर है कि इससे जुड़े बुद्धिजीवी एक विशेष विचारधारा से सम्बन्धित हैं। पंजाब के प्रश्न पर इन संस्थाओं ने बहुत ही निन्दनीय भूमिका निभाई।

पंजाब में ऐन चुनाव के पहले इन संस्थाओं की ओर से पंजाब की घटनाओं पर एक जांच रपट प्रकाशित की गई। इस रपट में पंजाब की घटनाओं के लिए केवल मात्र कांग्रेस, केन्द्रीय व राज्य सरकारों को दोषी ठहराया गया। रपट में अकालियों, आतंकवादियों एवं उग्रपंथियों को पूरी तरह निर्दोष दिखाया गया। रपट में यह लिखा गया कि पंजाब में एक भी सिख ऐसा नहीं मिला, जो साम्प्रदायिक विचार रखता हो। लेकिन कई हिन्दू जरूर ऐसे मिले जो साम्प्रदायिक भावना रखते थे। रपट के अनुसार १९८२ से स्वर्ण-मंदिर परिसर में जो कुछ भी हुआ वह सब कांग्रेस के लोगों ने किया। उग्रपंथी या आतंकवादियों ने कुछ नहीं किया, यहा तक कि खालिस्तानी झंडे फहराने की घटना को भी इस रपट में गलत

बताया गया। रपट मे यह भी लिखा है कि पंजाब में एक भी सिख ऐसा नही मिला जो खालिस्तान समर्थक हो। इस रपट के मुताबिक कांग्रेस-नेता आर. एल. भाटिया को गोली मारने वाले, सिख नही हिन्दू थे। (गनीमत है, इसमे यह नहीं लिखा कि भिंडरावाला सिख नही हिन्दू थे।) इस रपट के अनुसार एक से चार जून (१९८४) तक फौजी कार्रवाई के दौरान सी आर पी और फौज के लोग स्वर्ण मंदिर परिसर में तथा निशाना साध कर हरमंदिर साहिब पर गोलियां चलाते रहे तथा निर्दोष औरत, मर्द, बच्चों की हत्या करते रहे। इसके अनुसार इन चार दिनो मे आतंकवादी और उग्रवादियो की तरफ से एक भी गोली नहीं चली। रपट मे यह स्पष्ट लिखा है कि जोधपुर तथा अन्य जेलो मे बन्द कथित हजारों आतकवादियों में सभी के सभी निर्दोष हैं।

पजाब की घटनाओ पर और भी कई रपट व पुस्तकें प्रकाशित हुई है, लेकिन किसी मे भी इस तरह की बेसिरपैर की बातें व मनगढ़ंत बयानबाजी नहीं। ऐन चुनाव के पहले यह रपट छापने के पीछे निश्चित रूप से एक गहरी साजिश थी। इस रपट के छपने से सिख जनमानस का आक्रोश और उभरा, क्योंकि उन्होने इस रपट पर आख मूद कर विश्वास किया। सरकार ने बजाय इस रपट के झूठ को उजागर करने के, इस पर प्रतिबंध लगा कर इसका महत्व बढ़ा दिया। बहुत ही सुनियोजित तरीके से प्रतिबन्ध के बावजूद यह रपट अग्रेजी, हिन्दी व पजाबी में छपा कर देश भर मे बांटी और बेची गई।

पी यू सी एल ने नवम्बर १९८४ में कानपुर मे हुए दगों पर भी एक रपट छापी थी, जिसमे ऐसे कई लोगों को, नाम और पते सहित, मृत बताया गया था, जो कि जिन्दा थे। बाद में राष्ट्रीय स्तर की केवल एक पत्रिका ने सप्रमाण उन लोगो की फोटो छाप कर इस झूठ को उजागर किया।

देश भर की पत्र-पत्रिकाओ मे इन रपटो का जिक्र तो प्रमुखता से किया, पर रपट मे क्या झूठ और क्या सच था, इसकी जाच पड़ताल कर उससे पाठकों को अवगत नही कराया। सबसे दुःख की बात तो यह रही कि इस रपट का सही और प्रभावशाली ढंग से जवाब देने की कोई कोशिश नही की गई। और इस प्रकार रपट को, सिखो के दिमाग को और अधिक विषाक्त करने की पूरी छूट मिल गई। जनतंत्र एवं मानव अधिकार के तथाकथित रक्षकों ने इस तरह की पूर्वाग्रहग्रस्त रपट छाप कर सिखों का अहित तो किया ही, राष्ट्र का अहित भी किया।

उस वक्त बडी कोफ्त होती है, जब बुद्धिजीवी और पत्रकार आग लगने पर या तो दूर जा खडे होते है, या स्वयं आग तापने लगते हैं या फिर अपनी रोटिया सेंकने लगते हैं। आग बुझाने या आग न लगे, इसकी कोई चेष्टा ये नही

करते। इस तरह जिनसे समाज को दिशा देने की, दूरदर्शिता की, स्पष्ट दृष्टि की अपेक्षा है वह वर्ग एकदम नाकारा बन कर रह गया है।

यह सब लिखते हुए कोई खुशी या गर्व का अनुभव नहीं होता पर सच तो आखिर सच है। भले ही कड़वा हो, अब वक्त आ गया है कि उसे बेलाग बोला जाये।

'मुझे खेद के साथ कहना पड़ रहा है कि धर्म के वर्तमान ढाचे ने हिन्दुओ को इस बुरी तरह जकड़ रखा है कि उनके राजनीतिक हितों के बारे मे कुछ किया ही नही जा सकता। जाति-भेद और जातीय अभिमान ने उन्हें अनगिनत वर्गों और उपवर्गों मे बाट दिया है, जिससे उनमे देशप्रेम की भावना ही पूरी तरह खत्म हो गई है। सैकड़ो तरह के धार्मिक रीति रिवाजों, धार्मिक समारोहो और शुद्धिकरण के नियम ने उन्हें इस कदर बाध रखा है कि वे कोई जोखिम का काम हाथ मे लेने लायक रह ही नही गये है। इसलिए, मेरे ख्याल से, अब यह जरूरी हो गया है कि हिन्दू धर्म के स्वरूप में कुछ परिवर्तन लाय जायें। कम-से-कम हिन्दुओं के राजनीतिक और सामाजिक हितो के लिए तो एसा करना बेहद जरूरी है।'

—राजा राममोहन राय

राम जन्म-भूमि-मुक्ति आन्दोलन

जिस तरह हिन्दू साम्प्रदायिक तत्व राम जन्म-भूमि की मुक्ति को बहाना बना कर हिन्दू साम्प्रदायिकता को उभारने की कोशिश करते है, उसी तरह मुस्लिम पर्सनल ला अथवा शरीयत को ढाल बना कर मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्व मुसलमानों की साम्प्रदायिक भावना को उभारते रहते है।

कुछ मुट्ठी भर लोग अपना राजनीतिक स्वार्थ साधने के लिए किस तरह धर्म का सहारा लेकर साम्प्रदायिकता फैलाते है, उसकी ताजादम मिसाल राम जन्म भूमि को लेकर चलाया जाने वाला आन्दोलन और मुस्लिम पर्सनल ला की रक्षा के नाम पर किया जा रहा आन्दोलन है। इसीलिए इनकी विषद चर्चा आवश्यक है।

राजनीति मे धर्म का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हस्तक्षेप साम्प्रदायिकता को शक्ति प्रदान करता है। इसका सशक्त विरोध होना ही चाहिए।

हाल ही मे सुप्रीम कोर्ट द्वारा पंजाब विधानसभा के लिए निर्वाचित अकाली विधायक का चुनाव इस आधार पर रद्द कर दिया कि स्वर्ण मन्दिर से हुक्मनामा जारी कर सिख मतदाताओ से उसे मत देने का आदेश दिया गया था। निश्चित रूप से यह फैसला स्वागत योग्य है, पर देश की धर्मनिरपेक्ष ताकतों को पहल

कर इस तरह की चीजों का विरोध करना चाहिए। सुप्रीमकोर्ट के फैसले तक इंतजार करना, यह दर्शाता है कि ये ताकतें अक्षम साबित हुई हैं।

राम जन्म भूमि मुक्ति के नाम पर पिछले कुछ वर्षों में जो आन्दोलन किया जा रहा है, उसकी अगर गहराई से छानबीन की जाय तो यह बात साफ हो जाती है कि आन्दोलनकर्त्ताओं का उद्देश्य हिन्दुओं की धार्मिक और साम्प्रदायिक भावना उभार कर तथा उन्हें मुसलमानों के विरुद्ध भड़का कर अपना स्वार्थ साधना है।

राम की नगरी अयोध्या किस तरह अनाचार और हर तरह के छोटे-मोटे अपराधों की नगरी बन कर रह गई है, किस तरह मन्दिरों के महन्त अपनी दादागिरी और गुण्डागिरी के बल पर यात्रियो को ठगते है, किस तरह सैकड़ों ऐतिहासिक कुण्ड और मन्दिर जर्जर अवस्था मे है, और कई तो अपना अस्तित्व ही खो बैठे है, और किस तरह इन स्थानों पर हिन्दुओं द्वारा अवैध पार्क और भवन बनाये जा रहे है, इन सबको लेकर आन्दोलनकारियों को जरा भी चिन्ता नही।

दूसरी तरफ मुसलमानों का भी एक वर्ग इस आन्दोलन के विरोध के नाम पर मुसलमानो पर अपनी नेतागिरी जमा रहा है तथा उनसे चन्दे की रकम ऐंठ कर खा रहा है।

इस भूमि को लेकर सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे विवाद को ब्रिटिश शासको ने इसलिए नही सुलझने दिया क्योंकि उनकी नीति ही थी, फूट डालो और शासन करो। हिन्दू और मुसलमानो के बीच भेद पैदा करने का इससे उपयुक्त कारण और क्या हो सकता था?

पर दुःख की बात तो यह है कि स्वतंत्रता के ३८ वर्षों बाद तक 'राम जन्म भूमि को लेकर उत्पन्न हुआ विवाद ज्यों-का-त्यों है तथा जब तब साम्प्रदायिक तत्व इस प्रश्न पर धार्मिक भावना उभार कर हिन्दू-मुसलमानो के बीच तनाव उत्पन्न कर देते हैं।

क्यों नही सरकार इतिहासकारों व विशेषज्ञो की समिति बना कर इस विवाद का निपटारा कर देती?

यह तो निर्विवाद सत्य है कि इसका राम के जन्म से सम्बन्ध हो या न हो, यह हिन्दुओ का धार्मिक स्थल जरूर रहा है पर यह भी निर्विवाद सत्य है कि आदो-लनकारी इसके नाम पर अपनी राजनीतिक रोटियां सेकते रहे हैं।

इस तरह के विवादों ने देश में साम्प्रदायिक तनाव पनपाने और बढ़ाने मे मदद की है। फिर भी न जाने क्यों हमारे देश के रहनुमा विशेषकर बुद्धिजीवी, इस तरह के विवादों के स्थायी समाधान का कभी कोई प्रयास नही करते। बुद्धिजीवियों का इस तरह की समस्याओं के प्रति विशेष दायित्व होता है। वे इसके समाधान में

अहम् भूमिका निभा सकते हैं। पर इस वर्ग ने ऐसे संवेदनशील, नाजुक और गम्भीर विषय के प्रति उपेक्षात्मक रवैया अपना कर देश और समाज का बहुत बड़ा अहित किया है।

राम-जन्म-भूमि-मुक्ति आन्दोलन के प्रणेता महंत अवैद्यनाथ और दाऊदयाल खन्ना दोनों ही कुंठित राजनीतिज्ञ हैं। गोरखनाथ मन्दिर के पूर्व महन्त दिग्विजयनाथ और वर्तमान अवैद्यनाथ दोनों ही अपनी महंती का लाभ उठाते हुए चुनाव जीतते रहे हैं लेकिन पिछली बार (१९८४) अवैद्यनाथ को सफलता नही मिली और दाऊदयाल खन्ना का भी यही हाल है। अपनी नेतागिरी चमकाने के लिए इन्हें राम-जन्मभूमि-मुक्ति यज्ञ से बड़ा कोई और बहाना नही मिल सकता था। बद्रिकाश्रम के शंकराचार्य शांतानन्द सरस्वती भी इनसे आकर मिल गये। अयोध्या मे स्थानीय तौर पर तो बाबाओ का एक गुट है ही जो कांग्रेस (ई) का समर्थक है। इन सभी लोगो का जमावड़ा हिन्दुओ की भावनाओ को भड़काने मे काफी मदद कर रहा है। इन लोगो को विश्व हिन्दू परिषद का भी सरक्षण प्राप्त है।

राम जन्म-भूमि की मुक्ति के लिए आज इतने सारे लोगो को आन्दोलन चलाने की क्यो जरूरत पड रही है, यह जानने के लिए हमे लगभग चार सौ साल पीछे लौटना पड़ेगा। बाबर ने अयोध्या पर हमला क्यो किया इस बारे मे कई मत हैं। आमतौर पर माना जाता है कि बाबर ने दो नामी फकीरो, ख्वाजा अब्बास कलदर और जलाल शाह की सलाह पर हिन्दुओ का मनोबल तोडने के लिए हमला किया था। *बाबर के मन्त्री मीरबाकी के नेतृत्व मे १५२८ मे हुए इस हमले का अवध के* हिन्दू राजाओ ने कडा मुकाबला किया पर कई हजार जानें गंवाने के बावजूद वे तोपो और बारूद से सुसज्जित मुगल सेना को पीछे नही हटा सके। कहा जाता है कि मुगल सेना ने इसी हमले मे पुराने राम जन्म भूमि मन्दिर को तोड़ताड कर उसे एक मस्जिद का रूप दे दिया। यह भी कहा जाता है कि पुराने मन्दिर के कुछ स्तम्भ अभी भी इस मस्जिद में लगे हुए हैं।

बाद मे हिन्दू भावनाओं का आदर करते हुए शुक्रवार को छोड कर बाकी दिनो मे हिन्दुओ को यहा पूजा करने की छूट दे दी गई। अकबर ने और समझदारी दिखाते हुए टोडरमल की सलाह पर जन्म भूमि या बाबरी मस्जिद के बाहर एक राम चबूतरा बनवा दिया जहा हिन्दुओ को पूजापाठ की पूरी छूट दे दी गई।

फिर भी हिन्दुओ ने राम जन्मभूमि के इस अपहरण को कभी दिल से मजूर नहीं किया और इसे मुक्त कराने के लिए बार-बार कोशिश की। हुमायू के शासन-काल में तो एक बार हिन्दुओं ने मस्जिद का मुख्य दरवाजा तोड दिया था। इसी तरह हसवार स्टेट की रानी जयराज कुमारी ने हजारो महिलाओं के साथ इस स्थल

पर कब्जा कर लिया था और इसी लड़ाई में वे मारी गईं। औरंगजेब के समय में भी इस स्थान पर कब्जे के लिए खूनी संघर्ष का सिलसिला चलता रहा।

१८५७ में पहली बार हिन्दुओं और मुसलमानों में समझौता हो गया कि यह स्थान हिन्दुओं को दे दिया जाय और बगल में मस्जिद बनवा दी जाये। पर अंग्रेजों को यह बात पसन्द नहीं आई और उन्होंने दोनों पक्षों के अगुआ बाबा रामचन्द्र दास और अमीर अली को १८ मार्च १८५८ को फाँसी पर लटका दिया। तभी से यहां सरकारी घेरा पड़ गया और मन्दिर में हिन्दुओं का प्रवेश रोक दिया गया। १९३१ में फिर हिन्दुओं ने इस पर कब्जे का प्रयास किया लेकिन अंग्रेज सेनाओं के आगे उन्हें काफी नुकसान उठाना पड़ा। आजादी मिलने पर २२ दिसम्बर १९४९ की रात फैजाबाद के जिलाधीश के० के० नैयर के इशारे पर यहां के सबसे शक्तिशाली मन्दिर हनुमानगढ़ी के महंत अभयराम दास ने अपने चेलों की मदद से यहां राम की मूर्ति स्थापित करा दी। और जब मुसलमानों ने इसका विरोध किया, उन्होंने धारा १४५।१४७ के तहत मन्दिर कुर्क करके रिसीवर बिठा दिया।

नैयर को अपनी इस एक तरफा कार्रवाई के लिए बाद में इस्तीफा देना पड़ा, लेकिन इस्तीफा देकर वे सक्रिय राजनीति करने लगे और दो बार बहराइच जिले से लोकसभा के लिए चुन लिये गये। उनकी 'लोकप्रियता' का लाभ उनकी पत्नी श्रीमती सुशीला नैयर और ड्राइवर को भी मिला जो जनसंघ के टिकट पर लोकसभा और विधानसभा के लिए चुने गये।

इधर हिन्दुओं-मुसलमानों की भावनाओं को भड़का कर पैसा वसूलने वालों की इससे बन आई। जहां मुसलमान नेता इन मुकदमों के नाम पर दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास से लेकर अरब देश तक से चन्दा वसूल रहे हैं, हिन्दू नेता और महंत थाइलैण्ड से लेकर फिजी और मारीशस तक से। मन्दिर के बाहर चलने वाले पूजा-पाठ और अखण्ड रामायण से होने वाली आय के बटवारे के लिए साधुओं में हमेशा मारकाट होती रहती है।

इसीका परिणाम है कि अकेले पिछले दो वर्षों में अयोध्या कोतवाली में सिर्फ हनुमानगढ़ी के साधुओं से संबंधित डेढ़ दर्जन से अधिक मुकदमे कायम हुए। हनुमानगढ़ी के भूतपूर्व महंत पर ५० लाख रुपये के गबन का आरोप और उसके कुछ ही दिनों बाद उनकी रहस्यमय मृत्यु का मामला तो काफी दिनों तक चर्चा में रहा है। हनुमानगढ़ी के एक बसंतिया पट्टी के साधु को ३ वर्ष पूर्व गोंडा जिले के नवाबगंज थाने की पुलिस ने डकैती की योजना बनाते हुए अवैध हथियार सहित गिरफ्तार किया था। उनके खिलाफ इसके लिए मुकदमा भी चला।

भारत नेपाल सीमा पर संलग्न जिलों गोरखपुर, बस्ती, गोंडा और बहराइच से सड़क मार्ग से आनेवाले तस्करों के लिए अयोध्या धीरे-धीरे स्वर्ग बनती जा रही

है। तस्करी मे बाबाओ के सक्रिय सहयोग का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही मिलता। फिर भी इस बात से कोई इन्कार नही कर सकता कि नेपाल से सामान लाने वाले और देश के अन्य भागो मे पहुचाने वाले तस्करों के बीच सौदेबाजी होती है और माल का भंडार यहीं होता है। वह हरी झण्डी मिलने पर ही आगे बढता है। अयोध्या मे विदेशी वस्तुओं का बड़े पैमाने पर उपयोग इस बात का सबूत है कि अयोध्या तस्करो के स्वर्ग के रूप मे विकसित हो गया है। स्पष्ट है कि यह सारा काम मन्दिरो और बाबाओ की ही जानकारी और संरक्षण मे होता है। इन्ही का पुण्य-प्रताप है कि आज से लगभग २ वर्ष पूर्व स्थानीय श्रवण कुंज से बालकाण्ड की पाण्डुलिपि, जो गोस्वामी तुलसीदास की मूल हस्तलिपि मे थी, चोरी चली गई। आज तक उस मामले मे कुछ नही हुआ। रामायण मेले की तैयारी के सिलसिले मे जिलाधिकारी द्वारा बुलाई गई बैठक मे दिगम्बर अखाड़े के रामचन्द्र दास परमहंस ने आरोप लगाया कि प्रमुख अभियुक्त द्वारा न्यायालय में अपराध स्वीकार किये जाने के बावजूद पाण्डुलिपि का बरामद न हो पाना पुलिस और उच्चाधिकारियों की साजिश ही साबित करता है। उन्होने चेतावनी दी कि अगर शीघ्र पाण्डुलिपि बरामद न की गई तो वह विदेश भेज दी जायेगी।

लिया होगा राम ने जन्म कभी अयोध्या मे, होती होगी अयोध्या कभी पवित्र-पावन तीर्थ नगरी। करते होंगे कभी वास पुण्यात्मा, धर्मात्मा इस महान नगरी मे।

पर आज की अयोध्या अनाचार-व्यभिचार और पापाचार की नगरी है। शातिर ठगों, और गुण्डों का साम्राज्य है यहा।

राम जन्मभूमि का उद्धार करने वाले आयोजकों ने क्या कभी इस पक्ष पर भी सोचा? पर वे क्यों सोचें? उनके आन्दोलन का उद्देश्य तो है, हिन्दुओं की साम्प्रदायिक भावना को उभार कर उन्हें उत्तेजित कर, अपना हित साधना। पापाचार व्यभिचार, अनाचार फलता-फूलता है तो फले-फूले। धर्म की आड मे साम्प्रदायिकता के सहारे उनके स्वार्थ मे ये सब कहां आडे आते है?

राम जन्म-भूमि मुक्ति का आन्दोलन विशुद्ध रूप से एक साम्प्रदायिक आदोलन है जिसका एकमात्र उद्देश्य हिन्दू और मुसलमानों के बीच विद्वेष पैदा कर उससे राजनीतिक लाभ उठाना है।

सच तो यह है कि यही स्थिति कमोबेश सभी हिन्दू धर्मस्थलों की है। हिन्दुओं के तीर्थस्थान अब श्रद्धा-भक्ति के प्रतीक नही रहे। साधुओं, संतो, पूजारी के भेष मे जो लोग इन धर्मस्थलों की व्यवस्था का संचालन करते हैं, वे हत्या, लूटपाट, अपहरण, ठगी, बलात्कार का धंधा करते कराते हैं। यहा जाकर भक्तगण निराश होकर ही लौटते हैं। यह बात दीगर है, उनके हजारो-वर्षों के संस्कार उन्हें इन सबके बावजूद इन धर्मस्थलों की ओर खीचते है।

धर्म के ठेकेदार धर्म, समाज और देश के लिए खतरा बन गये हैं। धर्म के नाम पर अब मूल्यो की रक्षा नही, उनकी हत्या होती है।

धर्म ग्रन्थों को आदमी के दिमाग की उपज मानते हुए हमें याद रखना चाहिए कि किस युग में वे रचे गए हैं, किस फिजा और मानसिक वातावरण ने उन्हें जन्म दिया है, और समय और विचार और अनुभव का कितना अन्तर हममें और उनमें है। हमें कर्मकाण्ड और धर्म सम्बन्धी रस्मों को भुला देना चाहिए और उस सामाजिक पृष्ठ-भूमि को ध्यान में रखना चाहिये, जिसमें उनका विकास हुआ है।

—जवाहरलाल नेहरू

मुस्लिम पर्सनल ला

मुस्लिम पर्सनल ला मुसलमानों, विशेषकर मुस्लिम महिलाओं के विपरीत रहा है। मुसलमानों के पिछड़ेपन की एक वजह यह भी रही है। जब भी इस कानून में सुधार की बात उठती है, मुस्लिम नेतृत्व का एक प्रभावशाली वर्ग मुसलमानों में धार्मिक उन्माद और धर्मान्धता का सहारा लेकर एक ऐसा वातावरण पैदा करने में सफल हो जाता है, जिससे आम मुसलमानों को यह लगने लगता है कि उनके धर्म पर आघात किया जा रहा है। अपनी अलग पहचान बनाये रखने के नाम पर मुस्लिम पर्सनल ला की बदौलत मुसलमान आज के वैज्ञानिक युग में अन्य दूसरे समाज से न केवल पिछड़ रहा है बल्कि अन्य सम्प्रदायों से, विशेषकर हिन्दुओं से अलग-थलग भी पड़ रहा है।

सदियों से पीड़ित और शोषित मुस्लिम महिला के उत्पीड़न में मुस्लिम पर्सनल ला की भूमिका रही है। जब भी किसी महिला ने इसके विरोध में आवाज उठाने की कोशिश की, उसे बर्बरता व सख्ती से कुचल दिया गया।

इन्दौर की शाह बानो ने अपने पति द्वारा तलाक के विरुद्ध साहस कर न्याय पाने के लिए अदालत का दरवाजा खटखटाया उसे सुप्रीम कोर्ट तक लड़ना पड़ा उसकी कहानी इस प्रकार है—

इन्दौर की शाह बानो ने १९३२ में एक वकील मोहम्मद अहमद खान से शादी की थी। शादी के ४३ वर्ष बाद १९७६ में मोहम्मद अहमद खान ने अपनी पत्नी को घर से निकाल दिया। शाह बानो ने तीन वर्षों तक समझौते का इंतजार किया। जब इस दिशा में सकारात्मक कुछ नहीं हुआ तो उसने निर्वाह खर्च के लिए आवेदन किया। इसी बीच शाह बानो को उसके पति ने तलाक

दे दिया। कोर्ट ने २५ रुपये प्रति माह निर्वाह खर्च के रूप में देने का आदेश दिया।

शाह बानो ने उचित ही महसूस किया कि उसको मिलने वाला निर्वाह खर्च बहुत कम है। उसने मध्य प्रदेश हाईकोर्ट मे अपील की कि उसके पति की मासिक आय ५ हजार रुपये प्रतिमाह है अतः उसे निर्वाह-खर्च के रूप में ५०० रुपये प्रतिमाह मिलने चाहिए। हाईकोर्ट ने निर्वाह-खर्च की राशि २५ रु० से बढा कर १७९.२० रुपये कर दी।

अब शाह बानो के पति ने सुप्रीम कोर्ट मे एक अपील दायर की कि मुस्लिम पर्सनल ला के अनुसार एक तलाकशुदा मुस्लिम पत्नी केवल 'इद्दत' के दौरान ही निर्वाह-खर्च पाने की अधिकारी है (तलाक के बाद के तीन महीने और १३ दिन की अवधि को इद्दत कहते है)।

शाह बानो ने अपराध दण्ड संहिता की धारा १२५ के तहत निर्वाह-खर्च पाने का दावा किया। -

सुप्रीम कोर्ट ने अपराध संहिता की धारा १२५ के आधार पर निर्णय दिया है जिसमे तलाकशुदा पत्नी भी, पत्नी की, परिभाषा के तहत आती है। सुप्रीम कोर्ट ने शाह बानो के निर्वाह-खर्च को कायम रखा। यद्यपि सुप्रीम कोर्ट ने अपना निर्णय धर्मनिरपेक्षता कानून के आधार पर दिया है तथापि उसने स्पष्ट कर दिया है कि उसका निर्णय तलाकशुदा महिलाओं के सन्दर्भ मे कुरान के प्रावधानों के विरुद्ध नहीं है। इसके सत्यापन के लिए कोर्ट ने कुरान के अनेक उदाहरण दिये। उसने जोर दिया कि कुरान पूर्व पति को अपनी तलाकशुदा पत्नी की देखभाल का आदेश देता है, जब उसे वह अपने घर से निकालता है।

अपना निर्णय सुनाते हुए सुप्रीम कोर्ट की ५ जजों की बेंच ने संविधान के अनुच्छेद ४४ को लागू करने का सरकार से आग्रह भी किया, जो सरकार को निर्देश देता है कि वह समस्त नागरिकों के लिए समान सिविल कोड बनाने का प्रयास करे।

सुप्रीम कोर्ट के निर्णय से मुस्लिम धार्मिक नेता और कुछ मुस्लिम राजनीतिज्ञ भी कुपित हुए।

इस फैसले के प्रतिवाद में देश भर में मुसलमानो ने रमजान के आखिरी शुक्रवार को शरीयत-दिवस के रूप में मनाया। मस्जिदों मे नमाज के बाद वक्ताओं ने अपने उत्तेजनात्मक भाषणों में सुप्रीम कोर्ट के उक्त फैसले को धर्म में अनुचित दखलंदाजी बताया। उन्होने मुसलमानों का आह्वान किया कि वे उनके विरुद्ध किये जा रहे 'सुनियोजित षडयंत्र' का खून की आखिरी बूंद तक

डट कर विरोध करें। कई प्रदेशों एवं शहरों में मुसलमानों ने हड़ताल कर-विरोध प्रदर्शन किया।

एक घटना केरल के त्रिवेन्द्रम के पास बीमापल्ली में घटी। वहां एक विवाहित महिला जुलेखा को चरित्रहीनता के आरोप में एक मुस्लिम संस्था जमात ने १०१ कोड़े लगाने, सर मुडवाने तथा समाज से उसका बहिष्कार करने की सजा दी। माइक पर इस सजा की घोषणा करते हुए मुसलमानों से यह अपील की कि वे उस महिला के परिवार से कोई सम्बन्ध न रखें। महिला ने जमात के अधिकारियों के विरुद्ध कानूनी नोटिस जारी की और इस तरह के अनुचित फैसले के विरुद्ध डट कर मोर्चा लिया। उसे मुसलमानों के एक वर्ग का समर्थन भी मिला। इस पर घबरा कर जमात के अधिकारियों ने उक्त फैसले को वापस ले लिया। बाद में पता चला कि शरीयत की आड़ में आये दिन मुस्लिम महिलाओं को मस्जिद में बुला कर सजा दी जाती थी, उन पर जुर्माना लादा जाता था, उन्हें कोडों से पीटा जाता था। हो सकता है इस तरह की सजा अभी भी दी जाती हो।

मुस्लिम पर्सनल ला मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों का एक ब्रह्मास्त्र रहा है और वे बेहिचक इसका दुरुपयोग करते रहे हैं।

इन्ही से प्रेरणा लेकर सिख समाज के साम्प्रदायिक तत्वों ने भी सिखों के लिये अलग पर्सनल ला की मांग शुरू कर दी है।

इस बात को जानते हुए भी कि हर सम्प्रदाय के अलग-अलग कानून देश की एकता के हित में नहीं हैं, हम ऐसे अलगाववादी कानून को बर्दाश्त करते रहे हैं लेकिन आज विघटन के ऐसे कगार पर पूरा देश खड़ा है, जहां ऐसे कानूनों को और अधिक बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए।

इस प्रश्न पर मार्क्सवादी पार्टी ने केरल में मुस्लिम लीग से राजनीतिक गठबंधन तोड़ कर अपनी पिछली भूलों का प्रायश्चित करने की चेष्टा की, पर शरीयत पर संसद में हुई बहस में कांग्रेस के मुस्लिम सांसदों ने शरीयत का समर्थन करते हुए सुप्रीम कोर्ट के फैसले की आलोचना की तथा कांग्रेस की केरल शाखा ने मार्क्सवादी मोर्चे से निकली मुस्लिम लीग को अपने मोर्चे में शामिल कर साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ समझौता किया। वोट की यही अवसरवादी राजनीति साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देती रही है। राजीव गांधी के नेतृत्व में भी लगता है कांग्रेस ने पिछली भूलों से कोई सबक नहीं सीखा।

मुस्लिम पर्सनल ला अंग्रेज शासकों द्वारा तैयार किये गये एंग्लो मुस्लिम कानून पर आधारित है। ब्रिटिश शासन काल के दौरान समय-समय पर इसमें कई बार संशोधन हुए। १९३७ में शरीयत एक्ट और इसके बाद जमींदारी

उन्मूलन एक्ट ने मुस्लिम पर्सनल ला पर सीधा हस्तक्षेप किया। पर चूंकि उस वक्त मुसलमानों का साम्प्रदायिक नेतृत्व ब्रिटिश शासकों के ज्यादा करीब था इसलिए उन्होंने ब्रिटिश हस्तक्षेप का कभी कोई विरोध नहीं किया।

इस्लाम मे धर्म और कानून का उद्गम एक ही है—कुरान और हदीस। यह कहना उचित नही है कि इस्लामी कानून हमेशा से एक जैसा रहा है। यह इतिहास विरुद्ध बात लगती है। इसमें भारत मे ही पिछले सौ वर्षो मे अनेक परिवर्तन हुए। मुस्लिम क्रिमिनल ला की जगह सन १८६० में इण्डियन पेनल कोड लागू किया गया। सन् १८४३ मे गुलामो की प्रथा को समाप्त किया गया और इसके परिणामस्वरूप शरीयत की यह व्यवस्था इसलिए बदली गई कि चूंकि जो शादी गैर कानूनी होती है, उसके जो बच्चे पैदा होते है उन्हे कोई उत्तराधिकार नहीं प्राप्त होता। इसलिए अगर कोई गुलाम स्त्री के साथ गैर-कानूनी संबंध करता है तो उसके बच्चों को कोई उत्तराधिकार प्राप्त नहीं होगा। इसी प्रकार सन् १९३९ के विवाह विच्छेद अधिनियम के तहत मुसलमान स्त्रियो को कुछ परि-स्थितियों मे विवाह विच्छेद करने का अधिकार मिल गया जो उन्हें शरीयत के तहत नही मिला था।

स्वतंत्रता के बाद इस समाज के नेताओं ने किसी भी प्रकार के सामाजिक सुधार का धर्म की आड लेकर विरोध किया और उन सुधारो को रोकने मे काफी हद तक सफल रहे। जो लोग सुधार चाहते रहे हैं, उनमें से केवल अपवाद ने खुल कर सुधारो का समर्थन किया पर उस आवाज को हमेशा ही दबा दिया गया।

सुप्रीम कोर्ट द्वारा शाह बानों की अपील पर दिये गये फैसले के बाद पहली बार मुस्लिम सम्प्रदाय मे हल्की सी सुगबुगाहट शुरू हुई। कुछ महिलाओ ने भी हिम्मत कर खुल कर सुप्रीम कोर्ट के फैसले का स्वागत करते हुए मुस्लिम पर्सनल ला में सुधार की माग की। इसे शुभ लक्षण कहा जा सकता है। अगर सुधारवादी तत्व अपने सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक व कट्टर धार्मिक तत्वों पर हावी होने मे सफल हो पाते हैं तो इसमें न केवल मुस्लिम सम्प्रदाय, विशेषकर महिलाओं का हित है, बल्कि ऐसा करके मुस्लिम समाज स्वयं को राष्ट्र की मुख्य धारा से जोड पाने मे सक्षम होगा।

आज के मौलवी इतने सकीर्ण है कि उन्होंने फिल्म निकाह का शीर्षक, तलाक, तलाक, तलाक से बदलवा कर, निकाह करवा दिया और यह फतवा दिया कि यदि पति सिनेमा देख कर आया और पत्नी ने फिल्म का नाम पूछा और पति ने बताया तलाक, तलाक, तलाक, तो तलाक हो जाएगा।

इस्लामी कानून के विद्वानो ने प्रत्येक राज्य मे अपना मठ बना रखा है।

प्रत्येक मठ की वार्षिक आय तीन लाख से पचास लाख और कहीं-कहीं करोड़ों रुपये भी है। यह सारी राशि मुस्लिम अवाम से चंदे के तौर पर वसूल की जाती है। चूंकि अब जनता में शिक्षा का प्रसार बढ़ा है और जनता ऐसे मुस्लिम रहनुमाओं की असलियत से वाकिफ होती जा रही है, इसी कारण अब ये मुस्लिम नेता उनकी धार्मिक भावनाओं को उभार कर अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को बरकरार रखने के लिए राजनीति करते हैं।

दरअसल शरीयत की अलग-अलग ढंग से व्याख्या के कारण देश की मुस्लिम महिलाओं के लिए समस्या पैदा हो गई है।

शफी विचारधारा के अनुसार मां पुत्री की शादी होने तक ही उसकी अभिभावक रह सकती है जबकि हनफी विचारधारा के अनुसार पुत्री के युवा होते ही मां का उस पर अधिकार समाप्त हो जाता है।

मलिकी विचारधारा के अनुसार मां पुत्र के युवा होने तक ही उसकी अभिभावक रह सकती है जबकि हनफी विचारधारा के अनुसार पुत्र के सात वर्ष का होने पर मां का उस पर अधिकार समाप्त हो जाता है।

मुस्लिम पुरुषों ने इस्लामी कानून में हुए उन परिवर्तनों को तो स्वीकार कर लिया है जो उनके पक्ष में हैं लेकिन अपने खिलाफ किसी भी परिवर्तन का वे धर्म के नाम पर विरोध करने लगते हैं।

शरीयत में किसी भी प्रकार के बदलाव का विरोध करने वालों का कहना है कि शरीयत का सीधा सम्बन्ध कुरान शरीफ से है और कुरान का हर शब्द खुदा का वचन है, इसलिए उसमें रत्तीभर भी परिवर्तन नहीं हो सकता। इन भले लोगों से कोई पूछे कि कुरान में तो शराब पीना, चोरी करना, ब्याज लेना, बलात्कार करना आदि वर्जित है और इनके अपराधियों के लिए पत्थर मार कर उनके प्राण ले लेना, हाथ काट देना, सार्वजनिक स्थानों पर कोड़े लगाना जैसी सजाओं का प्रावधान है। कितने मुसलमान हैं जो इनमें से कोई न कोई अपराध में लिप्त न हों? लेकिन चूंकि ये अपराध पुरुषों से संबंधित हैं इसलिए इन्हें अनदेखा कर दिया जाता है। दूसरे, बदले हुए परिवेश में कई चीजों में भारी परिवर्तन आया है जिसे लोगों ने स्वीकार कर जीवन में ढाला भी है। जैसे ब्याज लेना व अन्य कई बातें। खुदा की वाणी के प्रति आस्था रखने वाले मुसलमान उन्हें क्यों कुछ नहीं बोलते?

अब तक मैंने अन्य सद्भावना वाले स्त्री-पुरुषों की तरह जो कुछ भी लिखा, लगता है वह केवल भावुकता का प्रवाह था। मैं नहीं सोचता कि राष्ट्रीय एकता धर्मोपदेशों, सेमिनारों तथा भावुक बातों द्वारा हासिल की जा सकती है। स्पष्ट एकता के बावजूद हमें पीढ़ी दर पीढ़ी विभाजित किया गया। विभाजन के बाद हमने रक्त-स्नान किया और एक दूसरे की हत्या के बाद भी हमने सबक नहीं सीखा।

—मुल्कराज आनन्द

साम्प्रदायिक दंगे

साम्प्रदायिक दंगों का इतिहास बहुत पुराना नहीं। साम्प्रदायिकता का सम्बन्ध भारत में इस्लाम के आगमन से कभी नहीं रहा। हम पहले लिख चुके हैं कि भारत में मुसलमान और इस्लाम को आये करीब १३०० वर्ष हो चुके हैं। तभी से हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन कर मुसलमान बनाना शुरू हुआ। सर्व-प्रथम मुसलमानों का आगमन व्यापारी के रूप में हुआ था तथा धर्म परिवर्तन भी उनके द्वारा ही शुरू हुआ था। पर इसके बावजूद हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों में कभी तनाव व कड़वाहट न आई थी।

मुस्लिम शासनकाल में हिन्दुओं को मुसलमान बनाना जारी रहा। पर इसमें अकबर, शेरशाह जैसे कुछेक राजा अपवाद थे। अकबर ने धर्म परिवर्तन की प्रक्रिया को कभी प्रोत्साहित नहीं किया। हालांकि मुस्लिम शासन काल में जबरन धर्म परिवर्तन तो होता था, हिन्दुओं पर मुस्लिम शासकों द्वारा अत्याचार भी होते थे तथा मुसलमानों को, विशेषकर बाहर से आये मुसलमानों को, शासन में तरजीह दी जाती थी, पर आम तौर पर हिन्दू और मुसलमानों के आपसी सम्बन्ध खराब नहीं हुए। दोनों सम्प्रदाय के लोग अच्छे पड़ोसी की तरह मिल-जुलकर रहते थे।

इतिहास में इस बात के उल्लेख भरे हैं कि मुस्लिम शासकों की फौज में हिन्दू होते थे और हिन्दू शासकों की फौज में मुसलमान होते थे, जो लड़ाई में एक दूसरे के विरुद्ध लड़ते थे।

और तो और राणा प्रताप की फौज में १४००० पठान सैनिक थे और उनका मुख्य तोपची सूरखान तेजखान पठान था। छत्रपति शिवाजी की नौसेना

विभाग का सेनापति विल्लार खां था। शिवाजी की फौज में मुसलमान अच्छी खासी संख्या मे थे।

इतिहास मे हिन्दू-मुसलमानो के बीच साम्प्रदायिक दंगों का उल्लेख अठारहवीं सदी से मिलता है।

अली मुहम्मद के लेखों से पता चलता है किस तरह् अठारहवी सदी में अहमदाबाद के कोलूपुर इलाके के हवलदार द्वारा जबरदस्ती बहा के बोहरा से गाय छीनी गई जिसके कारण गंभीर दगा शुरू हुआ। इसके कारण बहुत खून खराबा हुआ और हालत तभी सुधरी जब गुजरात के गवर्नर अजित सिंह ने हस्तक्षेप किया और काजी को ईद में गाय काटने की अनुमति दी।

उस वक्त कोई भी छोटी सी घटना खूनी साम्प्रदायिक दंगे का कारण बन सकती थी। साम्प्रदायिक दगे का सबसे अंधा जुनून गुजरात में शुरू हुआ जब एक हिन्दू ने होली के दिनों में मुसलमान यात्री पर रंग फेंक दिया। उस मुस्लिम ने तुरन्त अपने सहधर्मियों को बदला लेने के लिए ललकारा। सारे मुस्लिम सिपाही, व्यापारी, शहर के और आस पास के निवासी दीन-दीन चिल्लाते झुंडों मे इकट्ठे हो गये। सारी भीड हिन्दुओं को लूटने और मारने पर उतारू थी। रंग फेंकने वाली घटना एक नकाब मात्र थी। वास्तव में इस घटना का सम्बन्ध नगर सेठ कपूरचन्द भंसाली और मुल्ला अब्दुल अजीज दो बड़े व्यापारियो के बीच बढ़ती स्पर्धा से थी। अली मुहम्मद के अनुसार बेरोजगार सिपाही इस तरह की घटनाओ को आय का साधन मानते थे।

जबरन धर्म परिवर्तन मुस्लिम शासकों द्वारा आठवी सदी से शुरू हुआ। भारत के सिन्ध प्रदेश पर ८वीं सदी में पहली बार मोहम्मद बिन कासिम मे हमला किया। और सिन्ध के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया। यही से हिन्दुओं को जबरन मुसलमान बनाने की प्रक्रिया शुरू हुई। पर इसके बावजूद हिन्दू व मुसलमानों में साम्प्रदायिक सद्‌भाव बना रहा।

ब्रिटिश शासनकाल में अचानक हिन्दू-मुस्लिम दंगो मे बढ़ोत्तरी हुई। इसके दो मुख्य कारण थे। एक तो यह कि सैकड़ों वर्षों बाद हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी शासक वर्ग से शासित वर्ग में बदल गये थे। दूसरा कारण यह हुआ कि ब्रिटिश शासकों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति अपनाई थी।

ब्रिटिश शासनकाल में पहला साम्प्रदायिक दंगा अक्टूबर १८०९ मे बनारस मे हुआ जिसमे हिन्दुओं ने औरंगजेब की बनाई पचास के करीब मस्जिदें हमला कर बरबाद कर दी। इसके बाद १८५७ मे दंगों का उल्लेख मिलता है। उस वक्त गुजरात में मुसलमानों और पारसियो में साम्प्रदायिक दंगा हुआ।

' इसके बाद १८७१ मे बरेली मे, १८७७ में करनाल में, १८९३ में लाहौर, १८८६ में दिल्ली, १८८९ मे डेरागाजी खां, १८८१ मे सलेम, १८९३ में आजमगढ़ और विहार तथा १८९७ में कलकत्ता में साम्प्रदायिक दंगे हुए ।

पर जहां तक हिन्दू व मुसलमानों के आपसी सम्बन्धों का प्रश्न था, वे कमोवेश सद्भावनापूर्ण बने रहे। हिन्दू और मुसलमानो को अलग करने की अंग्रेजों की साजिश सफलीभूत नही हो पा रही थी।

संगठित रूप से मुस्लिम साम्प्रदायिकता का सूत्रपात १९वीं सदी के अन्तिम चरण में हुआ। १८९७-९८ में सर सैयद अहमद ने साम्प्रदायिक आधार पर अलीगढ में मुस्लिम शिक्षण संस्थान की नींव डाली। प्रारम्भिक काल में सर सैयद अहमद और उनके साथियों का असर सीमित क्षेत्र में, कुलीन मुस्लिमों तक सीमित रहा। इसलिए हिन्दुओं से अलगाव की भावना भी एक विशेष वर्ग तक ही सीमित रही। पर अंग्रेजों की मंशा तो हिन्दू और मुसलमानों को पूरी तरह अलग करने की थी। और इसके लिए उन्हें अधिक इन्तजार नही करना पड़ा। १९०५ में बंगभंग आन्दोलन के दौरान उन्हें अपना इच्छित अवसर मिल ही गया। अंग्रेजो की खुली मदद से बंगाल में जिस व्यापक स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम दंगों का जो सिलसिला शुरू हुआ वह आज तक जारी है।

१९०५ मे बंग-भंग को लेकर व्यापक स्तर पर आन्दोलन हुआ। १८५७ के बाद पहली बार इतने वृहद् रूप में बंगाल मे ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जन आक्रोश उभर कर आया था। स्वदेशी आन्दोलन की शुरुआत यहीं से हुई। आन्दोलन की तीव्रता से ब्रिटिश सरकार बौखला उठी। आन्दोलन के प्रथम चरण में हिन्दू और मुसलमान दोनों समान रूप से शामिल थे। अंग्रेजों ने आन्दोलन को कमजोर करने के लिए मुसलमानों को यह समझाया कि यह आन्दोलन हिन्दुओं के हित में तथा मुसलमानों के हितों के विपरीत है।

अंग्रेजो ने ढाका के तत्कालीन नवाब को अपने प्रभाव मे लेकर उनकी मदद मे १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना करवाई। इस प्रकार विधिवत एवं औपचारिक रूप से साम्प्रदायिक राजनीति की शुरुआत हुई।

· शुरू में ढाका के नवाब हिन्दू जमीदारों का साथ देने को तैयार थे। फरीदपुर के मुस्लिम जमीदार ने अपने सहधर्मियो को चेतावनी दे दी थी कि वे इस मुलावे में न रहें कि एक मुस्लिम राज्य की स्थापना से मुसलमानो का उद्धार होगा। एक और मुस्लिम जमीदार ने बरिसाल के अश्विनी कुमार दत्त को आन्दोलन में पूरा सहयोग दिया। श्री ए० रसूल कट्टर राष्ट्रवादी थे और १९०६ मे बरिसाल अधिवेशन की अध्यक्षता उन्होने ही की। मैमनसिंह के

अब्दुल हलीम गजनवी, बर्दवान के अब्दुल कासिम, लियाकत हुसैन और कई मुख्य मुस्लिम नेताओं ने स्वदेशी आन्दोलन का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। प्रारम्भ में ही मुसलमानों ने स्वदेशी आन्दोलन की सभाओं में भारी संख्या में भाग लिया। वे शिवाजी जयन्ती में भी शामिल हुए और शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित करने वाली सभाओं में भी।

मुस्लिम इलाकों में भी खास कर के बरिसाल में मुस्लिम जनता ने स्वदेशी आन्दोलन में भाग लिया। बन्दे मातरम् जुलूस में बन्दे मातरम् झण्डे थामे हिन्दू नेताओं द्वारा आमन्त्रित जन सभाओं में मुसलमान शामिल थे तथा नेताओं के भाषण सुनते थे। इन सभाओं और जुलूसों की विशिष्टता यह थी कि हिन्दू और मुस्लिम दोनों एक स्वर में समान उत्साह के साथ अल्लाह हो अकबर व बन्दे मातरम् के नारे लगाते थे।

किन्तु यह तो चित्र का एक पहलू ही है। ब्रिटिश शासकों की शह पर मुसलमानों के एक वर्ग ने बंगभंग का प्रारम्भ से ही समर्थन किया। स्वाभाविक है कि सरकार इन मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने को बहुत उत्सुक थी ताकि इन्हें हिन्दुओं के खिलाफ प्रयोग कर सके। सन् १९०४ में लार्ड कर्जन ने अपने पूर्वी बंगाल के दौरे के अन्तर्गत इस नीति की शुरुआत की थी और ढाका के नवाब सलीम उल्लाह को विभाजन का समर्थन करने की घोषणा करने को उत्साहित किया, हालांकि ढाका के नवाब परिवार के कुछ सदस्यों ने विभाजन का विरोध किया और स्वदेशी आन्दोलन में शामिल हुए। पूर्वी बंगाल और आसाम में नवाब सलीम उल्लाह उन मुसलमानों के सिरमौर नेता बन गये जो 'बायकाट' और विभाजन विरोधी आन्दोलन के खिलाफ थे और नये राज्य में सरकार को स्वदेशी आन्दोलन का दमन करने में पूरी मदद दी। उनकी इस सेवा के लिए ब्रिटिश सरकार ने नवाब को न्यूनतम ब्याज पर १४ लाख रुपयों का कर्ज दिया।

ब्रिटिश सरकार ने अपनी कपटपूर्ण नीतियों द्वारा मुसलमानों को स्वदेशी आन्दोलन से दूर किया। मुसलमानों द्वारा जवाब में विभाजन के पक्ष में कई प्रदर्शन कराये गए। २० सितम्बर १९०६ में एक सरकारी रिपोर्ट ने आशंका व्यक्त की कि मुसलमान, जिन्हें बहुत ही उत्तेजित किया गया है, कुछ गड़बड़ कर सकते हैं। ब्रिटिश सरकार की यह इच्छा जल्दी ही पूरी हो गई। उत्तरोत्तर सरकारी संरक्षण में मुस्लिम विरोध बहुत बढ़ता गया और इसने एक निश्चित रूप धारण कर लिया। दिसम्बर १९०५ में स्वदेशी आन्दोलन-कर्त्ताओं द्वारा मुसलमानों पर जो कथित अत्याचार हुआ उसकी जांच पड़ताल के लिए एक संगठन का निर्माण हुआ। किन्तु मुस्लिम विचारधारा में परिवर्तन की जिम्मेवार सिर्फ अंग्रेज सरकार ही न थी। सर सैयद अहमद द्वारा हिन्दू

विरोधी नीति का श्रीगणेश अलीगढ में किया जा चुका था जिसका उल्लेख पहले भी किया जा चुका है। १९०६ की दिसम्बर मे ढाका मे मुस्लिम लीग की स्थापना, मुस्लिम सम्प्रदाय का हिन्दुओ के विरोध के लिए पहला संगठित कदम था।

इस प्रकार मुसलमानो का रुख हिन्दुओ और उनके द्वारा चलाये जा रहे स्वदेशी आन्दोलन के विरुद्ध हो गया। ढाका के नवाव के नेतृत्व मे अंग्रेजो द्वारा आरम्भ किया गया षडयंत्र सफलीभूत हुआ, जो पूर्वी बगाल मे साम्प्रदायिक दंगो के रूप मे उजागर हुआ। कई जगह साम्प्रदायिक दंगे हुए, जिसमें सबसे गभीर दंगे कोमिल्ला और जमालपुर मे हुए। मुस्लिम लीग का प्रचार किस सीमा तक जा चुका था इसका जीवन्त उदाहरण उनके बदनाम 'लाल इश्तहार' पर्चे से मिलता है। इसमें हिन्दुओं का विरोध करने की घोषणा थी और मुसलमानों को उनके खिलाफ भडकाया गया था।

कोमिल्ला मे दगे ४ मार्च १९०७ से शुरू हुए और चार दिन तक जारी रहे। दगे और नवाव सलीमउल्लाह की कोमिल्ला यात्रा में गहरा सम्बन्ध था। उसने स्वदेशी विरोधी आन्दोलन की साम्प्रदायिक आग में और घी डाल दिया। जब नवाब को सडक पर जुलूस के साथ ले जाया जा रहा था तो एक हिन्दू पर घातक आक्रमण हुआ। कई हिन्दुओं को लूटा गया, खास कर के उन हिन्दुओ की दुकानो को जो आन्दोलन के समर्थक थे। इन घटनाओ ने लूटमार और गुण्डागर्दी को प्रोत्साहन और बढावा दिया।

इस अवसर पर बगाल मे हुए गंभीर दगो में, खास कर मैमनसिंह और कोमिल्ला जिले के खतरनाक खूनी दगो मे मुसलमानो ने हिन्दुओ पर बहुत ही अत्याचार किए। किन्तु फिर साम्प्रदायिक दंगे बंगाल तक ही सीमित न रहे।

१९१० मे साम्प्रदायिक दंगे की आग पेशावर में लगी। दो साल बाद बकरीद के त्यौहार पर अयोध्या और फैजाबाद मे दोनो सम्प्रदाय के बीच मुठभेड हुई। अगले साल ऐसी ही स्थिति आगरा मे मुहर्रम के मौके पर हुई।

सर जान हैवट, यू० पी० के गवर्नर लिखते है कि दोनो सम्प्रदाय के बीच इतनी गहरी खाई उनके समय मे यू० पी० (उत्तर प्रदेश) में कभी न थी।

किन्तु शाहाबाद (बिहार) मे बकरीद के समय के दगे अग्रेजी राज के दौरान शायद सबसे अधिक खूनी थे। ३० सितम्बर को २५००० हिन्दुओ ने इब्राहिमपुर और आस पास के गावो पर हमला बोल दिया। पुलिस का दंगाइयो से मैदान मे जम कर मुकाबला हुआ। बहुत कठिनाई से पुलिस स्थिति पर नियंत्रण पा सकी। किन्तु २ अक्टूबर को दंगा फिर से उफना और पूरे जिले मे ७ दिन तक छाया रहा। व्यवस्था और अनुशासन का नामोनिशान न रहा। मुस्लिम

घर उजाड़े गए, और उनकी सम्पत्ति लूटी गई। इन सबका संचालन छोटे हिन्दू जमींदारों ने हाथी और घोड़े की पीठ पर बैठ कर किया। ९ अक्टूबर को दंगे की आग आस-पास के इलाकों और गया जिले में भी फैल गई। करीब ३० गांव लूटे गये। लगभग १००० लोग भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत गिरफ्तार हुए।

सन् १९१८ में साम्प्रदायिक दंगे हरिद्वार से छः मील दूर कटारपुर में शुरू हुए। यहां भी हिन्दुओं ने मुसलमानों को लूटा, घरों में आग लगाई। इन दंगों में ३० मुसलमान मारे गये, ६० घायल हुए जिनमें स्त्रियां भी शामिल थीं।

दंगों का यह क्रम रुक-रुक कर जारी रहा और १९४६ में मुस्लिम लीग के तत्कालीन अध्यक्ष मोहम्मद अली जिन्ना ने पाकिस्तान की मांग के समर्थन में सीधी कारंवाई (direct action) के लिए मुसलमानों का आह्वान किया। सीधी कारंवाई के नाम पर साम्प्रदायिक जुनून के वशीभूत लीग समर्थक मुसलमानों ने हिन्दुओं के विरुद्ध व्यापक पैमाने पर हिंसा की। हिन्दुओं ने जवाबी कारंवाई की और बंगाल से पंजाब तक सारा उत्तर भारत साम्प्रदायिकता की आग में धू-धू जलने लगा। इन दंगों की दु:खद परिणति भारत-विभाजन में हुई। इन दंगों में लाखों लोग मारे गये। करोड़ों लोग बेघरबार हुए। अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हो गई।

आशा यह की गई थी कि विभाजन के बाद कम-से-कम स्वतंत्र भारत में सभी सम्प्रदाय के लोग सुख-शांति एवं सद्भाव से रह सकेंगे। लेकिन यह आशा, निराशा में बदल गई।

स्वतंत्र भारत के प्रथम १४ वर्ष साम्प्रदायिक सद्भाव में गुजरे। पहला उल्लेखनीय हिन्दू मुस्लिम दंगा १९६१ में जबलपुर में हुआ, पर उसके बाद तो ऐसा कोई वर्ष या महीना ऐसा नहीं गया जब देश के किसी-न-किसी भाग में दंगे न हुए हों। सातवें और आठवें दशक में तो दंगों की जैसे बाढ़ सी आ गई।

जबलपुर में एक बड़े मुस्लिम बीड़ी व्यापारी के पुत्र का हिन्दू लड़की से प्रेम हो गया। लड़का, लड़की को लेकर भाग गया और इसी प्रश्न पर जबलपुर के हिन्दुओं द्वारा दंगों की शुरुआत की गई। जबलपुर के बीड़ी व्यवसाय पर मुसलमानों का लगभग आधिपत्य था। यह बात हिन्दू बीड़ी व्यवसायियों को बर्दाश्त नहीं थी। उन्होंने इस स्थिति का भरपूर लाभ उठाया। हिन्दुओं को, उक्त घटना को लेकर उत्तेजित किया गया।

१९५७ तक केरल साम्प्रदायिकता से मुक्त था। हालांकि कुछ लोग ब्रिटिश शासन काल में हुए मोपला विद्रोह को साम्प्रदायिक बताते हैं, पर कुछ इतिहासकारों की राय में वह साम्प्रदायिक नहीं वरन् आर्थिक शोषण व ब्रिटिश शासन के विरुद्ध था।

१९५७ मे केरल मे कम्युनिष्ट, इतिहास मे पहली बार निर्वाचन के जरिये-सत्ता मे आये। उस वक्त केरल कम्युनिष्टों का गढ़ माना जाता था। केरल-वासी विशुद्ध राजनीतिक मुद्दों पर ही अपना फैसला दिया करते थे। धर्म, जाति और सम्प्रदाय का राजनीति मे कोई स्थान नही था। परन्तु केरल मे बनी कम्यु-निष्ट सरकार को गिराने के लिए कांग्रेस ने जो हथकण्डे अपनाये, उससे पहली बार केरल की राजनीति में धार्मिकता और साम्प्रदायिकता का प्रादुर्भाव हुआ। आज स्थिति यह है कि केरल में कम्युनिष्ट पार्टी सहित सभी दल साम्प्रदायिकता की बैसाखी के सहारे अपनी राजनीति चलाते हैं। कभी हिन्दू-मुस्लिम दंगो से अछूते इस प्रदेश में आज आये दिन हिन्दू-मुस्लिम दगे होते रहते हैं।

पिछले दो दशकों मे हिन्दू-मुस्लिम दंगों मे बेशुमार बढ़ोत्तरी हुई है। अक्सर निहायत मामूली-सी घटना को लेकर दंगे भड़क उठते हैं और क्षण भर मे आदमी वहशी हो जाता है।

किसी भी सम्प्रदाय के तीज त्योहार एक खुशी का मौका होते हैं। लेकिन हिन्दू और मुसलमानों के त्योहार के दौरान एक दहशत-सी बनी रहती है। न जाने कब किस बात पर दगे भड़क उठें, इस आशका को दृष्टिगत रखते हुए इन अवसरो पर प्रशासन की ओर से विशेष एहतियात बरता जाता है। स्थिति से निपटने के लिए भारी पुलिस का प्रबन्ध होता है।

अक्सर यह देखा गया है कि दगे तीज-त्योहार के मौके पर ही होते हैं। कभी ताजिये के जुलूस को लेकर तो कभी हनुमान, गणेश या दुर्गा की सवारी को लेकर। कभी ईद के मौके पर, तो कभी होली के अवसर पर। मजे की बात तो यह है कि ईसाइयो के त्यौहार पर तो सभी मिल-जुल कर खुशी मनाते हैं। बल्कि कलकत्ता, दिल्ली और बम्बई मे क्रिसमस के मौके पर ईसाइयों की अपेक्षा हिन्दू और मुसलमान ज्यादा खुशी मनाते हुए देखे जाते है। पर हिन्दू और मुसलमानो के त्यौहार के मौके पर खुशी के स्थान पर तनाव रहता है।

यह स्थिति हमेशा से नही है। एक ऐसा भी वक्त था जब हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के त्यौहार मे बाखुशी शरीक होते थे।

मुझे अच्छी तरह याद है कि बचपन मे मेरे गाँव में हमारा पड़ोसी मुसलमान ईद की मिठाइया देने आता था। और हमारे घर से दीवाली और होली मे उसके घर *मिठाइयाँ जाती थी। लेकिन आज यह बात नही। कितनी दूरी बढ़ गई है।* एक ही धरती पर जन्मे, एक ही मिट्टी मे पले, एक साथ मरने और जीने वाले, एक ही देश के लोगों के बीच, यह कैसी दूरी पैदा हो गई है।

हिन्दू मुस्लिम दगों के पीछे मुख्य कारण धार्मिक उन्माद होता है। कोई भी सही सूझ-बूझ रखने वाला व्यक्ति अगर इन कारणों की तह मे जाय तो उसे

यह सब बहुत ही हास्यास्पद लगेगा। इससे यहीं साबित होता है कि देश मे सही नेतृत्व का अभाव है। धार्मिक नेतागण अपनी रोजी-रोटी और प्रभाव बनाये रखने के लिए तथा राजनीतिक नेता वोट के लिए धार्मिक उन्माद की आग को बढ़ावा देते रहते हैं ताकि उनका स्वार्थ सधता रहे।

अगर जरा भी सूझ-बूझ से काम लिया जाय तथा दृष्टिकोण में ईमानदारी बरती जाय तो अधिकांश अवसरो पर दगो को होने से रोका जा सकता है।

१९८१ में जमशेदपुर में हनुमान की सवारी को लेकर दंगे भड़क उठे और भीषण रक्तपात हुआ। मुसलमान नही चाहते थे कि उनके एक मुहल्ले विशेष से हनुमान जी की सवारी निकले। दूसरी तरफ हिन्दुओ ने इसे अपने धार्मिक अधिकारों के प्रति चुनौती मानते हुए उसी मुहल्ले विशेष से सवारी निकालने की जिद् की। भला कोई यह पूछे कि अगर मुस्लिम मुहल्ले से सवारी निकल जाती तो इस्लाम का क्या बिगड़ जाता? और अगर उस मुहल्ले से सवारी न निकलती तो हिन्दू धर्म का क्या नुकसान होता?

इस प्रश्न को लेकर जमशेदपुर में कई दिनों तक तनाव बना रहा और अंत मे पुलिस के कड़े पहरे मे मुसलमानों के मुहल्ले से हनुमानजी की सवारी निकली। ज्योंही सवारी एक मस्जिद के सामने पहुंची, मस्जिद से पत्थर बरस उठे और दंगा भड़क उठा। कई दिनो तक चले इस दंगे में सैकड़ों निर्दोष लोग मारे गये, हजारों बेघरबार हुए और भारी सम्पत्ति का नुकसान हुआ।

१९८२ मे मेरठ मे दगे की वजह एक जमीन थी। मुसलमानों का कहना था, उस जगह कभी मजार थी। हिन्दुओ के अनुसार वहा कभी मन्दिर था। इसी को लेकर तनाव हुआ और व्यापक पैमाने पर हिंसात्मक घटनाएं हुईं। दर्जनों निर्दोष मारे गये। वहाँ यह कहने वाला कोई नही था कि देश मे हजारों ऐसे मन्दिर पड़े हैं, जो देखभाल के अभाव मे जर्जर अवस्था मे पडे है। उन मन्दिरो के लिए तो हिन्दुओ को कभी चिन्ता नही हुई? मेरठ की उस जमीन को लेकर ही उनमे इतना उफान क्यो आया? मुसलमानों से भी कोई पूछे कि मजार के प्रति अचानक वह मोहब्बत क्योकर पैदा हुई? क्या उस जगह पर कोई स्कूल या पुस्तकालय नहीं बनाया जा सकता था जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही लाभ उठाते? लेकिन लड़ाने का काम करने वाले मिलाने का काम भला क्यो और कैसे करते?

मुरादाबाद में हिन्दू-मुस्लिम दंगो के दौरान हुए भीषण नरसंहार से आज भी दिल दहल उठता है। इन दगो की वजह भी बहुत हास्यास्पद थी। ईद के दिन नमाज पढते वक्त एक सूअर ईदगाह में आ गया। पास ही एक हरिजन बस्ती थी। हरिजन बस्ती में सूअर घूमते ही रहते हैं। हरिजन बस्ती से लगे ईदगाह मे भूले-भटके किसी सूअर का आ जाना कोई अस्वाभाविक बात नही थी। पर उस

दिन सूअर का आ जाना ही प्रलय का कारण बन गया। सूअर के आने से मुसलमान गुस्से में अघे ही उठे। आव देखा न ताव, पहले तो उन्होंने वहां तैनात पुलिस पर आक्रमण किया। फिर हिन्दुओ पर। बाद मे तो जम कर दंगा होना ही था। हिन्दू साम्प्रदायिक तत्वों ने भी इस खून की होली मे अपना पाशविक रूप दिखाया। इस प्रकार एक सूअर के लिए सैकड़ों इन्सान मौत के घाट उतार दिये गये।

पश्चिम बंगाल में नदिया मे १९७८ में हिन्दू-मुस्लिम दगो के पीछे एक प्रेम-विवाह था। एक मुसलमान लडके और हिन्दू लड़की में मुहब्बत हो गई। जैसा कि अक्सर होता है, दोनों प्रेमियो के बीच धर्म की दीवार खडी हो गई। पर उनका निश्चय दृढ़ था। उन्होंने इस दीवार को तोड़ा और शादी कर ली। हिन्दू इसे कैसे बर्दाश्त करते? उन्होने मुसलमानो पर हमला किया और भारी पैमाने पर हत्या और लूटपाट की।

भूख से तडप-तड़प कर कोई हिन्दू मर जाये तो हिन्दुओ पर असर नही होगा। बेकारी और गरीबी से तंग आकर कोई हिन्दू आत्महत्या कर ले, तो हिन्दू समाज के कानों पर जूं नही रेंगेगी। हिन्दू लडकी वेश्या होकर कोठे पर बैठ जाये, यह हिन्दुओ को बर्दाश्त है। लेकिन कोई मुसलमान हिन्दू लडकी से प्यार करे और शादी करे, यह उनकी बरदाश्त के बाहर है।

अभी हाल ही में हैदराबाद मे हिन्दू-मुस्लिम दगे हुए। सरकारी आकड़ो के मुताबिक इन दंगों मे ४० लोग मारे गये। दंगे इसलिए हुए कि हिन्दुओं ने पर्व पर देवता की सवारी निकाली। मस्जिद के सामने मुसलमानो ने बाजे पर एतराज किया। हिन्दुओं ने बजाने की जिद की। बस हो गये दंगे। मस्जिद के सामने अगर बाजे बज जाते तो मुसलमानों का कुछ बिगड़ना न था। न ही हिन्दुओ का बाजे न बजाने से कुछ बिगड़ता। लेकिन धार्मिक उन्माद का समझदारी और तर्क से कोई सरोकार नही होता।

आखिर इस तरह के हास्यास्पद कारणो से कब तक अबोध बालक, अबला नारी, मासूम लोगों का कत्लेआम होता रहेगा? आखिर कब तक हैवानियत इंसानियत का गला घोटती रहेगी? आखिर कब तक आदमी आदमी का खून बहाता रहेगा?

क्या यह विडम्बना नहीं है कि इस देश मे गत ३७ वर्षों मे जितनी जानें धर्म, जाति, क्षेत्रीयता व भाषा के नाम पर गयी उनका दसवा हिस्सा भी जीने के अधिकार के लिए नही गई। लोग भूखो मर जायेंगे, विद्रोह नही करेंगे। जानवर से बदतर जिन्दगी जी लेंगे उफ तक नही करेंगे। धर्म के नाम पर, जाति के नाम पर जान की बाजी लगा देंगे, पर रोटी के सवाल पर नही, जीने के बुनियादी अधिकारो के लिए नहीं।

लोगो की मानसिकता ही ऐसी बनादी गई है कि वह अपनी बुनियादी समस्याओं से हट गया है। वह सतही समस्याओं को बुनियादी समस्याएं समझने लगा है।

दरअसल राजनेता राष्ट्रीय एकता को बनाये नहीं रख पा रहे हैं। उनकी ही वजह से लोग आज बंटते जा रहे हैं।

मेरी पिछली विदेश यात्रा में मुझे एक नया अनुभव हुआ।

आज से २५-३० साल पहले विदेश मे भारतीयो का एक संगठन हुआ करता था। जैसे ब्रिटेन मे इण्डिया लीग, बर्लिन में भारत मजलिस आदि। सभी प्रवासी भारतीय उस एक संगठन के तहत रहते थे।

पर गत दो दशको मे इस स्थिति मे भी भारी परिवर्तन आया है। अब भारतीय नाम के संगठन तो गौण हो गये है, उनके स्थान पर क्षेत्रीय एवं भाषाई आधार पर सगठन बनने लगे हैं। जैसे—तमिल संघम्, बंगाली एसोसियेशन आदि। यहां तक कि उनके मोहल्ले भी इसी आधार पर बनने लगे है। विदेश यात्राओ में भारतीयो मे जो एक राष्ट्रीय भावना देखने को मिलती थी, वह धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है।

अगर मुसलमान एक गाय काट देता है तो धर्म के नाम पर हिन्दू साम्प्रदायिकतावादी दंगे करवा देते है। पर जब हिन्दू व्यापारियो ने बड़ी मात्रा मे गाय की चर्बी का आयात कर तथा उसे वनस्पति घी में मिला कर करोड़ों हिन्दुओं को खिला दिया तो उनकी धार्मिकता कहा गयी? गाय की चर्बी का आयात करने वाले और उसको घी में मिलाने वाले आज भी समाज में सम्मानित हैं। धर्म के क्षेत्र मे भी धन के बल पर उनका दखल है। यह तो गनीमत हुई कि यह जघन्य काम हिन्दुओ ने किया। अगर मुसलमान व्यापारियों ने किया होता तो देश में दगों की जो आग भडकती उसकी कल्पना कर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हम औरंगजेब को दोष देते है कि उसने मन्दिर तोड़े, मूर्तिया तोड़ीं। पर आजादी के बाद ३७ वर्षों मे लाखो मूर्तियां मन्दिरो से चुरा कर हिन्दू व्यापारियों ने तस्करी कर विदेशो मे बेच दी इस पर भी हमने कभी गौर किया? ऐसे औरंगजेबो की संख्या हिन्दुओ मे सैकडो, हजारों में है और ये लोग समाज में सम्मानित हैं, क्योंकि इनके पास मूर्ति-चोरी से कमाई बेशुमार दौलत है। हिन्दू अगर मूर्ति तोडे, बेचे यह बर्दाश्त है पर मुसलमान ऐसा कुछ करे तो सारे मुसलमान ही शत्रु मान लिये जायें, यह क्या दोहरा मानदण्ड नही है?

हम देवी-देवताओं की सवारी को लेकर दंगे करते हैं। पर मन्दिरो मे जो अत्याचार, अनाचार फल-फूल रहे हैं तथा हर रोज धर्मभीरू भोले-भाले श्रद्धालुओं को पण्डे-पुजारी किस बुरी तरह ठगते हैं, उनसे पैसे एंठते हैं, उसका विरोध क्यों नही करते? धार्मिक स्थलो के करोडो-अरबो के गबन पर कुछ क्यो नहीं करते?

एक मन्दिर के सामने अगर किसी शैतान असामाजिक तत्व ने गाय की पूंछ या सर काट कर रख दिया तो हिन्दू धार्मिकता भड़क उठती है। पर देश में ऐसे हजारों मन्दिर है जो जर्जर अवस्था में हैं, उपेक्षित है। जहा असामाजिक तत्व पनाह लेते है, जानवर टट्टी-पेशाब करते है, तब हम क्यो चुप रहते है? हमारे धर्म को तब कोई क्यों नहीं खतरा दिखाई देता?

दंगों मे हमेशा ही धार्मिक उन्माद और धर्मान्धता ने प्रमुख भूमिका निभाई है। गत ३७ वर्षों मे हुए दगो में लगभग ९० प्रतिशत के पीछे धर्म ही कारण था। ज्यादातर दगे किसी धार्मिक स्थान के विवाद को लेकर या धार्मिक जुलूस को लेकर हुए या किसी धार्मिक अनुष्ठान को लेकर।

दंगे मुख्यतः किसी भी शहर या गाव के घनी आबादी के उस क्षेत्र मे होते हैं, जहा अधिकाश जनसंख्या गरीब और अशिक्षित एवं अर्ध शिक्षित श्रेणी की होती है। दंगों में सक्रिय भूमिका भी इसी वर्ग के लोग निभाते हैं। पर दगो का नेतृत्व सम्पन्न, शिक्षित वर्ग के हाथों मे रहा है जबकि दंगो से प्रभावित होने वाले ९० प्रतिशत लोग गरीब तबके के होते हैं।

दंगों को भड़काने व फैलाने में स्थानीय भाषा के छोटे समाचार पत्र भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जो पत्र, जिस वर्ग द्वारा सचालित होता है वह खुल कर उसकी वकालत करता है। उसका दृष्टिकोण सकुचित व साम्प्रदायिक होता है तथा धार्मिक व साम्प्रदायिक जुनून पैदा करने में वह अपना लाभ देखता है। इससे उसकी लोकप्रियता बढती है तथा बिक्री बढती है और उस वर्ग विशेष का, जिसका वह समर्थन करता है, विशेष रूप से सरक्षण मिलता है।

१९८४ मे बम्बई व भिवंडी मे हुए दंगो को उर्दू पत्रों ने भड़काने एवं फैलाने मे पुरजोर भूमिका निभाई थी। बाल ठाकरे के कथित मुस्लिम विरोधी भाषण को तीखी टिप्पणियो सहित छाप कर इन पत्रों ने मुसलमानों की भावना को भड़काया और उकसाया जिसकी परिणति हिन्दू-मुस्लिम दगो मे हुई।

भारत के गरीब, अशिक्षित एवं अर्द्ध शिक्षित तबके पर धार्मिक जुनून का असानी से और तेजी से असर होता है। यह वर्ग धार्मिक अन्धविश्वास की जकड़ मे जकड़ा होता है। सुविधाओं और विकास की प्रक्रिया से वंचित इस वर्ग का वैज्ञानिक सोच से दूर का भी रिश्ता नही होता। ज्ञान एवं जानकारी के अभाव मे यह वर्ग भाग्य एवं भगवान पर भरोसा करता है तथा ज्योतिषियो, तान्त्रिको पर इसकी गहरी आस्था होती है। निश्चित लक्ष्य के अभाव मे इसका कोई भविष्य नही होता। गरीबी की मार से ग्रस्त इसकी हताशा और निराशा की जिन्दगी होती है। अभावग्रस्त जिन्दगी और धर्म का चोली-दामन का सम्बन्ध होता है। ऐसे लोग जिनका कोई सहारा नही होता भगवान मे सहारा ढूढते हैं।

यह वर्ग इस हद तक धर्मभीरू होता है कि झूठी-सच्ची अफवाहो पर तुरन्त विश्वास कर बैठता है तथा तथाकथित धार्मिक चमत्कारों पर बिना सोचे-समझे मूर्खता की हद तक विश्वास करता है।

बीसवीं सदी के प्रगतिशील चिंतन, वैज्ञानिक उपलब्धियों, हर क्षेत्र में तेजी से हो रहे विकास और बदलाव से यह वर्ग एकदम अप्रभावित रहता आया है।

इस वर्ग की इस मानसिक जडता को, धार्मिक और राजनीतिक नेतृत्व ने अपने स्वार्थ के लिए बनाये रखने में अपनी पूरी ताकत लगाई हुई है। ऐसे लोगों की भावनाओ को धर्म की दुहाई देकर तथा धर्म की आड़ लेकर आसानी से भडकाया जा सकता है तथा दंगो की ओर मोडा जा सकता है।

इस तस्वीर का सबसे दुखद पहलू यह है कि शिक्षित एवं सम्पन्न वर्ग भी दंगों के दौरान धार्मिक भावनाओ की चपेट में आ जाता है। भले ही यह वर्ग दंगे में सक्रिय भूमिका न निभाता हो, पर इस वर्ग की सहानुभूति अपने वर्ग के दंगाइयों के साथ होती है तथा दूसरे वर्ग के साथ जो कुछ होता है उसको न्यायोचित ठहराने में यह हर सम्भव तर्क देता है। यह वर्ग दंगों के दौरान या तो वीतराग की स्थिति मे रहता है या अपने वर्ग के दंगाइयों की परोक्ष मदद करता है।

यह इस बात को प्रमाणित करता है कि आज देश के अधिकांश लोग साम्प्रदायिक तथा धार्मिक सोच से प्रभावित है तथा उनका धर्मनिरपेक्ष एवं राष्ट्रीय सोच केवल दिखावे का है। सत्य ही है। यह एक बहुत ही खतरनाक स्थिति है। समाजशास्त्रियों को इस दिशा में ठोस व सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए। ताकि साम्प्रदायिक, धार्मिक उन्माद के इस आत्मघाती चिंतन को बदला जा सके।

संकीर्णता, आक्रामक क्षेत्रवाद, पृथकतावाद तथा साम्प्रदायिकता के लिए काफी हद तक राजनीतिज्ञ दोषी है।

वोट हासिल करने के हमारे अन्तहीन संघर्ष के दौरान ये सब खूब सहायक सिद्ध होते है। लोकतंत्र के नाम पर लोगो के साम्प्रदायिक, भाषाई तथा जातिवाद के मोह का सोया भूत जगाया जाता है। इन सबने भारतीय और भारतीय के बीच नई और खतरनाक दीवारें खडी कर दी हैं।

तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी भावना, बम्बई में शिवसेना जैसे साम्प्रदायिक तत्वो का उभरना, पंजाब मे सिख उग्रवाद का उदय, असम में विदेशी घुसपैठियों को लेकर पैदा हुआ साम्प्रदायिक तनाव आदि यह सब हमारे देश के राजनीतिज्ञो की गलत नीतियो की देन है।

भाषा तो आपस मे जोड़ने का जरिया रहा है, पर हमारी राजनीति ने उसे भी लोगो को अलगाने और उन्हें आपस मे लडा देने का हथियार बना दिया है। हिन्दी-उर्दू और हिन्दी-पंजाबी विवाद इसकी एक मिसाल है। हमारी विकृत

राजनीति यह भूल चुकी है कि भाषा एक महानतम मानवीय उपलब्धि है। इस उपलब्धि को मानव विकास की प्रक्रिया के साथ जोड़ने के बजाय आदमी से आदमी को तोड़ने और बाटने का प्रयास, मानव जाति के विरुद्ध एक अक्षम्य अपराध है।

हिन्दी–उर्दू और हिन्दी–पंजाबी के बीच कांटे बोनेवाले लोग यह भूल गये हैं कि इन भाषाओं के रिश्ते आपस में बहुत गहरे हैं तथा इनके मेल से हमारे देश में एक ऐसी तहजीब पैदा हुई है, जिस पर हमे गर्व है। कितनी हैरतनाक बात है कि एक जोड़ने वाली शक्तिशाली भाषा को राजनीतिज्ञों ने अपने स्वार्थ के लिए एक तोड़ने वाली शक्ति की शक्ल दे दी है।

जब भी कोई दंगा होता है, तो उसके प्रति राजनीतिज्ञो की प्रतिक्रिया बिल्कुल मशीनी होती है। विशेषरूप से साम्प्रदायिक दंगों के प्रति। ऐसा नही लगता कि दंगे से हुए खून-खराबे के लिए उन्हें दिल से अफसोस होता हो। हालांकि दंगे के बाद वे दंगाग्रस्त इलाके मे सहानुभूति व्यक्त करने के लिए दौरा करते हैं, सहानुभूति और सान्त्वना देते हैं। लेकिन चिड़िया की एक आँख की तरह उनकी नजर हमेशा वोटो की राजनीति पर केन्द्रित रहती है। उनकी सहानुभूति, उनकी हमदर्दी का बस एक ही मकसद रहता है कि घटना का ज्यादा-से-ज्यादा राजनीतिक शोषण कैसे किया जाय। अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए कैसे इसका इस्तेमाल किया जाय। घटना को वे हथियार के रूप मे उपयोग करने लगते है जिससे अपने विरोधी नेता अथवा पार्टी पर चोट कर सकें, उसके वोटों को काट सकें। सत्तारूढ नेता दुर्घटनाग्रस्त लोगों के लिए मुआवजे की एक निश्चित रकम देकर तथा जांच आयोग नियुक्त कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते है। विरोधी दल के नेता भी इस तरह की घटनाओं का फायदा अपने पक्ष मे उठाने में कम तत्पर नही होते। जांच की माग होती है, जांच होती है लेकिन अपराधियो को सजा नही मिलती। क्योकि सजावार अपराधी को किसी-न-किसी राजनीतिक नेता का संरक्षण प्राप्त रहता है। परिणामस्वरूप वातावरण मे कटुता बढ़ती है, लोगों मे असंतोष होता है, जिसकी परिणति पुनः अगले दंगे मे होती है। इस प्रकार दंगों का यह क्रम चलता रहता है।

दंगे के शिकार लोगों को मुआवजा देने से थोडी राहत तो मिलती है, लेकिन दंगे के दौरान दो सम्प्रदायो के बीच जो दूरी, वैमनस्य की जो दरार पड़ जाती है, वह इस राजनीतिक दुश्चक्र की वजह से और गहराती ही जाती है। हर नये दंगे से घाव हरे और गहरे होते चले जाते हैं।

ऐसा अक्सर कहा जाता है कि मात्र लड़ाई और क्रिकेट ही सारे भारतीयों को एकबद्ध कर सकती है। हमारे भेद-भाव यही आकर अपनी अयोग्यता को भी

दर्शाते हैं। नाजुक राष्ट्रीय समस्याओं का उपयोग सस्ती लोकप्रियता हासिल करने के लिए किया जाना कितना खतरनाक हो सकता है, यह सन् १९७७ के चुनाव अभियान ने साबित कर दिखाया। बढ़ती हुई आबादी देश की एक बहुत गम्भीर और नाजुक समस्या है। '७७ के चुनाव प्रचार में विरोधी दलों ने इसे मुख्य मुद्दा बनाया और इसे खूब उछाला। इससे उन्हें तत्कालीन लाभ तो हुआ, लेकिन देश का अहित ही हुआ। परिवार नियोजन के कार्यक्रमों की गति दो दशक पिछड़ गई। हालांकि बाद में सबकी इस पर अघोषित सहमति भी हो गई।

पर जब सारे राजनैतिक दलों में एक अघोषित सहमति हो सकती है तो राष्ट्रीय एकता से जुड़े, साम्प्रदायिक दंगों के गम्भीर सवाल पर उनमें सहमति क्यों नहीं होती? इस मामले में उन्हें अपने तत्कालीन लाभ को ध्यान में न रख कर देशहित को सर्वोपरि मान्यता देनी चाहिए।

एक ईमानदारी की शुरुआत तो हो, फिर अपने आप रास्ते खुलते चले जायेंगे। साम्प्रदायिक दंगों पर सभी दलों की सहमति से एक राष्ट्रीय नीति अपनाई जानी चाहिए। राष्ट्रीय सद्भाव पर एक उच्च स्तरीय समिति का गठन किया जाना चाहिए जिसमें सभी पार्टियों का प्रतिनिधित्व हो। इसके अलावा विभिन्न तबकों के प्रतिष्ठित, निष्ठावान, साफ और सुथरी छवि वाले लोगों को भी शामिल किया जाय। लेकिन इस समिति का प्रभाव व विश्वसनीयता इस बात पर निर्भर करती है कि समिति के सदस्य दलगत स्वार्थ से ऊपर उठ कर देशहित को प्राथमिकता दें तथा एक दूसरे की नुक्ताचीनी कर स्थिति को बिगाड़ने में मदद न करें। लेकिन यह तभी संभव हो सकता है जब राजनीतिज्ञ व राजनैतिक दल एक दूसरे के प्रति विश्वास व सदभाव रख कर, धर्मनिरपेक्षता की नीति में आस्था रख कर साम्प्रदायिक दंगों के विरुद्ध एकजुट होकर नीतियां बनायें और उन्हें लागू करने में सक्रियता दिखायें।

जितनी बार भी दंगे हुए हैं, उनमें चन्द इन्सानों का नहीं, इन्सानियत का खून बहा है। अगर यही सिलसिला यहां चलता रहा, बहुत जल्द इस मुल्क से इन्सानियत का नामोनिशान मिट जायेगा। तो क्या हम यही चाहते हैं? अगर नहीं तो आखिर कब तक हम हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहेंगे और इंसानियत की दुश्मन साम्प्रदायिकता को अमर-बेल फलती-फूलती रहेगी?

केवल औपचारिकता निभाने से साम्प्रदायिकता से नहीं लड़ा जा सकता। सबसे पहले तो हमें साम्प्रदायिकता के खिलाफ जनमानस तैयार करना होगा। यह काम तभी होगा जब हम सच को सच कहना शुरू करें। चाहे सच कितना ही कड़ुआ क्यों न हो। साम्प्रदायिकता से बगैर किसी भी तरह का समझौता किये बिना उससे लड़ना होगा।

सामाजिक अन्याय, घोर आर्थिक विषमता, धार्मिक कट्टरता और क्षेत्रीयता ये चार पाये है, जिन पर साम्प्रदायिकता टिकी है। इन चार पायो को हमें उखाड फेंकना होगा।

यह बात बहुत ही अफसोसनाक है कि मुल्क की आजादी के ३७ वर्षों बाद भी मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा और चर्बी के झगड़ो पर साम्प्रदायिक दंगे बन्द नहीं हुए। एक ओर हमारे ईमान और नैतिकता का हर ओर व हर रोज जनाजा निकल रहा है, दूसरी ओर मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों के लिए सिर फुड़व्वल बढ रही है। मजहब का मुखौटा लगा कर ईंटों और पत्थरों के लिए हम एक दूसरे की जान के प्यासे हो रहे हैं।

इसके लिए कौन जिम्मेवार है ? राजनीतिक दल, असामाजिक तत्व या बाहरी हस्तक्षेप ? कोई भी हो, लेकिन हमारे राजनीतिक चाहे वे सत्ता में हो या विपक्ष में, जरूर जिम्मेदार हैं जो साम्प्रदायिकता का समूल नाश करने की बजाय उससे समझौता करने मे ही मसलहत समझते रहे हैं।

आज साम्प्रदायिकता देश की नही बल्कि इन्सानियत की भी सबसे बड़ी दुश्मन है। जब तक देश के इन साम्प्रदायिक तत्वो से दो-दो हाथ नही किये जायेंगे, उन्हें पूरी ताकत के साथ कुचला नही जायेगा, तब तक देश की अखण्डता व एकता को खतरा बना रहेगा।

साम्प्रदायिकता से दो-दो हाथ करने के लिए यह जरूरी है कि हम उसके सही रूप को पहचानें। साम्प्रदायिक शक्तिया जहा जिस रूप मे भी है, उन्हें जड मूल मे नष्ट करने का संकल्प करना होगा। हालांकि देर बहुत हो चुकी है। साम्प्रदायिकता के विकराल रूप के सामने धर्मनिरपेक्षता व राष्ट्रीय ताकतें बौनी व नाकारा साबित हो रही हैं।

हम एक ऐसे खतरनाक मोड़ पर आ पहुँचे है जहाँ राष्ट्र के अस्तित्व को ही चुनौती दी जाने लगी है।

पंजाब मे सिख और सिख धर्म की रक्षा के नाम पर पल रहा आतंकवाद, १९८५ के अप्रैल महीने मे बम्बई म्युनिसिपल चुनाव मे बाल ठाकरे की शिवसेना की भारी विजय, दक्षिण के राज्य आन्ध्र व तमिलनाडु तथा सिक्किम मे क्षेत्रीय दलों का वर्चस्व, आसाम में विदेशियो के नाम पर अपने ही देशवासियो के विरुद्ध चलाया जा रहा आन्दोलन अखण्डता के नाम पर हिन्दू साम्प्रदायिकता का तेजी से बढता हुआ प्रभाव, गुजरात मे आरक्षण के सवाल पर हुए दंगे आदि ये कुछ ऐसी स्थितियाँ हैं जिनका साम्प्रदायिकता से सीधा सम्बन्ध है। इन सबने देश के जनमानस के दिलों को बांट दिया है। यह देश के बंटने के प्रारम्भिक लक्षण हैं। दरअसल हुआ यह कि यथास्थिति को बनाये रखने वाले तत्वो ने लोगोका ध्यान बुनियादी मुद्दों से

हटाये रखने के लिए ही ऐसी परिस्थिति बनी रहने मे मदद की। इसका नतीजा यह हुआ है कि जो ताकतें आम आदमी को पीडित, प्रताडित, शोषित करती हैं उनसे लडने के बजाय आम आदमी आपस मे ही लडने लगा।

आज के गरीब को अपनी गरीबी से शिकायत नही। लोग अत्याचार, अनाचार, शोषण, भ्रष्टाचार के विरुद्ध चुप रहते हैं। धर्म, भाषा के नाम पर कटते-मरते हैं।

दंगो का चरित्र विश्लेषण कर यह देखा गया है कि अधिकतर दंगे शहरी इलाको मे हुए हैं। शहरो के भी उन इलाकों मे, जहा गरीबी है, घनी अबादी है, अशिक्षा है तथा न्यूनतम नागरिक सुविधाओ से लोग वंचित हैं। यह भी देखा गया है कि शहरो के औद्योगिक इलाको मे ज्यादातर दंगे हुए हैं।

दगों और दंगाइयो को राजनीतिक संरक्षण और शह मिलती रही है, लेकिन इसकी अगुवाई असामाजिक तत्व करते रहे हैं।

शराब बनाने और बेचने के अवैध धन्धे, सट्टा, तस्करी आदि का दंगों से गहरा सम्बन्ध रहा है। इन अवैध धन्धे ने हमारे लाखों लोगों को पुष्ठ-पोषण दिया है जिसके फलस्वरूप एक माफिया संस्कृति पनपी है।

अब तो दगे केवल हिन्दू-मुसलमानों तक ही सीमित नही रहे, बल्कि हिन्दू-सिख, सवर्ण-हरिजनों, शिया-सुन्नी, हिन्दू-क्रिश्चियन में भी फैल गये हैं। ऐसा शायद ही कोई दिन जाता हो, जबकि देश के किसी न किसी कोने में छोटे या बड़े पैमाने पर दगे न होते हो। अब तो स्थिति यहा तक बदतर हो गई है कि मुस्लिम मोहल्लो मे हिन्दू और हिन्दू मोहल्लो में मुसलमान अपने आप को सुरक्षित महसूस नही करता। शहर हो या गाव, हर जगह साम्प्रदायिक और धार्मिक आधार पर टोले-मोहल्ले होने लगे जैसे हिन्दू टोला, मुसलमान मोहल्ला, हरिजन बस्ती, आदिवासी बस्ती, आदि-आदि।

चाहे कोई कितना ही राष्ट्रवादी हो, धर्मनिरपेक्ष हो, मानवतावादी हो। दगे की चपेट से कोई नही बच पाता।

१९६४ में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक स्व० मुज्जफर अहमद कलकता मे हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगो के दौरान हिन्दू मोहल्ले मे फंस गये थे। कम्युनिस्ट पार्टी के हिन्दू स्वय सेवक उन्हें सुरक्षित रूप से लाये थे।

१९७८ में जमशेदपुर मे हुए हिन्दू-मुस्लिम दगे में सुप्रसिद्ध साहित्यकार और देशभक्त जको अनवर की हिन्दू दगाइयो ने निर्मम हत्या कर दी।

१९८४ के नवम्बर के दंगो मे ऐसे हजारो निर्दोष सिख बर्बर हत्याकाण्ड के शिकार हुए, जिनकी देशभक्ति सन्देह से परे थी।

दंगे हमारे जीवन का अभिशप्त अंग बन गये हैं।

फिरोजाबाद

फिरोजाबाद चूड़िया बनाने का सारे संसार मे अपने ढंग का एकमात्र केन्द्र है। यहा की डेढ़ लाख की आबादी (१९७२) में लगभग चालिस हजार, मुसलमान हैं जिनमे अधिकतर चूड़ी उद्योग मे लगे हैं। हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानों मे गरीबी व अशिक्षा यहां भी देश के अन्य भागों की तरह अधिक है। आम तौर पर यहां पर सदा ही साम्प्रदायिक सद्भाव रहा है और हिन्दू-मुसलमान एक अच्छे पड़ोसी की तरह रहते आये हैं। यहा की मूल आवश्यकता शान्ति है। झगड़ा फसाद कोई नहीं चाहता क्योकि अधिकांश लोग रोज कमाते हैं और रोज खाते हैं।

१९७२ में मुस्लिम विश्वविद्यालय संशोधन-बिल के खिलाफ मुस्लिम नेताओं ने मुसलमानो में आक्रोश की भावना पैदा कर दी थी। जैसा कि अक्सर होता है मुसलमानों के विरोध का गहरा रिश्ता मस्जिद व जुम्मे (शुक्रवार) की नमाज से होता है। यह हमें वेहिचक मान लेना चाहिये कि इसके पीछे एक दबी हुई साम्प्रदायिकता होती है जो मौका पाते ही पूरे उफान पर आ जाती है।

१६ जून १९७२ को देश के अन्य भागों की तरह फिरोजाबाद में भी मुसलमानों मे मुस्लिम विश्वविद्यालय संशोधन-बिल के विरुद्ध विरोध दिवस यानी 'योमे—एहतजाज' मनाया। जुम्मे की नमाज के वाद मस्जिद मे नेताओं ने भड़काऊ भाषण दिये, जिससे युवक उत्तेजित हो उठे। उस दिन शहर में मुसलमानों ने हड़ताल की थी। काली पट्टियां और काले झंडे हर जगह नजर आ रहे थे। जवाब में कुछ हिन्दू युवको ने पीली पट्टिया लगाई हुई थी और कई हिन्दुओं की दुकानों पर पीले झंडे लहरा रहे थे। बीच चौराहे पर एक रंगा-पुता मटका रखा हुआ था, जिस पर मुसलमानों को उत्तेजित करने वाले नारे लिखे हुए थे। दफा १४४ के बावजूद मस्जिद से मुसलमानों का जुलूस निकला तो कुछ हिन्दू युवकों ने नारे लगाये। वहां से जो मुसलमान शान्तिपूर्वक गुजर गये पर मुस्लिम मोहल्ले में पहुंचते ही मुस्लिम युवकों नें नारा ऐ तकबीर का नारा लगाया और उत्तेजनापूर्ण कारंवाई की। पुलिस जो, अब तक खामोश थी एकाएक हरकत मे आ गई और उसने जुलूस बन्द करने के लिए लाठी चार्ज किया। जवाब में पुलिस पर पथराव किया गया और अन्ततः पुलिस ने कई बार

गोली चलाई, जिसमें कम से कम आठ व्यक्ति मारे गये और कई घायल हो गये।

बस इसके बाद ही भयंकर रूप से दंगा भड़क उठा और व्यापक पैमाने पर लूट-पाट और मार-काट शुरू हो गई।

शाम ६ बजे सारे शहर मे कर्फ्यू लगा दिया गया जो अगले ८७ घंटों तक जारी रहा।

पर कर्फ्यु के बावजूद १६-१७ जून को हिंसात्मक घटनाएँ बेरोकटोक घटती रहीं। ज्यादातर लूटपाट और हिंसात्मक घटनायें हिन्दुओं ने की और पुलिस ने दंगाइयों का साथ दिया। कई जगह स्वयं पुलिस ने मुसलमानों के घरों में घुस कर लूट-पाट की।

इस्लामिया कालेज दो दिन तक लुटता और जलता रहा। जामा मस्जिद के इमाम को जिन्दा जला दिया गया और मस्जिद में तोड़-फोड़ होती रही।

हिन्दू मोहल्लों मे मुसलमानों के अधिकांश घरों व दुकानों को लूटा व जला दिया गया। जबकि मुस्लिम मुहल्लों में इस तरह की वारदात हिन्दुओं के साथ बहुत कम हुई।

प्रशासन ने अगर चुस्ती और सख्ती से काम लिया होता, तो दंगा रोका जा सकता था।

जमशेदपुर

जमशेदपुर बिहार की एक औद्योगिक नगरी है। इस्पात का पहला कारखाना टाटा ने यहां लगाया था। यहां कई श्रमिक संगठित हैं और किसी न किसी राजनीतिक दल के श्रमिक संगठन से जुड़े रहे हैं। श्रमिकों पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के श्रमिक संगठन आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अच्छा असर रहा है। पर राजनीतिक संगठनों से जुडे रहने के बावजूद श्रमिकों की राजनीतिक शिक्षा नहीं के बराबर हुई। श्रमिक केवल अपने निजी स्वार्थ के लिए सम्बन्धित संगठनों से जुडे रहे और श्रमिक संगठनों के नेताओं ने अपने व दलगत स्वार्थों के लिए श्रमिकों का इस्तेमाल किया। फलस्वरूप उनमें राजनीतिक चेतना का सर्वथा अभाव रहा। उद्योग के साथ जिस औद्योगिक संस्कृति का सम्बन्ध होता है वह भी यहां नहीं पनपी। यहीं क्यों हमारे देश के किसी हिस्से में औद्योगिक संस्कृति नहीं पनपी। इसलिए मजदूर श्रेणी के बीच वे सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाये जो औद्योगिक संस्कृति की न्यूनतम आवश्यकता होती है।

इसके अलावा यह क्षेत्र असामाजिक तत्वों का भी गढ रहा है। गैरकानूनी धंधे से फूलने-फलने वाले लोगों की एक सशक्त जमात का यहां के हर क्षेत्र में प्रभावशाली स्थान रहा है।

ट्रेड यूनियन नेता, उद्योगों के प्रबन्धक, गैरकानूनी व्यापार करने वाले तथा राजनीतिज्ञ सभी गुंडा तत्वों को पालते रहे हैं और इनके संरक्षण और शह मे इन तत्वों को लूट-खसोट, हिंसा की छूट मिलती रही हैं।

ऐसी ही स्थिति में साम्प्रदायिकता आसानी से अपनी जड़ जमाती है।

जमशेदपुर मे १९७८ में जो हिन्दू मुस्लिम दंगे हुए वे कोई पहली बार ही हुए, ऐसा नहीं। इसके पहले भी वहां व्यापक स्तर पर दंगे हो चुके थे। जमशेदपुर हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक लोगों का गढ़ माना जाता है। दोनों ही समाज के असामाजिक तत्व इस साम्प्रदायिकता को बनाये रखने में संलग्न रहे हैं। राजनीतिक स्तर पर हिन्दू साम्प्रदायिकता को जनसंघियों तथा राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की छत्रछाया हासिल रही।

साम्प्रदायिकता की जड़ मजबूत करने के लिए तथा इसे बनाये रखने के लिए धर्म का सम्बल आवश्यक होता है। जैसे-जैसे साम्प्रदायिकता बढ़ती है

वैसे वैसे ही धर्म का प्रदर्शन भी बढ़ता है। जमशेदपुर भी इससे अछूता नही रहा।

यहा हनुमान जयती बडे धूम-धाम से मनायी जाती है। कई अखाड़े मिल जुल कर हनुमान जयंती के दिन विशाल जुलूस निकालते हैं। इसके पीछे धार्मिक भावना कम तथा अपनी शक्ति के प्रदर्शन की भावना अधिक होती है।

मुसलमानों ने हनुमान जयंती को हमेशा ही शंका की निगाह से देखा तथा उन्होंने इसे कभी एक त्योहार के रूप में नही माना।

अप्रैल १९७८ में हनुमान जयंती के जुलूस को लेकर तनाव बना हुआ था। हिन्दू, उस जुलूस को मुसलमान मुहल्ले से, जहां मस्जिद भी है, ले जाने की जिद पर अड़े थे। मुसलमान अपने मुहल्ले से जुलूस ले जाने का डट कर विरोध कर रहे थे।

अगर अधिकारियों ने सूझबूझ से काम लिया होता तो स्थिति नही बिगड़ती, पर वे हिन्दुओं के प्रभाव के आगे दब गये।

यह तय हुआ कि पुलिस संरक्षण में जुलूस निकले। १० अप्रैल को जुलूस निकला। पर यह जैसे ही मुस्लिम मोहल्ले मे स्थित एक मस्जिद के पास पहुंचा कि जुलूस पर ईंट-पत्थर चलने लगे। इस पर लोगों में भगदड़ मची तथा भागते हुए हिन्दुओं ने मुसलमानों पर हमला करना शुरू कर दिया।

इस संभावित दंगे के लिए दोनो ही पक्ष तैयार थे इसलिए मुसलमानों ने भी डटकर मुकाबला किया। पर एक तो अल्पसंख्या मे होने के कारण, दूसरे स्थानीय पुलिस का समर्थन हिन्दुओं के साथ होने के कारण नुकसान अधिक मुसलमानों का ही हुआ। इस दंगे मे भूतपूर्व जनसंघी तथा उस वक्त जनता पार्टी के विधायक दीनानाथ पाण्डे की प्रमुख भूमिका रही। दंगा भड़काने तथा दंगे का नेतृत्व करने मे ये सबसे आगे रहे। बाद मे जांच कमिटी की रिपोर्ट मे भी इन्हें दोषी बताया गया।

दंगे में असामाजिक तत्वों को खुल कर खेलने की पूरी छूट थी। पुलिस का रवैया मुस्लिम विरोधी था तथा हिन्दू दंगाइयो का पुलिस ने खुल कर साथ दिया।

११ तथा १२ अप्रैल को नर-संहार होता रहा। आगजनी, लूट, हत्या, बलात्कार होते रहे। लोग खून की होली खेलते रहे। श्रमिक बस्तियां विशेष रूप से दंगो से प्रभावित हुईं।

इन दंगो मे दो ऐसी दर्दनाक बर्बर घटनाएँ घटी जिन्होंने इंसानियत के माथे पर कभी न मिटने वाला दाग लगा दिया। पर इस देश मे इस तरह के अमिट दाग तो आमे दिन इसानियत के माथे पर लगते रहे हैं। अस्तु।

उर्दू के सम्मानित लेखक ५० वर्षीय जकी अनवर एक सच्चे देशभक्त तथा

हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रतीक थे। उन्होने अपने जीवन काल मे चार सौ के लगभग लघु कथाएँ २० नाटक व २५ उपन्यास लिखे। मानवीय संवेदनशीलता, राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सदभाव का सदेश उनके लेखन मे होता था। जमशेदपुर में कई महीनों से उत्पन्न साम्प्रदायिक तनाव को लेकर उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी। उन्होने साम्प्रदायिक सद्भाव के लिए अपने कुछ साथियों के साथ अनशन किया। हिन्दू और मुसलमान दोनो पक्ष के साम्प्रदायिक तत्वों ने उनका मजाक उड़ाया। जकी अनवर ने जब मुसलमानो से अपील की कि हनुमान जी का जुलूस मुस्लिम मोहल्ले से निकलने की इजाजत दें तो वे मुसलमानों के कोप भाजन हो गये। मुसलमानो ने अनशन पर बैठे जकी अनवर पर कंकर-पत्थर फेंके।

१० अप्रैल की रात जब दगा भड़क उठा तो जकी अनवर के परिवार के लोगों ने उनसे सुरक्षा के लिए मुस्लिम मोहल्ले में चले जाने का अनुरोध किया। पर उन्होंने उनकी न मानी और परिवार के सभी सदस्यों के चले जाने के बाद भी वे उसी घर मे डटे रहे। उन्हें विश्वास था उन्हें कोई क्यो मारेगा। यह उनका नहीं इंसानियत का विश्वास था। मानवीय संवेदनशीलता का विश्वास था। पर दूसरे ही दिन यह विश्वास चूर-चूर हो गया। बर्बर हिन्दू आतताइयों ने जकी अनवर को मार कर उनकी लाश कुंए मे फेंक इंसानियत का गला घोंट दिया। राष्ट्रीय एकता, साम्प्रदायिक सदभावना के प्रतीक जकी अनवर की नृशंस हत्या का पाप क्या कभी धुल सकेगा?

१२ अप्रैल को करीम मियां मुस्लिम स्कूल के अहाते में भालोबासा मोहल्ले के ३५० के करीब मुस्लिम सुरक्षित स्थान मे पहुचाने के लिए इकठ्ठा किये गये थे। इनके घर लूट लिये गये थे, जला दिये गये थे। पहला जत्था सशस्त्र पुलिस के पहरे मे करीम सीटी कामर्स कालेज पहुंचाया जा चुका था।

बी. आर. के. ६११२ नम्बर की एम्बुलेंस में ११७ लोगों को लेकर दूसरा जत्था रवाना हुआ। इनकी सुरक्षा के लिए केवल दो लाठीधारी सिपाहियों को एम्बुलेंस में भेजा गया। इनको लेकर एम्बुलेंस सीताराम रोड पहुंची तो चारों ओर से ३ हजार दंगाइयों ने उसे घेर लिया। वे पेट्रोल, बम तथा अन्य घातक हथियारो से लैस थे। ड्राइवर ने एम्बुलेंस को तेजी से भगाने की कोशिश की पर असफल रहा। ड्राइवर को उतार लिया गया। चूंकि वह हिन्दू था, इसलिए उसे मारपीट कर छोड़ दिया गया। बाकी बचे लोगों को चाकू, छुरे, लाठियों से पीट-पीट कर उन पर पेट्रोल छिड़क कर आग लगा दी गयी। १११ लोग, जिनमें सबसे छोटा डेढ वर्ष का बालक सजदा था एवं २ वर्षीय बालिका रजिया बीबी थी, सबसे बड़ी उम्र की ७० वर्षीया माशाहर बीबी थी, सभी जिंदा जला दिये

गये, एम्बुलेंस मे अबाल, वृद्ध, वनिता सभी थे। ये निहत्थे थे, निर्दोष थे। पर हजारो की भीड़ मे किसी को उन पर दया नही आई। हमारी राक्षसी बर्बरता का इससे अधिक और क्या ज्वलत उदाहरण हो सकता है?

जमशेदपुर के दगो मे जहा मुसलमानो को मौका मिला उन्होनें भी हिन्दुओ का कत्लेआम किया। यह दंगा केवल कुछ असामाजिक तत्वों तक ही सीमित नही था। इसमे हजारों हिन्दू, मुसलमान भागीदार थे। दंगे को रोकने वालो की सख्या इतनी कम थी कि उंगलियों पर गिनी जा सकती थी। मानो सारे शहर की आबादी हिन्दू व मुसलमानो मे बंट गई थी। इंसानियत की खोल उतार कर फेंक दी गई थी। लोग इंसान नही हिन्दू और मुसलमान मात्र रह गये थे।

हनुमानजी का जुलूस रास्ते से गुजरे या नही इस प्रश्न ने सैकड़ो जानें ले लीं और इंसान को हैवान बना दिया।

पर इन सबसे कोई सबक लिया गया हो, ऐसा नहीं। आज भी जमशेदपुर के लोगों की वही मानसिकता है जो १९७८ मे थी। हिन्दू एवं मुसलमानों के त्यौहार जब सुख-शान्ति से गुजर जाते हैं तो लोग चैन की सांस लेते हैं। दोनो समुदायो के बीच भीतर ही भीतर अलगाव और तनाव स्थायी रूप ले चुका है।

पालीकीडे

तमिलनाडू का एक छोटा सा गाव है—पालीकीडे

१९७१ की जनगणना के अनुसार इसकी कुल जनसंख्या १७६९ थी जिसमें ६० प्रतिशत हिन्दू और ४० प्रतिशत मुसलमान थे। १९७९ के पहले इस गांव के लोग नही जानते थे कि साम्प्रदायिकता क्या होती है। हिन्दू और मुसलमान आपस में भाई चारे के साथ एक परिवार की तरह अमन-चैन से रहते थे। बीस वर्षों तक पालीकीडे की पंचायत का अध्यक्ष एक मुसलमान था। जाहिर है कि इतने लम्बे समय तक हिन्दुओं के समर्थन से ही वह पंचायत का अध्यक्ष बना रहा।

लेकिन ६० के दशक से देश में साम्प्रदायिकता की जहरीली हवा बही वह १९७९ मे इस गांव मे भी प्रवेश कर गई। ३ जून १९७९ को एक मुसलमान दुकानदार द्वारा एक हिन्दू चाय विक्रेता को बेची गई चाय की पैकेट को लेकर झगडा हुआ और अचानक वह साम्प्रदायिक दंगो में बदल गया। हिन्दुओ ने मुसलमानो की संपत्ति पर हमला किया और आग लगाई। दंगे के दूसरे दिन सरकारी अधिकारी व पुलिस घटनास्थल पर पहुंचे और स्थिति को काबू मे किया।

इस दंगे के बाद ही हिन्दुओं को मुसलमानो से शिकायत होने लगी। हिन्दुओं ने शिकायत की कि उनके ईश्वरन मंदिर जाने के रास्ते के दोनों ओर मुसलमानों ने अनधिकृत रुप से दुकान और घर बना रखे है, जिससे हिन्दुओं को विशेषकर हिन्दू महिलाओ को आने जाने मे असुविधा होती है। हिन्दुओं ने माग की कि मुसलमानों द्वारा निर्मित अवैध मकानों को अविलम्ब हटाया जाय। मुसलमानों ने इसका विरोध किया। उन्होंने कहा कि जिस जमीन पर निर्माण हुआ है वह मन्दिर की सम्पत्ति नही है तथा वर्षों से यह निर्माण है तथा इससे पहले हिन्दुओं ने कभी कोई एतराज नही किया।

हिन्दुओं ने मुसलमानो पर दवाव डालने के लिए उनका आर्थिक और सामाजिक बहिष्कार किया। यहा तक कि मुसलमानों के खेत मे हिन्दू मजदूर को काम करने से रोका गया। हिन्दू दूध विक्रेताओं को मुसलमानो को दूध तक बेचने से रोका गया। मुसलमानों द्वारा राज्य अधिकारियों का ध्यान इन घटनाओं की ओर आकर्षित कराया गया। पर राज्य सरकार की ओर से समस्या के प्रति

कोई प्रभावशाली कदम नही उठाया गया। फलस्वरूप दोनो सम्प्रदायो के बीच तनाव बना रहा।

२३ व २४ अगस्त १९७९ मे तनाव का ज्वालामुखी फूट पड़ा और हिन्दुओं ने व्यापक पैमाने पर मुसलमानो पर आक्रमण किया। इन दंगो मे दो मुसलमान मारे गये, और कई घायल हुए। उनकी लाखों की सम्पति लूटी व नष्ट कर दी गई। यहां तक कि मुसलमानों के बगीचों मे लगे फल के पेड़ों को भी नष्ट कर दिया गया। मुसलमानों ने भी जवाबी हमले में हिन्दुओं की लाखों की सम्पति को नुकसान पहुचाया। इस प्रकार परम्परागत रूप से एक शान्त अंचल साम्प्रदायिकता की वजह से एक अशान्त क्षेत्र में परिणत हो गया। दो सम्प्रदायों के बीच सदियों से चला आ रहा सद्भाव और भाईचारा एक झटके में समाप्त हो गया।

यह सब कुछ अचानक व स्वाभाविक रूप से नही हुआ। बल्कि साम्प्रदायिक तत्वों ने जान बूझ कर दो सम्प्रदायों को लड़ाने के लिये, उनके मन में फर्क पैदा करने के लिये सुनियोजित तरीके से साजिश की और इसमे वे सफल हुए इस प्रकार गांव का एक निश्छल निर्दोष, वैशिष्टय साम्प्रदायिकता की चपेट से नष्ट हो गया।

विहार शरीफ

१९८१ के बिहारशरीफ को दंगे में सरकारी सूत्रों के अनुसार ५६ व्यक्ति और गैर सरकारी गिनती से सौ से अधिक लोग मारे गये थे। इस दंगे में प्रशासन तो विफल हुआ ही था, कुछ अधिकारियों की दंगाइयों से सांठ-गांठ भी साफ दिखी थी। पर राज्य सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। लोगों के दबाव के बाद राज्य लोक उद्यम ब्यूरो के अध्यक्ष वी. बाला सुब्रह्मण्यम समिति ने अपनी १५६ पेजों की रपट में बिहारशरीफ और पटना के छोटे-बड़े सरकारी अधिकारियों की विफलता और सांठ-गांठ की पोल खोल दी तो सरकार ने उस रपट को ही दबा दिया।

विधानसभा में इस रपट के प्रकाशन की मांग की गई थी पर सरकार ने कहा कि यह जनहित में नहीं है। लेकिन जमशेदपुर दंगे की जांच-रपट को सरकार ने जोर-शोर से प्रचारित किया क्योंकि उससे सत्तारूढ़ के राजनीतिक स्वार्थ सधते थे। बाला सुब्रह्मण्यम की रपट सरकार के खिलाफ थी इसलिए ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया।

वी. बाला सुब्रह्मण्यम ने रपट की प्रस्तावना में ही कहा कि कई मामलों में जिलाधिकारी और आरक्षी अधीक्षक (नालंदा जिला) तथा आयुक्त और आरक्षी उप-महानिरीक्षक (पटना प्रमंडल) की रपटें भी मुझे अविश्वसनीय लगी हैं। मैंने दस्तावेजों, सबूतों के आधार पर ही अपनी रपट तैयार की है।

दरअसल सुब्रह्मण्यम को राज्य सरकार ने कभी ठीक से सहयोग नहीं दिया।

अपनी रपट में सुब्रह्मण्यम ने कहा है कि बिहारशरीफ में लगाया गया खुफिया पुलिस तंत्र बिल्कुल नालायक था। घटना के दिन आरक्षी उप-महानिरीक्षक और आयुक्त की उपस्थिति गैर जरूरी थी जिससे हालत बिगड़ी। जिस गगन दीवान मुहल्ले में घटना शुरू हुई, वहां के आरक्षी उप-निरीक्षक रामनरेश शर्मा ने (थाना प्रभारी, मुरारपुर थाना) दंगाइयों का साथ दिया। जाँच समिति ने यह भी कहा कि पुलिस ने दंगे के दौरान अजीब से "अहिंसा धर्म" का पालन किया। दंगे होते रहे, दर्जनों लोग मौत के घाट उतारे गये, किंतु पुलिस की गोलियों से किसी के मरने की बात तो दूर, कोई घायल भी नहीं हुआ जबकि ३० अप्रैल, १९८१ और ५ मई, १९८१ के बीच पुलिस ने १२ जगहों पर कुल ५६ राउण्ड गोलियां चलाईं। हां, आई पी एस. अधिकारी रामचन्द्र खान की गोली से बड़ी दरगाह के पास एक घर में एक बेगुनाह मुसलमान लड़की जरूर मारी गई। ३ मई, १९८१ को श्री खान ने एक मकान का ताला तोड़ने के लिए गोली चलाई थी। समिति की राय में उस

दरवाजे को तोड़ने की कोई जरूरत न थी। उस घर में बाहर से ताला बन्द था।

समिति ने कहा है कि रामचन्द्र खान ने बड़ी दरगाह के पास हुए इस गोली-काण्ड के सम्बन्ध में अपनी रपट जाँच समिति को नहीं दी जबकि समिति ने इसके लिए उन्हें कई स्मरण पत्र भेजे और श्री खान ने रपट देने का जबानी आश्वासन भी दिया था।

समिति ने दंगे की पृष्ठभूमि बताई है कि बिहारशरीफ में एक मुसलमान आई पी.एस. के आरक्षी होने के कारण उन मामलों में तेजी से और निष्पक्ष पुलिस-कार्रवाई नहीं हो सकी जिसमें मुसलमान शामिल थे। और इससे हिन्दुओं में प्रशासन के प्रति अविश्वास बढ़ा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को भी वहाँ अपनी जड़ें जमाने का अवसर मिला (पेज : ५)। दंगे के दिनों नालंदा में (जिसका मुख्यालय बिहार-शरीफ में है) रामसिंगार सिंह जिलाधिकारी और नियाज अहमद आरक्षी अधीक्षक थे। श्री अहमद से पहले भी एक मुसलमान ही वहाँ आरक्षी अधीक्षक थे।

समिति ने कहा है कि बिहारशरीफ में कब्रगाहों की जमीन को लेकर साम्प्रदायिक तनाव बहुत दिनों से रहा था। हिन्दू जहाँ कब्रगाह की जमीन पर कब्जे की कोशिश करते थे, वहीं मुसलमान कब्रगाह की जमीन का विस्तार चाहते थे। इस तनाव को हवा देने में आर.एस.एस. के कुछ कार्यकर्ताओं का भी रोल था। कब्रगाह की जमीन बढ़ाना चाहते थे जिसे रोकने के लिए हिन्दुओं ने शिवलिंग की स्थापना कर दी थी।

प्रशासन ने दोनों सम्प्रदायों को बड़ी संख्या में हथियार इकट्ठे करने का मौका दिया जिनका ४ मई १९८१ की रात में जम कर उपयोग हुआ।

इससे बढ़े तनाव की खबर खुफिया पुलिस ने अधिकारियों को समय पर नहीं दी। बावजूद इसके कि जिले में खुफिया पुलिस के कई अधिकारी थे। खुफिया तंत्र की लापरवाही के लिए बड़े अफसर भी जिम्मेदार थे।

३० अप्रैल १९८१ को दंगा शुरू होने से पहले तक पटना प्रमण्डल के आयुक्त और उपमहानिरीक्षक को कोई सूचना नहीं थी। मुख्य सचिव पी.पी. नैय्यर के आदेश पर ही वे बिहारशरीफ गये। पर उनके आने से कोई खास फर्क नहीं पड़ा। हाँ, उन्होंने जिलाधिकारी और आरक्षी अधीक्षक का ध्यान अपनी ओर खींच कर दूसरे कामों में बाधा जरूर पहुँचाई। समिति की राय में ऐसे मौकों पर बड़े अधिकारियों को भेजने की परम्परा पर सरकार को सोचना चाहिये।

समिति ने इस बात की भी आलोचना की कि जिला और प्रमण्डल स्तरों के अधिकारी प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकारों को संदेश भिजवाते रहे कि हालत काबू में है जबकि बिल्कुल नहीं थी। (पेज-१४)।

पर जिलाधिकारी और आरक्षी अधीक्षक ने ३ मई को मुख्य सचिव को भेजे

सन्देश में मंजूर किया कि हालत गम्भीर बनी हुई है। इस सन्देश में अधिक पुलिस फोर्स की मांग की गई।

जांच समिति ने मगन दीवान मुहल्ले की घटना को लेकर थानेदार शर्मा की सख्त आलोचना की है। समिति ने कहा कि उन्होने पुलिस पार्टी के साथ दंगाइयो का पीछा किया पर आश्चर्य की बात है कि एक आदमी भी पकडा नही गया जबकि दंगा साढ़े नौ बजे रात तक होता रहा, जिसमें दो जन मारे गये और दोनो तरफ कई लोग घायल हुए और जायदाद का भी नुकसान हुआ। आयुक्त से लेकर नीचे तक के सभी अधिकारी पहले १६ घंटे तक बिल्कुल लापरवाह रहे।

जांच समिति ने यह भी कहा है कि पुलिस गश्त की अच्छी व्यवस्था नही थी और जिलाधिकारी उस समय भी कंट्रोल रूम से सम्पर्क में नही थे जब अली नगर में १ मई को भीषण दंगा हो रहा था। आरक्षी अधीक्षक और जिलाधिकारी घटना के कई घंटे बाद वहा पहुंचे। किन्तु आयुक्त और आरक्षी उप महानिरीक्षक तो वहाँ गये ही नही। यदि अलीनगर मे पुलिस-गश्त चालू रहती तो वहां कत्लेआम टाला जा सकता था। दण्डाधिकारी के साथ पुलिस गश्त नाम की कोई चीज नहीं थी।

जाच समिति ने लिखा कि जिलाधिकारी और आरक्षी अधीक्षक ने अपने को निर्दोष बताने के लिए झूठे गवाह जुटाने की कोशिश की है। इन अधिकारियो ने अपनी रपट में कहा है कि दंगे के समय कारगर ढंग से गोली चलाने का आदेश था, किन्तु उस आदेश पर तारीख नही थी। यानी, इस तरह का आदेश कभी जारी ही नहीं हुआ था (पेज-४४)।

सुब्रह्मण्यम ने यह भी कहा है कि मेरी निजी राय है कि इतनी ज्यादा जमीन कब्रगाह के लिए नही छोड़ी जानी चाहिए। इसलिए मुसलमानो से बातचीत करके उन्हें राजी करना चाहिए कि पुरानी कब्रगाहों का फिरसे उपयोग होता रहे। हिन्दू नेताओं को भी राजी करना चाहिए कि जहाँ-तहां शिवलिंग या मूर्ति नही गाडी जाए। यह बात देश की दूसरी जगहों पर भी लागू होनी चाहिए।

मेरठ

स्वतंत्रता संग्राम का प्रारम्भ १८५७ में मेरठ से हुआ था। ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रान्तिकारियों पर चलाया गया मुकदमा—मेरठ षड्यंत्र मुकदमें को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली थी। कहने का मतलब यह है कि मेरठ स्वतंत्रता सेनानियों और क्रान्तिकारियों का गढ़ रहा। भारत विभाजन के वक्त १९४६-४७ में मेरठ के आस पास के इलाके साम्प्रदायिक दंगों से बुरी तरह ग्रस्त थे, तब भी मेरठ अपेक्षाकृत शान्त रहा था।

पांच लाख की आबादी के इस शहर में हिन्दू और मुसलमानों की संख्या लगभग बराबर है। स्वतंत्रता के बाद हिन्दू और मुसलमानों में साम्प्रदायिक सौहार्द बना रहा और दोनों ही सम्प्रदाय के लोग मिल जुल कर रहे। आपस में एक दूसरे के तीज त्योहार में शामिल होते रहे।

१९८१ तक सब कुछ सामान्य और ठीक-ठाक रहा। १९८२ के प्रारम्भ में शाहाघासा भवन को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में तनाव की सृष्टि हुई। दोनों ही सम्प्रदायों ने शाहाघासा भवन पर अपना दावा पेश किया। मुसलमानों ने उसे मजार बताया तथा हिन्दुओं ने उसे मंदिर, जबकि सच्चाई यह थी कि वह न तो मजार थी और न ही मन्दिर था, बल्कि वहाँ एक प्याऊ था।

इसे लेकर दोनों सम्प्रदायों में महीनों तनाव चलता रहा। हालांकि हिन्दू-मुसलमानों में वैमनस्य की सृष्टि चुनाव के अवसरों पर होने लगी थी। राजनीति में सक्रिय दोनों ही सम्प्रदायों ने शाहाघासा विवाद को तूल देकर लोगों की साम्प्रदायिक भावना को उभारा। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और जनता पार्टी ने इसमें सक्रिय भूमिका निभाई। विश्व हिन्दू परिषद भी इस अंचल में सक्रिय हो गई। दूसरी तरफ दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम बुखारी ने मुसलमानों की तरफ से मोर्चा संभाला। उन्हें जमायते इस्लामी तथा अन्य मुस्लिम संगठनों का समर्थन भी इस सवाल पर मिला हुआ था। कांग्रेस के अधिकांश हिन्दू नेताओं का हिन्दू साम्प्रदायिकों के साथ तथा मुसलमान नेताओं की मुस्लिम साम्प्रदायिकों के साथ सहानुभूति व समर्थन था।

२७ मार्च १९८२ को शहर में तैनात एस० एस० पी० के समर्थन से हिन्दुओं ने इस स्थान को पीपलेश्वर मन्दिर घोषित कर दिया और इस पर झण्डे फहरा दिये। बाद में शहर के दोनों ही पक्ष के प्रमुख लोगों को मजिस्ट्रेट ने बुला कर

यह तय किया कि इस स्थान को पूरी जांच के बाद फैसला होने तक यूंही छोड़ दिया जाय। लेकिन अगस्त में शिवरात्रि के दिन निषेधाज्ञा धारा १४४ के बावजूद हिन्दू जबरन वहां गये और शिवरात्रि मनाई। हिन्दुओं द्वारा मन्दिर की देखभाल के लिए वहाँ एक पुजारी भी नियुक्त कर दिया गया।

अगस्त मे जामा मस्जिद के शाही इमाम ने कई दौरे किये तथा मुसलमानों की एक सभा में उत्तेजनापूर्ण भाषण देते हुए उन्होने यह घोषित किया कि शाहाधासा भवन एक मजार है और मजार ही रहेगी। इस मामले मे वे और कोई फैसला मानने को तैयार नहीं। इसी बीच ६ सितम्बर को शाहाधासा भवन के कथित पुजारी की हत्या कर दी गई। बस क्या था। हिंसा का ज्वालामुखी फट पड़ा और सितम्बर-अक्टूबर तक हिंसा का ताण्डव नृत्य होता रहा जिसमे १०० से अधिक लोग मारे गये, सैंकड़ों घायल हुए तथा करोड़ों रुपये की सम्पत्ति नष्ट हुई व लूट ली गई।

१९८२ के प्रारम्भ से ही वहां तनाव चल रहा था। महीनो बाद यानी सितम्बर में दंगे भड़के। यह तथ्य इस बात को उजागर करता है कि तनाव खत्म करने की कोई कारगर कोशिश नही की गई। क्योंकि प्रशासन और राजनीतिक नेताओं को काफी वक्त मिला और वे चाहते तो समस्या का निपटारा कर सकते थे। लेकिन ऐसा कुछ किया नही गया। स्थिति में तनाव तब तक बना रहा जब तक कि वह हिंसात्मक दंगे में परिणत न हो गया।

अन्य स्थानो की तरह यहा भी यह देखा गया है कि कई हिन्दुओ ने अपने मुहल्ले में मुसलमानों को तथा कई मुसलमानों ने हिन्दुओ को अपने घरो में पनाह दी और बचाया।

पहासू

उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर से चालीस किलो मीटर दूर एक छोटा सा शहर है-पहासू। १९८३ के अक्टूबर मे काली पूजा के जुलूस को लेकर यहां हिन्दू मुसलमानो के बीच दंगा हो गया, जिसमे तीस व्यक्ति घायल हुए, २८ दुकाने और तीन घर जला दिये गये। कालीपूजा के आयोजक, काली जुलूस को जिस इलाके से ले जाना चाहते थे, वहां रास्ते में मस्जिद पड़ती थी। पुलिस को डर था कि इस रास्ते से अगर जुलूस गया तो दंगा हो सकता है क्योंकि उक्त रास्ते से काली जुलूस ले जाने पर मुसलमानों को एतराज था।

काली जुलूस को लेकर शहर में तीन दिन तक तनाव रहा। पिछले कई सालो से शहर के सुभाष बाजार के नुक्कड तक जुलूस जाता था और आगे एक मस्जिद होने के कारण जुलूस को नुक्कड़ से दूसरे रास्ते में मोड़ दिया जाता था। इस बार भी थानाध्यक्ष ने दोनों पक्षों को बुलाकर जुलूस के लिए पुराना रास्ता ही तय किया। लेकिन जुलूस जब कि सुभाष बाजार के नुक्कड़ तक पहुंचा तो कुछ लोगों ने उसे मोडने के बजाय विवादास्पद रास्ते से ले जाने पर जोर डाला। इसमें काली का रूप धारण करने वाला एक आदमी था, जो जुलूस को अपने चाचा की दुकान तक ले जाना चाहता था, जो कि विवादास्पद रास्ते में पड़ती थी। पुलिस और मुसलमानों ने जुलूस को रोकने की कोशिश की पर, कुछ युवक, लोगो को उत्तेजित कर उस रास्ते पर जबरन जुलूस ले चले। जुलूस जैसे ही मस्जिद के सामने पहुंचा, मस्जिद से पथराव शुरू हो गया इस पर एक दरोगा और पाँच सिपाहियों की कुल जमा फोर्स ने घबरा कर हवा में गोलियां चलाईं ताकि लोग तितर-बितर हो जायें। बस फिर क्या था। भगदड़ मच गई और लोगों ने दुकानों मे आग लगा दी और लूट पाट की। बाद में जिला प्रशासन ने मुस्तैदी से काम लिया, जिससे स्थिति और अधिक बिगड़ने से बच गई। फिर भी बहुत दिनों बाद स्थिति सामान्य हुई।

शोलापुर

१५ अक्टूबर, १९८४ की रात को शोलापुर जिले के करनला मे हुए साम्प्रदायिक विस्फोट पर आज तक प्रकाश नही डाला गया। आज तक यह रहस्य ही है कि दशहरेका जुलूस जब करनला गाव की गली से गुजर रहा था तो किसने पत्थर फेंके ? दंगा इसी पत्थरबाजी से शुरू हुआ। शोलापुर से ६० मील दूर करनला तहसील की आबादी २०,००० है। इसमें मुस्लिम-जनसख्या ३००० है।

इसके पहले करनला में साम्प्रदायिक दंगे कभी नही हुए थे। दरअसल एक जगह तो कई सालो से एक हिन्दू परिवार ताजिया अपने घर से बैठाता था और परिवार के मुखिया की मृत्यु के पश्चात उसके बेटे परम्परा को निभाते जा रहे थे। इस साल भी पांच छः ताजिये भिन्न-भिन्न स्थानों पर बैठाये गये। पर एक जगह १५ फीट की दूरी पर दुर्गा की मूर्ति स्थापित की गई। संयोग से मुहर्रम और नवरात्रि एक ही दिन पडे थे।

दुर्गा-पण्डाल में भजन का कार्यक्रम चल रहा था। रास्ते पर भीड बैठी हुई थी और भजन हो रहे थे। दूसरी ओर मुसलमानो का जुलूस भी रास्ते से ताजिया तक पहुंचने की चेष्टा कर रहा था। दोनों सम्प्रदायो के बीच पहले बाताबाती हुई, जिसमें एक मुसलमान को छुरा भोंक दिया गया। बाद में एक कांस्टेबुल घायल हुआ और एक हिन्दू के सिर पर लाठी की चोट आई। पुलिस ने हस्तक्षेप किया। किन्तु कोई गिरफ्तारी नही की, क्योंकि विशिष्ट व्यक्तियों से दंगाइयों का सम्बन्ध था और अधिकारी वर्ग आग में घी डालकर तनाव बढाना नहीं चाहते थे। मामला शनिवार की रात को नवरात्रि के आठवें दिन समाप्त हो गया।

अगले दिन सुबह दोनो सम्प्रदाय के मठाधीश, वहां के विधायक श्री नामदेव राव जगताप (जो इस निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधित्व १९५२ से कर रहे है) के घर मिले। वे रविवार को निकलने वाले दशहरे के जुलूस के बारे मे बहस कर रहे थे। आखिर जुलूस निकला। जुलूस जब एक जैन मन्दिर और मस्जिद के पास गुजरा तो इस पर पत्थर फेंके गये। तदुपरान्त दोनों ओर से जोरदार पत्थरबाजी हुई। पुलिस पहले ही पूरी तादाद मे थी, जिसमें राज्य के पूना से बुलाये गये सुरक्षा दलों के लोग भी शामिल थे। पुलिस ने नौ राऊण्ड गोलियां

चलाई। छः लोग गोलियों से मरे। दो की तो घटना स्थल पर ही और बाकी चार की अस्पताल ले जाने के दौरान मृत्यु हो गई। दो और व्यक्ति पत्थरबाजी से घायल होने के कारण मरे।

हिन्दुओं का यह दावा था कि पत्थर मस्जिद से फेंके गए थे, जबकि अधिकारियों को इस बात पर संदेह था। दरअसल मस्जिद का सड़क की ओर दरवाजा नहीं था। और हाल के अन्दर जाने के लिए एक पांच फीट संकरे रास्ते से गुजरना पड़ता है। हिन्दुओं का यह आरोप कि उस समय मस्जिद में ४०० लोग उपस्थित थे, भी मिथ्या है क्योंकि मस्जिद में इतने लोग एक साथ आ ही नहीं सकते।

हाल के कुछ सालों में पुना के संगठन, हिन्दू एकता आन्दोलन और पतित पावन साम्प्रदायिक दंगों से मुक्त करनाल क्षेत्र में काफी सक्रिय हो गये हैं। वे घोर हिन्दू कट्टरवादी हैं जिन्होंने क्षेत्र की एकता व सद्भावपूर्ण वातावरण में खलबली मचा दी।

पुलिस के अनुसार पतित पावन संगठन बम्बई से ४०० मील दूर—धूले में भी मुश्किल खड़ी करना चाहता था। अगस्त में स्वाधीनता दिवस के उपलक्ष्य में वे आजादी के शहीदों को सम्मान देने के लिए एक जुलूस निकालना चाहते थे। उन्होंने अधिकारियों को एक सूची दी जिसमें गांधी, पं० जवाहरलाल नेहरु, नेताजी बोस, सावरकर और हमीद दलवाई के नाम भी थे। अधिकारियों को पहले ही कुछ छल की आशंका थी, क्योंकि दलवाई आजादी की लड़ाई के शहीद नहीं थे। वे एक समाज सुधारक थे और उनका नाम सूची में सिर्फ मुसलमान सम्प्रदायिक कट्टरपंथियों को उकसाने के लिए रखा गया था, जो उसके सुधारों से असन्तुष्ट थे। खैर संगठन के किसी विशिष्ट व्यक्ति की मृत्यु हो जाने के कारण जुलूस न निकला। और झगड़ा होते-होते रह गया।

हजारीबाग

हजारीबाग मे ८ अक्टूबर १९८४, सोमवार को दो दलो की आपसी मुठभेड में दो व्यक्तियों के मारे जाने और कुछ लोगो के घायल हो जाने की वजह से शहर की स्थिति और अधिक तनावपूर्ण हो गई। दगे की शुरुआत उस समय हुई जब दूसरे सम्प्रदाय के एक धार्मिक स्थान के करीब से गुजरते हुए विसर्जन जुलूस पर जान-बूझ कर कुछ असामाजिक तत्वों ने आक्रमण किया।

कुछ चश्मदीद गवाहों के मुताबिक आक्रमण का कोई तात्कालिक कारण नही था। जुलूस जब घाट के करीब पहुंचने को था, कुछ असामाजिक तत्वो ने जुलूस पर पथराव किया और गोले फेंके जिसकी वजह से प्रतिमा को नुक्सान पहुँचा और कुछ लोगो को चोट भी लगी। दुर्घटना स्थल पर एक किशोर घायल हुआ था, जिसकी बाद मे मृत्यु हो गई। मंगलवार को सुबह इन्द्रपुरी इलाके मे एक सरकारी कर्मचारी का शव पुलिस द्वारा बरामद किया गया।

इस दुर्घटना के विरोध मे हजारीबाग में सभी दुकानें और व्यापारिक प्रतिष्ठान बन्द रहे।

दोनों जाति के अधिकांश लोगों ने दुर्घटना के लिए स्थानीय प्रशासन को दोषी ठहराया। जबकि प्रशासनिक अधिकारियों ने पूजा-आयोजको को दोषी ठहराया। क्योंकि वे विसर्जन-जुलूस को तय किये गये रास्ते से न ले जाकर अन्य रास्ते से ले गये। उन्होंने कुछ और निर्देशो की भी अवज्ञा की।

यह आश्चर्यजनक है कि जहा दगा हुआ, उस सडक से अगर जुलूस ले जाने की अनुमति नही थी तो प्रशासन ने आपत्ति क्यो नही की? स्थानीय निवासियो का कहना है कि अगर यह क्षेत्र इतना ही तनावग्रस्त था, तो प्रशासन ने सशस्त्र पुलिस की समुचित व्यवस्था क्यो नही की? जब दंगा हुआ, उस वक्त वहा स्थिति को काबू मे लाने के लिए कोई पुलिस नही थी। सशस्त्र पुलिस तो कुछ देर बाद घटना स्थल पर पहुँची थी, लेकिन तब तक दगा हो चुका था।

कुछ लोगों का तर्क है कि जब अधिकांश प्रतिमा विजयादशमी के दिन, रविवार को विसर्जित हो चुकी थी, तो इस विशेष प्रतिमा को एक दिन बाद लम्बे रास्ते मे ले जाने की अनुमति क्यो कर दी गई?

भिवंडी और बम्बई

भिवंडी में साम्प्रदायिक हिंसा का फूटना और उसका बम्बई तथा आसपास के इलाको मे फैलना साबित करता है कि राज्य प्रशासन ने कितनी मुजरिमाना लापरवाही बरती। और उसका सतर्कता तत्र कितना नाकाम रहा।

न तो भिवडी मे और न बम्बई मे साम्प्रदायिक हिंसा अकस्मिक थी। यह भी सच है कि हिंसा को भड़काने और संगठित करने मे शिव सेना के प्रमुख बाल ठाकरे ने मुख्य भूमिका अदा की लेकिन इका और इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग को भी जिम्मेदारी से बरी नही किया जा सकता।

भिवडी महाराष्ट्र का प्रमुख पावरलूम केन्द्र है और वह १९७० में साम्प्रदायिक हिंसा की चपेट मे आया था। उस समय दगे तब भड़के थे जब शिव सेना द्वारा सगठित किये गये एक शिवाजी जयंती जुलूस के आयोजको ने मुस्लिम इलाकों से होकर गुजरने के लिए जिद की और भड़कावपूर्ण नारे लगाये।

१९७० की घटनाओ के बाद राज्य सरकार ने शिवाजी जयन्ती जुलूस को मुस्लिम इलाको मे से होकर गुजरने पर रोक लगा दी। यह रोक १४ वर्ष जारी रही। भिवंडी, मलाड और जलगाव के दंगों की जाच के लिए नियुक्त किये गये मदान आयोग ने राय जाहिर की थी कि उक्त जुलूस को, रोक लगाये इलाकों मे से कभी गुजरने ही नही दिया जाना था। उसने स्पष्ट शब्दों मे शासक पार्टी, शिवसेना और जनसघ की निन्दा की थी कि उन्होंने साम्प्रदायिक सद्भावना के प्रश्न पर इतना बेदर्दी का रुख अपनाया।

१९८४ मे मालगांव (जिला नासिक) के साम्प्रदायिक दंगों के बाद पतित पावन, जन-जागरण, आदि जैसे विभिन्न हिन्दू साम्प्रदायिक सगठन पश्चिम महाराष्ट्र में और राज्य के दूसरे भागो मे सक्रिय हो गये थे। ये शिवसेना के साथ मिलकर माग कर रहे थे कि भिवडी मे शिवाजी जयन्ती जुलूस पर रोक हटाई जाये।

महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री वसत दादा पाटिल ने, जो शासक पार्टी की गुटबाजी व लड़ाइयो मे गले तक डूबे हुए थे, दबाव मे आकर चौदह साल से लगी हुई रोक हटा दी।

३ मई को शिवसेना के अंध-भक्तो ने शिवाजी जयन्ती जुलूस निकाला जिसे 'विजय जुलूस' का रूप दे दिया गया और मुसलमानो को धमकी दी गई कि यदि

व ढंग से नही रहे तो उन्हें मजा चखा दिया जाएगा। भडकावपूण नारे लगाए गए। इसने मुसलमानों में इतनी घबराहट पैदा कर दी कि ४ ही उन्होने ज्यादा सुरक्षित जगहों की ओर भागना शुरू कर दिया। तमाम उर्दू अखबारो ने नमक मिर्च लगाकर खबर छापी कि हिन्दू साम्प्रदायवादियो द्वारा बरपा किए गए आतंकराज के कारण मुसलमान लोग भिवडी छोडकर भाग रहे हैं। चूकि इस आतक-अभियान में अगुआई भूमिका शिवसेना द्वारा अदा की जा रही थी, इसलिए मुसलमानो की मिल्कियत वाले पावर-लूम पर काम करने वाले दक्षिण भारतीय लोग भी भागने लगे।

भिवंडी मे स्थिति ३ मई से ही तनावपूर्ण थी। राज्य सरकार को इसका पता था। लेकिन उसने स्थिति को शात करने के लिए इससे ज्यादा कुछ नही किया कि एस. आर. पी. की टुकडी वहा तैनात कर दी और एस. आर. पी. तमाम दूसरे सशस्त्र राज्य पुलिस बलों की भांति अपने मुस्लिम विरोधी पक्षपात के लिए बदनाम है।

मालगाव के दंगों ने तमाम किस्म के सम्प्रदायवादियों को राज्य मे अपने पंजे फैलाने मे मदद की थी। मुस्लिम सम्प्रदायवादियो ने एक नई परम्परा शुरू की कि मुस्लिम त्यौहारों के मौके पर हरे झण्डे फहराये जायें, उसी तरह जैसे हिन्दू सम्प्रदायवादी हिन्दू त्यौहार और स्वतंत्रता-दिवस, गणतंत्र-दिवस आदि जैसे राष्ट्रीय त्यौहारों के मौकों पर भगवे झण्डे फहराने लगे हैं। १९८३ मे मालगांव मे स्वतंत्रता-दिवस के मौके पर राष्ट्रीय तिरंगों से ज्यादा बडी सख्या में भगवे झण्डे फहराये गये थे।

जब मुस्लिम सम्प्रदायवादियो ने त्यौहारों के मौके पर हरे झण्डे फहराने का आह्वान किया था तो तमाम धर्मनिरपेक्ष शक्तियो ने जिनमें मुस्लिम धर्मनिरपेक्ष शक्तियां थीं, उनकी निन्दा की थी, लेकिन सम्प्रदायवादी अपनी योजना पर जमे रहे।

१६ मई को शबे-बरात की पूर्व संध्या पर उन्होने भिवंडी मे हरे झण्डे का आह्वान किया। कस्बे के उत्तेजित वातावरण मे तनाव और बढ गया। एक खम्भे पर जहां भगवा झण्डा पहले से फहरा रहा था, हरा झण्डा फहराने के प्रश्न को लेकर झगड़ा शुरू हो गया। शिव सैनिक और दूसरे सम्प्रदायवादी १९७० को दोहराने की ताक में बैठे थे और इस मौके का फायदा उठा उन्होने लूट मार, हत्याओ और आगजनी की शुरुआत कर दी। १८ घंटे के अन्दर ४ बस्तियां, जिनमे ज्यादातर गरीब लोग रहते थे, जला कर राख कर दी गयी और लगभग १० हजार आदमी बेघरबार बना दिये गये।

१७ से २२ मई तक भिवंडी मे जो कुछ हुआ वह समूचे राष्ट्र के लिए शर्म

की बात थी। गुण्डो को अल्पसंख्यकों के जानमाल से खिलवाड करने की खुली छूट दे दी गई। २७ लोग, जिनमे २ बच्चे शामिल थे और जिन्होने एक फार्म-घर पर जा कर शरण ली थी, पहले छुरो के वारों के शिकार बनाये गये और बाद मे जिन्दा जला दिये गये और यह सब कुछ एक. एस. आर. पी, की टुकडी की मौजूदगी मे हुआ। पहले दो दिन से खबरें आने लगी थी कि एस. आर. पी. के जवान, दगाइयो और आगजनी के खिलाफ कोई कारंवाई करने से इन्कार कर रहे हैं।

अब बम्बई पर आया जाये। यहां शिवाजी जयती दिवस पर एक सभा मे शिव सेना प्रमुख बाल ठाकरे ने मुसलमानो के खिलाफ एक भडकावपूर्ण भाषण दिया और उन्हें राष्ट्र के लिए गद्दार घोषित किया। जहां तक श्री ठाकरे का प्रश्न है उनके लिए यह कोई नई बात नही। वे मुसलमानों, दक्षिण भारतीयों और खास तौर पर कम्युनिस्टों के खिलाफ भडकावपूर्ण और अपमानजनक शब्दो का इस्तेमाल लगातार करते हैं। उन्होंने ही एलान किया था कि कम्युनिस्टो को बम्बई से खत्म कर देने का काम पूरा करने के बाद अब वे मुसलमानो को भगाने का काम हाथ मे लेंगे। (आजकल वे तमाम गैर मराठा लोगों के विरुद्ध जहर उगलने मे लगे हैं।)

साठ के दशक मे शिव सेना के बनने के लिए मदद और बढावा काग्रेस से मिला था ताकि बम्बई के शक्तिशाली मजदूर आन्दोलन मे फूट डाली जाये और उसे तोड़ा जाये और इसमें सफलता मिली।

शिव-सेना और मुस्लिम सम्प्रदायवादी खास तौर पर इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग हमेशा ऐसे मुद्दों की तालाश में रहते है जो चुनावों, खास तौर पर महानगरपालिका के चुनावो के मौकों पर साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण को जन्म दें। एक बार 'वन्दे मातरम्' गाने का प्रश्न गरमा गरम मुद्दा बनाया गया था।

इंडियन यूनियन मुस्लिम लीग वालो और उन जैसो ने श्री ठाकरे के भाषण का इस्तेमाल साम्प्रदायिक भावनाएँ भड़काने के लिए किया।

एक ईका विधायक ए.आर खां ने परभणी मे श्री ठाकरे की तस्वीर को चप्पलों की माला पहनायी, बताते है।

इस अपमान का बदला लेने के लिए बाल ठाकरे ने बम्बई में पूर्ण बन्द का आह्वान किया। १५ मई से महानगर के विभिन्न भागों में बंद आयोजित किए जा रहे थे। शिव सैनिकों के संगठित गिरोह दुकानदारों को अपनी दुकानें बद करने के लिए धमकाते फिर रहे थे। शहर में जबरदस्त भय की भावना व्याप्त थी।

भिवंडी का साम्प्रदायिक उपद्रव पूर्व नियोजित था और इस कस्बे को हिंसा

की लपेट मे फसाने के बाद सगठित गिरोह बम्बई के लिए रवाना हो गए, जहा भावनाएँ पहले से ही उत्तेजित थी। स्वय मुख्यमत्री के अनुसार पहली घटना बम्बई के नजदीक गणेतिपुरी रोड पर हुई जहां ट्रको पर सवार गुण्डो ने दो झोपडिया जला डाली।

उसी दिन बम्बई पर भी गुण्डो का कब्जा हो गया। शहर के विभिन्न भागो मे फौज तैनात की जाने के बावजूद हत्याएँ और छुरेबाजी जारी रही। पहले तीन दिनो तक मुख्यत' शिव सैनिको और आर. एस. एस के स्वयसेवकों ने हमलों की रहनुमाई की। वे कितने सगठित थे इसका अन्दाजा देने के लिए एक उदाहरण काफी होगा।

मध्य बम्बई मे एक बहुमजिली इमारत है—शाहीन मजिल। जिसमे सिर्फ चौथी मजिल मे कुछ मुसलमान परिवार रहते हैं। जब गुण्डों ने इस इमारत पर हमला किया तो सिर्फ यह चौथी मंजिल ही तहस-नहस की गयी किसी और मजिल को कुछ भी नही किया गया।

२१ अप्रैल से, २१ मई १९८४ के मध्य, महाराष्ट्र मे भडकी साम्प्रदायिक हिंसा मे सरकारी आकडो के अनुसार १९३ लोगो की जान गयी। स्थिति इतनी अनियन्त्रित हो उठी कि भिवडी, थाने और आस-पास के क्षेत्र मे हिंसा के ताण्डव नृत्य को रोकने के लिए फौज का सहारा लेना पडा। पुलिस और प्रशासन दोनो ही दंगो को रोकने में नाकामयाब रहे।

तनावपूर्ण वातावरण की शुरुआत २१ अप्रैल को हिन्दू एकता सघ द्वारा चौपाटी मे आयोजित एक जनसभा मे शिव सेना प्रमुख बाल ठाकरे के उत्तेजनापूर्ण भाषण से हुई, जिसमें उन्होने अल्प संख्यक मुसलमानो के विरुद्ध आपत्तिजनक भड़काव-पूर्ण वक्तव्य दिए थे। उनके इस भाषण पर आधारित एक लेख पूना से प्रकाशित मोबत मे छपा बाद मे इसे और भड़काऊ बना कर तीन उर्दू पत्रों ने अनुवाद कर प्रकाशित किया।

बाल ठाकरे के इस भाषण को लेकर उर्दू अखबारो ने मुसलमानो को उत्तेजित करने में कोई कसर न छोडी। उर्दू पत्रों व मुसलमान नेताओ ने उनके भाषण को बहुत तूल दिया। नमक मिर्च लगाकर ठाकरे के भाषण के उत्तेजक अंशो को बढा चढा कर मुसलमानो के मध्य प्रस्तुत किया। मुसलमान भी बदले की आग मे भड़क उठे। फलस्वरूप साम्प्रदायिकता की आग मे दर्जनो की बलि चढ गयी। प्रशासन यहां भी बुरी तरह असफल रहा।

दंगों का त्योहार

१९८४ में दशहरा और मुहर्रम के मध्य सिर्फ एक दिन का अन्तराल था। बृहस्पतिवार ४ अक्टूबर को दशहरा और उसके बाद के शनिवार ६ अक्टूबर को मुहर्रम। चूंकि मुसलमान लुनार कैलेण्डर को मानते हैं इसलिए इससे पहले भी इतने आस-पास की तारीख में ये दोनों त्योहार पड़े हैं। लेकिन इस वर्ष पहली दफे इन दोनों त्योहारों के अवसर पर साम्प्रदायिक लपटों की चपेट में लगभग पूरा का पूरा राष्ट्र आ गया। इन त्योहारों के शुरू होने से समाप्त होने तक, देश के १० राज्यों में २३ जगह दंगे हुए। शुक्र तो इस बात का है कि इन दंगों में मौतें काफी कम हुई और किसी भी दंगे ने वृहत् रूप अख्तियार नहीं किया। लेकिन इन घटनाओं का घटना ही चिन्ताजनक स्थिति का सूचक है। क्योंकर एक ही समय में इतने स्थान पर हिंसा की वारदात हुई? क्या इन सबके पीछे कोई षडयंत्र था? या फिर दोनों सम्प्रदायों में त्योहार मनाने के लिए अति उत्साह था, जिसकी वजह से वातावरण उत्तेजित हुआ और छोटी-छोटी बात को तूल दे दिया गया। इन दिनों घटित कुछेक घटनाओं का जिक्र करना अप्रासंगिक नहीं होगा क्योंकि इससे स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता के जहर ने दिलो दिमाग को कितना जहरीला बना दिया कि छोटी सी घटना कितने विषाक्तपूर्ण वातावरण की सृष्टि कर सकती है।

नागदा :—एक गौरवपूर्ण परम्परा की समाप्ति

५ अक्टूबर १९८४ से पहले तक नागदा के लिए यह पूरे गर्व के साथ कहा जा सकता था कि यह अंचल साम्प्रदायिक उन्माद के प्रभाव से बिल्कुल अछूता है। बावजूद इसके कि नागदा के हर दस व्यक्तियों में से तीन मुसलमान हैं और जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ लम्बे अर्से से इस क्षेत्र में हावी रहे हैं। यहां तक कि १९४७ के विभाजन की हल्की सी प्रतिछाया भी नहीं पड़ी, इस नगर पर। हिन्दू और मुसलमान दोनों संकट ने की हर घड़ी का मुकाबला मिल जुल कर किया।

किन्तु नागदा को शायद किसी की बुरी नजर लग गई। उसकी गौरवपूर्ण परम्परा गत ५ अक्टूबर को कलंकित हो गई। सदियों से जिन हिन्दुओं और मुसलमानों में भाईचारा और आपसी सद्भाव था, वह न जाने एकाएक शून्य में तिरोहित हो गया। वे अपनी भारतीयता भूल कर हिन्दू और मुस्लिम

सम्प्रदायों मे बंट कर हिंसक हो उठे। इस हिंसा ने कई निर्दोष हिन्दू और मुसलमानों की जान ले ली। कई दुकानें स्वाहा हो गई।

यह दंगा एकाएक घटित नहीं हुआ था, बल्कि दो साल पहले इसका बीज बोया जा चुका था। हिन्दुओं के एक तबके ने दो वर्ष पूर्व एक मुसलमान परिवार की जमीन जबरन दखल कर उस पर एक मन्दिर बना लिया। मुसलमानो ने इस पर आपत्ति भी की किन्तु किसी तरह उन्हें उस वक्त समझा बुझाकर शान्त कर दिया। किन्तु गत २ सितम्बर को भारतीय जनता पार्टी के अब्दुल हमीद ने ३०० मुसलमानो के साथ एक खाली जमीन पर नमाज पढी और उसके तुरन्त बाद मस्जिद निर्माण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। उसी वक्त पुलिस ने वहा जा कर हस्तक्षेप किया और सब लोगो को वहा से भगा दिया। इस घटना के विरोध में भारतीय जनता पार्टी के हनुमान शर्मा ने दूसरे दिन नागदा बंद का आह्वान किया जो आशिक रूप से सफल हुआ। इसी बीच कांग्रेस (ई) के कुछ लोग व कुछ मुस्लिम नेताओ ने मुसलमानो को भड़का कर मस्जिद बनवाना जारी रखा।

इस घटना ने जिम्मेवार नागरिकों को सावधान कर दिया। आशंकित दुर्घटनाओं से बचाव के लिए २८ सितम्बर को एडिशनल जज सुश्री अजीत बाजपेयी की उपस्थिति में ७० सदस्यीय शाति समिति की स्थापना की गई।

दशहरे के दिन राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का पथ सचालन का जुलूस तनाव के बावजूद शान्तिपूर्ण ढग से सम्पन्न हो गया।

उपद्रव की शुरुआत हुई दुर्गा-विर्सजन के जुलूस से। जुलूस मे बैठे बाजे वालो ने मस्जिद के सामने से गुजरते वक्त बैण्ड बजाने से इन्कार कर दिया। बैंड वाले अधिकाश मुसलमान थे। किन्तु हिन्दुओ ने जबरन बजाने को मजबूर किया।

· दोनों सम्प्रदायों के लोग अभी भीतर ही भीतर सुलग रहे थे। इसी बीच एक और महत्वपूर्ण काण्ड हो गया, जिसकी वजह से घटनाओ ने इतना हिंसक और गभीर रूप ले लिया। उसी दिन उज्जैन जेल से एक कुख्यात गुण्डा इकबाल रिहा हुआ। किन्तु उसकी रिहाई की सूचना नागदा पुलिस को नही दी गई। नागदा आते ही स्थिति को जान समझ कर वह लोगों का एक विशाल जुलूस लेकर दुर्गापुरा (नया नागदा) के दरगाह पर चादर चढ़ाने गया। जुलूस में लोग सशस्त्र थे और उत्तेजित थे।

इधर प्रतिमा का विसर्जन कर हिन्दू अपना वापसी मार्ग बदल कर पुलिस स्टेशन पहुचे और एसिड आदि गिराने वाले युवकों की गिरफ्तारी की माग की। पुलिस इन्सपेक्टर एम० एम० खान अभी हिन्दुओं की उत्तेजित भीड़ को समझा ही रहे थे कि मुसलमानो के जुलूस की पुलिस स्टेशन पहुंचने की खबर मिली।

बडी मुश्किल से पुलिस ने ३०० मीटर की दूरी पर उसे रोक कर रखा। लेकिन दोनों सम्प्रदायों के उत्तेजित दलों के बीच अब ज्यादा दूरी नही थी। पुलिस के बीच-बचाव के बावजूद दोनो दल एक दूसरे पर हमला करने के लिए करीब आते गए और आजाद चौक मे दोनों की जोरदार भिड़न्त हुई। हिंसक भीड ने जमकर पथराव किया और इस संघर्ष में पुलिस के चार जवानों सहित आठ व्यक्ति घायल हुए। हालांकि उस वक्त किसी तरह पुलिस ने दोनो दलों पर काबू पा लिया, किन्तु लोगो के दिलो-दिमाग में बदले की आग, भडक उठी जिसकी हिंसक परिणि मे कई मुसलमानो की दुकानें जल कर राख हो गई। इतना ही नहीं रेलवे लाइन के निकट झुग्गियो मे ५० के लगभग लोगों ने हमला किया और मुसलमानों को निर्दयता से मारा।

हालांकि नागदा के राजनीतिक दल इन हिंसक घटनाओं के लिए एक दूसरे पर दोषारोपण करते रहा। लेकिन यह आपसी छीछालेदर क्या दलो और सम्प्रदायो के बीच की दूरी को पाटने मे सहायक हो सकती है? कदापि नही। इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप, समस्या के समाधान मे किंचित भी योग नही देते वरन् मनमुटाव पैदा कर बदले की भावना को ही बढावा देते हैं।

आसाम :

आसाम मे भी हिन्दू-मुस्लिम में आपस मे अच्छा मेलजोल और भाईचारा है। इसलिए यहा ४ अक्टूबर १९८४ से पहले तक कभी हिन्दू-मुस्लिम त्योहारों पर दंगा नही हुआ। हा, सीमावर्ती धुब्री जिला के मनकछार गांव में धार्मिक त्योहारो के दौरान थोडे बहुत संघर्ष दोनो जातियों के बीच अवश्य होते रहे है।

पिछले ४ अक्टूबर ८४ को पहली बार दोनो सम्प्रदायों के मध्य हिंसा की आग इतनी जोर से भडक उठी कि उस क्षेत्र मे कर्फ्यू लगाना पड़ा। कहा जाता है कि देवी-विसर्जन के दौरान जुलूस जब मस्जिद के सामने से गुजरा तो जुलूस के कुछ लोगों ने चावल और कुछ खाद्य सामग्री मस्जिद की ओर फेंकी। इससे क्रोधित मुसलमानो ने इकट्ठे हो कर जुलूस पर पथराव किया जिसमे चार सी० आर० पी० के कान्सटेबुल मारे गये। पुलिस ने घटना स्थल पर जाकर लाठियां चलाई और अन्त मे भीड को तितर-बितर करने के लिए गोलिया चलाई।

दूसरे दिन, पुलिस कुछ दंगाइयों को गिरफ्तार कर एक बस मे बैठा कर जिला मुख्यालय को ले जा रही थी, लगभग १००० बंगाली मुसलमानों की भीड़ ने पुलिस पर धावा बोल दिया। पुलिस ने भीड़ पर गोली चलाई जिसमे एक व्यक्ति मारा गया और कई घायल हुए। भीड़ के तितर-बितर हो जाने के

बाद तुरन्त क्षेत्र में कर्फ्यू लगा दिया गया। इसके बाद नगर में स्थिति बहुत ही तनावपूर्ण हो गई, जिस तनाव में एक हिन्दू नौजवान को छुरा भोंक कर मार दिया गया।

दंगे के पश्चात मुख्यमंत्री हितेश्वर साइकिया घटनास्थल पर गये और दोनों सम्प्रदायों से शांति की अपील की लेकिन उन्होंने भी इस घटना को सतही तौर पर ही लिया। रोग को निर्मूल करने के लिए, स्थायी उपचार के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया।

गुजरात :

गुजरात की औद्योगिक प्रगति का एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि यह राज्य दंगों-फसादों और साम्प्रदायिक तनावों से सर्वथा मुक्त सा रहा है। यही कारण है कि नवरात्रि, मुहर्रम और दीवाली से पूर्व अहमदाबाद के प्रमुख नागरिकों ने आने वाले त्योहारों के दौरान नागरिकों से शांति बनाये रखने की अपील की तो किसी ने भी इसे गंभीरता से नहीं लिया। किसी को भी तनाव तथा उपद्रव की तनिक भी आशंका व अपेक्षा न थी।

२८ सितम्बर को यह अपील की गई थी। दुर्भाग्य कुछ ऐसा रहा कि इसके ९ दिन बाद पालनपुर, पाटन नगरों में तथा इसके भी दो दिन बाद मेहसाना में हिंसक वारदातें घटित हुईं। पालनपुर और पाटन में तो दंगे ताजिये निकालने के दौरान हुए। मेहसाना के कल्लोल ग्राम में अनियंत्रित भीड़ को हटाने के लिए छः दौर में गोलियां चलानी पड़ी।

कारणों के विषय में यह अनुमान लगाया जाता है कि साम्प्रदायिक तनाव, कांग्रेस (ई) द्वारा क्षत्रिय, हरिजन, आदिवासियों और मुसलमानों को संरक्षण देने से उत्पन्न हुआ क्योंकि चुनावों में ७० प्रतिशत मतदान इन चारों जातियों के होते हैं।

दूसरी ओर भारतीय जनता पार्टी इन वोटों के कांग्रेस (इ) की ओर चले जाने की वजह से अन्य जातियों में अपना प्रभाव जमाने की पुरजोर कोशिश में है। चुनाव की यह विभाजित कर देने वाली सतही राजनीति ने सम्प्रदायों को भड़का कर तनाव उत्पन्न किया जिसकी दुःखद परिणति इन दंगों के रूप में हुई।

इन तीनों क्षेत्रों में हिंसक वारदातों में साम्प्रदायिकता को भड़काने के मूल में राजनीति थी। इनके लिए धार्मिक त्योहार व उत्सव स्वर्णिम अवसर उपलब्ध करवाते हैं।

बेलगांव :

कर्नाटक का एक शहर है—बेलगांव। महाराष्ट्र की सीमा से लगा।

पिछले तीन दशकों से कर्नाटक और महाराष्ट्र के बीच विवाद का विषय है। यहा मराठी बोलने वाले बहुमत मे हैं किन्तु कन्नड़ भाषी भी अच्छी तादाद में है। इनके अलावा मुसलमान हैं जो हमेशा कन्नडो को अपना समर्थन देते रहे हैं।

दंगे के लगभग हफ्ते भर पहले से ही वातावरण विषाक्त हो गया था। इन दंगों का कारण अन्य दंगो मे भिन्न था। तनाव की शुरुआत हुई शहर के केन्द्र मे स्थित एक चौक के नाम परिवर्तन को लेकर। १९४२ में मुहम्मद अली जिन्ना ने यहा एक सभा को सम्बोधित किया था। उन्ही के नाम पर इस चौक का नाम रखा गया था। नगर के हिन्दू नेताओ ने आजादी के ३६ वर्षों बाद इस नाम पर आपत्ति उठाई। उन्होने कहा कि जिन्ना एक आततायी और देशद्रोही थे, अत चौक का नाम किसी और के नाम पर होना चाहिए। मुसलमानो ने इसे स्वीकार तो कर लिया लेकिन वे चाहते थे कि टीपू सुल्तान अथवा मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के नाम पर चौक का नाम पड़े। किन्तु महाराष्ट्र एकीकरण समिति पिछले कारपोरेशन के चुनाव मे विजयी हुई थी। उसने चौक का नाम वीर सावरकर रख दिया। इससे मुसलमानो में असन्तोष और आक्रोश फैला। इसी घटना ने चिन्गारी का काम किया। इस मुद्दे पर पहली बार हिन्दुत्व के नाम पर कन्नडो ने मराठों का समर्थन किया जबकि इससे पहले तक कन्नड़ और मुसलमान हर मुद्दे पर एकमत रहे। मराठों को कन्नड़ और मुसलमानो का समर्थन इससे पूर्व नही मिला था।

१ अक्टूबर १९८४ को हिन्दुओ ने माग की कि मुसलमान मुहर्रम का परम्परागत जुलूस नही निकालेंगे। उन्होंने हिन्दुओं से बन्द का आह्वान किया।

बन्द के दो दिन पश्चात् ही मुस्लिम बहुसंख्यक इलाके मे स्थित एक गणेश मन्दिर मे गणेश की प्रतिमा टूटी हुई मिली। इस घटना ने दोनों सम्प्रदायो के मध्य दबे हुए आक्रोश को हिंसा मे बदल दिया। एक छोटी सी चिन्गारी ने आग भड़का दी। दंगे मे अल्पसंख्यको की सम्पति का बहुत नुकसान हुआ।

दशको से मुसलमानो का समर्थन प्राप्त करने वाले कन्नड़ साम्प्रदायिक हो गये। दशको का आपसी सद्भाव-भाईचारा साम्प्रदायिकता की आग में भस्मीभूत हो गया।

हैदराबाद

१९४७ तक हैदराबाद की रियासत मुस्लिम शासको, निजाम के अधीन थी। पर हिन्दुओं का बाहुल्य था। इसके बावजूद हैदराबाद की रियासत १९४६ तक साम्प्रदायिकता से मुक्त रही थी।

उस वक्त तक हैदराबाद मुस्लिम सस्कृति और उर्दू साहित्य का प्रमुख केन्द्र भी रहा था।

स्वतत्रता के बाद हैदराबाद के निजाम ने अपनी रियासत को पाकिस्तान मे मिलाने की पेशकस की। वहा की जनता, जिसमे बहुमत हिन्दुओ का था, यह स्थिति स्वीकार करने को तैयार नही थी। इसके अलावा भौगोलिक स्थिति भी ऐसी नही थी कि हैदराबाद पाकिस्तान को मिले। कट्टरपंथी मुसलमानो के सगठन रजाकारो ने उस वक्त हिन्दुओ पर बडे जुल्म ढाये तथा भारत मे विलय के विरोध का नेतृत्व भी ये ही लोग कर रहे थे।

पुलिस कार्रवाई के बाद जब हैदराबाद रियासत का भारत मे विलय हो गया तो रजाकारो ने मजलिस इत्तहादुल मुसलमीन के नाम से सगठन बनाया। अब हैदराबाद के अशिक्षित, गरीब मुसलमानो की धार्मिक भावना उभार कर इस संगठन के नेता अपना मतलब साधने लगे। इनके जवाब मे राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ, भारतीय जनसघ, आर्य समाज ने हिन्दुओं की भावनाओ को उभारा।

इस प्रकार हैदराबाद हिन्दू तथा मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों का गढ बन गया। इस गढ को तोडने की कभी किसी ने कोई चेष्टा नही की। दूसरे राजनीतिक दलो के नेतागण भी साम्प्रदायिकता के विरुद्ध लडने के बजाय साम्प्रदायिकता से राजनीतिक लाभ उठाने लगे और धीरे-धीरे हैदराबाद शहर में हिन्दू और मुसलमानो के बीच एक अभेद्य दीवार खडी हो गयी। फलस्वरूप किसी न किसी बहाने यहा दंगे होने लगे और समय के साथ स्थिति लगातार बिगड़ती ही चली गई।

यहा भी साम्प्रदायिकता के बीज देश की आदर्शहीन, सिद्धान्तहीन राजनीति ने बोये। वोट की राजनीति ने हिन्दुओ और मुसलमानो को दो अलग-अलग खेमो मे बाट दिया।

मुस्लिम सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक तत्वो ने जमाते इस्लामी, तामीरे मिल्लत जैसे साम्प्रदायिक संगठनों के तहत मुसलमानो में साम्प्रदायिक भावना उभार कर

अपना स्वार्थ साधने की कोशिश की। खाड़ी से आये बेशुमार धन का लाभ, इस्लाम के नाम पर काम करने वाली साम्प्रदायिक शक्तियों ने खूब उठाया और जड़ें मजबूत की। मुस्लिम वोट लेने के लिए कांग्रेस ने भी साम्प्रदायिक तत्वों को परोक्ष रूप से फलने-फूलने मे मदद की।

इसके जवाब में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और भारतीय जनता पार्टी ने हिन्दुओं को संगठित करना शुरू किया।

१९७८ मे पहली बार हैदराबाद मे हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए और तब से यह क्रम बराबर जारी है। हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक त्योहार तथा चुनाव के वक्त साम्प्रदायिक तनाव हद से गुजर कर दंगो का रूप लेता रहा है। '७८ के बाद ऐसा शायद ही कोई वर्ष गया हो, (८५ तक) जबकि यहा दंगे न हुए हो।

कभी किसी धार्मिक जुलूस को लेकर, तो कभी चुनाव को लेकर तो कभी किसी सिरफिरे की हरकत को लेकर हुए दंगो ने सैकडो निर्दोष जानों की आहुति ली है। आम तौर पर इन दगो के शिकार गरीब तबके के लोग होते रहे हैं। आज हैदराबाद दंगो का घर बना हुआ है। और १९७८ तक रहे साम्प्रदायिक सद्भाव का स्थान एक स्थायी साम्प्रदायिक घृणा ने ले लिया है।

३ अप्रैल १९८५ के पहले ७ महीनो में हैदराबाद तीन बार भीषण साम्प्रदायिक दगो का शिकार हो चुका है जबकि कुछ वर्ष पहले तक चारमीनार के इस शहर मे हिन्दू-मुसलमानों का आपसी सद्भाव अनुकरणीय व प्रेरणा का विषय था। दोनो सम्प्रदाय साम्प्रदायिक कट्टरता से अछूते से थे। वे सदियों से मिल-जुल कर रह रहे थे। एक दूसरे के दुख-सुख में शरीक होते थे। सम्बन्धो में प्रगाढता व सद्भाव था। हा, निजाम शासन के अन्तिम दौर मे हुए रजाकार आन्दोलन ने हिन्दुओं-मुसलमानों के मध्य अविश्वास पैदा किया था, जिसकी वजह से सामने तो नही लेकिन भीतर ही भीतर हिन्दू-मुसलमान के मध्य एक अज्ञात दूरी से इन्कार नही किया जा सकता।

राजनीतिज्ञों ने अपने क्षुद्र व तात्कालिक लाभ के लिए उनकी इस कमजोर नब्ज को दबाया तथा राजनैतिक तनाव को साम्प्रदायिक तनाव में बदल कर दबे, छिपे आक्रोश को भडकाया। सद्भावपूर्ण वातावरण में वैमनस्य का विष घोल दिया। सदियों से चले आये परम्परागत भाईचारे को दुश्मनी मे बदल दिया।

जिस घटना से दंगे की आग भड़की, उससे साम्प्रदायिक तनाव के उत्पन्न होने की लेश मात्र भी गुजाइश नही थी। लेकिन घटना को अगर साम्प्रदायिक उन्माद में तब्दील नही किया जाता तो घटना की प्रतिक्रियास्वरूप होने वाले भयकर दंगे के लिए सीधा-सीधा एक्साइज विभाग दोषी होता। नव निर्वाचित सरकार तथा अधिकारियों की स्थिति भी संकटापन्न हो जाती।

धोलपेट इलाके में लोधी राजपूत सदियों से रहते आये हैं। वे अपने आपको क्षत्रिय कहते हैं और आज भी अपने पास तलवार रखते हैं। हालांकि नई पीढ़ी के बहुत से नौजवान आधुनिक शिक्षा प्राप्त कर अच्छी नौकरियों पर आसीन हैं, किन्तु इनका पुश्तैनी धंधा शराब बेचने का है। घटना का शिकार अमर सिंह अपने धंधे में आशातीत सफलता की वजह से अन्य शराब विक्रेताओं की आंख की किरकिरी बन गया था। उनकी वजह से शराब के अन्य ठेकेदारों का धंधा मंदा पड़ गया था। अधिकांश अमर सिंह के दुश्मन हो बैठे थे और उसे अपने रास्ते से हटाना चाहते थे। बताया जाता है कि उन्होंने भाड़े के गुण्डों को सीता फल-मंडी क्षेत्र में स्थित अमर सिंह के घर में भेज, परिवार के सदस्यों को पिटवाया तथा एक्साइज अधिकारियों द्वारा उसके घर पर रेड भी करवायी। एक्साइज अधिकारी अमरसिंह को एक्साइज विभाग में ले गये और वहां उसे इस बुरी तरह से मारा कि जब कि उसे हास्पिटल ले जाया गया, तो वहां उसे मृत घोषित किया गया।

घटना यहीं आई गई हो गई होती। लेकिन अमर सिंह की हत्या से धोलपेट क्षेत्र में काफी तनाव उत्पन्न हो गया। लोधी राजपूत बदले की आग में भड़क उठे। यह तनाव चल ही रहा था कि एक बारात में एक पागल आदमी ने पथराव कर दिया। इस पर थोड़ा बहुत विवाद और हाथापाई हुई। हालांकि यह घटना विशुद्ध रूप से कानून व्यवस्था से सम्बन्ध रखती थी। लेकिन इसे गलत मोड़ देकर साम्प्रदायिक उन्माद को भड़काया गया, क्योंकि लोधियों के इस क्षेत्र से मुसलमानों की बस्ती एकदम सटी हुई थी। अन्ततः साम्प्रदायिक तनाव ने लोधी और मुसलमानों के बीच भयंकर दंगे की शक्ल अख्तियार कर ली।

कुछ लोगों का आरोप है कि एक्साइज विभाग के अधिकारियों के विरुद्ध लोधियों के उफनते गुस्से की आग को अराग रख देने की मंशा से इस छोटी सी घटना को तूल दिया गया। और यही हुआ जो पुलिस और एक्साइज विभाग चाहता था। अमर सिंह के बदले की बात पृष्ठभूमि में चली गई और हिन्दू-मुसलमानों के बीच उत्पन्न की गई कटुता दंगे का मूल कारण हो गई। पुलिस, एक्साइज विभाग ने इस दंगे की ओट में भले ही अपनी गलतियों को छुपा लिया और बदनामी से बच निकले, लेकिन इस क्षुद्र स्वार्थ में दो जातियों के मध्य पनपने-फूलने वाले सद्भाव की हत्या कर उनके दिलो-दिमाग में जहर भर दिया। दोनों सम्प्रदायों के बीच दूरी और दुश्मनी पैदा कर कितना अधिक देश का अहित किया है, इसका अन्दाजा क्या वे लगा पाये हैं? आने वाली पीढ़ियों के दिलों में प्यार के स्थान पर नफरत का बीज बो दिया।

इस घटना के कुछ दिन पहले ही पुराने हैदराबाद में दंगे भड़क उठने की खबर,

से कर्फ्यु लगाया गया था। इसके मूल में भी कारण राजनीतिक ही था। चन्द्रासनगुट्टा विधान सभा सीट के लिए मुस्लिम मजलिस कांग्रेस तथा तेलगु-देशम् समर्पित एक निर्दलीय प्रत्याशी चुनाव मैदान में थे। इस सीट के कई पोलिंग बूथों में जारी किये गये मत पत्रो से अधिक मतदान हुए। यह पाया गया कि कई मत-पत्र पर पोलिंग अधिकारी के हस्ताक्षर तक नहीं थे। इसी वजह से चुनाव आयुक्त ने पुनर्चुनाव का आदेश दिया था। मतदान पत्रों में इस घोटाले की वजह से प्रत्याशियों तथा उनके समर्थकों में काफी उत्तेजना थी। वातावरण तनावपूर्ण हो गया था। जिसकी परिणति हुई आपसी मारपीट में। हालांकि यहां भी कारण विशुद्ध रूप से राजनीतिक ही था लेकिन गड़बड़ी के आरोप से बचने का इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता था कि तनाव को शुद्ध राजनीतिक न रहने दिया जाय, वरन् धार्मिक उन्माद पैदा कर लोगों के दिमाग में साम्प्रदायिकता का जहर भर दिया जाय। और जहां धार्मिक कट्टरता और जातिगत संकुचित दृष्टिकोण होता है, उस दिमाग में यह जहर अन्धा नशा बन कर उतरता है। इसके समक्ष शुद्ध मानवीय मूल्य बेमानी हो उठते हैं। मनुष्य की इंसानियत मर जाती है और उसके भीतर का वहशीपन पूरी तरह जाग उठता है।

देखते ही देखते, माहौल बदल गया तथा राजनीतिक दुश्मनी साम्प्रदायिक बैर में बदल गई। फलस्वरूप दंगे व मारपीट होनी ही थी। दंगे हुए और स्थिति पर काबू लाने के लिये कर्फ्यु लगा दिया गया।

इस गडबड़ी के कुछ और महीने पहले की तारीखें भी वहशियत के खून से लाल हो उठी थी।

दिन गणपति-विसर्जन का था। आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल रामलाल ने एन० टी० रामाराव के मंत्रीमंडल को बर्खास्त कर दिया था, भास्कर राव व उनके मंत्रीमंडल को शपथ दिलाई थी। इसे लेकर राज्य भर में गहरा असंतोष था। यह असंतोष हिंसक आन्दोलन का रूप ले लेता इससे पहले ही साम्प्रदायिक दंगे की चपेट में शहर की कई दुकानें जल कर स्वाहा हो गयी थी।

साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न करने के लिए गणपति विसर्जन के मौके का फायदा उठाया गया। ८ सितम्बर के दिन अन्य देवी देवताओ के साथ गणेश प्रतिमा का विशाल जुलूस चार मीनार क्षेत्र के मुस्लिम बहुल इलाके से निकला। जुलूस में मुर्ति पूजा का विरोध करने वाले आर्यसमाजी भी आगे थे। जैसा कि पहले से ही आदेश था, इस जुलूस की वजह से हिन्दू मुसलमानो में जम कर संघर्ष हुआ। दंगे के दौरान हिंसा की वारदातो के अलावा कई दुकानों में आग लगा दी गई।

लोगो का कहना है कि भास्कर राव के प्रति लोगो मे व्याप्त तीव्र असंतोष को हटाने के लिए साम्प्रदायिक आवेग का सहारा लिया गया। वस्तुस्थिति यह है कि धार्मिक भावनाओ का राजनीतिक शोषण न किया जाय तो बहुत हद तक साम्प्रदायिक तनाव व दंगों से मुक्ति पाई जा सकती है।

सितम्बर १९८३ से आन्ध्र की राजधानी हैदराबाद साम्प्रदायिक दगो की जबरदस्त लपेट मे आई। ४५ से अधिक व्यक्ति इस दगे मे मारे गये जबकि १५० छुरेबाजी की वारदातो के शिकार हुए। पहले ये दंगे हैदराबाद मे शुरू हुए थे पर तुरन्त ही साथ लगते सिकन्दराबाद मे भी पहुंच गये। हालाकि इससे पहले सिकन्दराबाद इस अभिशाप से मुक्त रहा है।

हैदराबाद मे ये साम्प्रदायिक दगे क्यों शुरू हुए, इस पर विभिन्न वर्गों के विभिन्न दृष्टिकोण हो सकते हैं। इस सदर्भ मे बनारस से छपने वाले एक मुस्लिम दैनिक 'कौमी मोर्चा' ने जो प्रकाश डाला है, वह नोट करने के योग्य है। 'कौमी मोर्चा' अपने २४ सितम्बर १९८४ के अक मे लिखता है—

पुराने हैदराबाद शहर में दगो का नया दौर इस महीने की ९ तारीख को बडे अजीब ढग से शुरू हुआ जब चारमीनार मोहल्ले में किसी सिरफिरे व्यक्ति ने जो दुर्भाग्य से अल्पसंख्यक वर्ग से सम्बन्ध रखता था, एक मन्दिर में घुस कर मामूली तौर पर कुछ तोड फोड़ की। अभी इस इलाके की खबर पूरी तौर पर दूसरे इलाके मे नही पहुची थी कि वहा से कई मील के फासले पर एल्विन (रेफ्रीजेटर) कम्पनी के मजदूरों ने फैक्ट्री के प्रबन्धकों और पुलिस की उपस्थिति मे वहा मौजूद चार सौ वर्ष पुरानी मस्जिद इब्राहिम पर हमला करके वहा मुसलमानो को नमाज पढने से रोक दिया और मस्जिद के एक गेट पर ताला लगा दिया। इमाम को अन्दर जाने से रोक दिया गया और मस्जिद के चबूतरे पर झटपट मूर्ति बैठा दी गई। बताया जाता है कि इस मस्जिद के वक्फ इमारत होने के बारे में मुसलमानों और दूसरे लोगों मे लम्बा मुकदमा चल चुका है और सुप्रीम कोर्ट ने मुसलमानों के हक मे फतवा भी दिया है। इससे पहले आन्ध्र प्रदेश हाईकोर्ट ने भी रियासती हुकूमत को हुक्म दे दिया था कि मुसलमानो को इस इबादतगाह मे जाने से न रोका जाए। यह बात हैरत की है कि चारमीनार की इस घटना के तुरन्त बाद एल्विन कम्पनी मे यदि बदले की भावना से ही यह हरकत की गई तो सैकडो आदमियों की जिस भीड़ ने इतने साजोसमान के साथ बड़ा हमला किया वह सब इसके लिए तैयार कैसे हो गये या पहले से इस स्कीम को तैयार किया गया था? दूसरा प्रश्न यह भी है कि जिस मस्जिद के लिए हाईकोर्ट से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक फैसला दिया जा चुका है, उसे पुलिस ने अपनी उपस्थिति में तोडने-फोडने की इजाजत क्यों

दी। इसका साफ मतलब यह है कि स्थानीय पुलिस की भूमिका इस मामले में निष्पक्ष नहीं थी बल्कि वह उपद्रवकारियों से मिली हुई थी। ऐसे समय पर जबकि दंगे जारी थे हिन्दुओं का गणेश चौथ त्योहार और मुसलमानों का पंझौर जुलूस और ईद भी एक साथ आ गई। अधिकारियों ने प्रत्यक्षतः इन अवसरों को शांतिपूर्ण ढग से गुजारने के लिए असाधारण तैयारियां भी की और बड़ी हद तक यह शांतिपूर्ण गुजरे भी, परन्तु गणेश चौथ के जुलूस के अवसर पर कुछ मोहल्लों से जुलूस गुजरते समय झगड़े हुए।'

मुस्लिम दैनिक 'कौमी मोर्चा' की उपरोक्त धारणाएँ किसी टिप्पणी की मोहताज नहीं। उनसे यह भलीभांति पता चलता है कि इन दंगों की शुरुआत कैसे हुई।

अहमदाबाद

गांधीजी का गुजरात अपेक्षाकृत हमेशा से ही एक शान्त प्रदेश रहा है, हालांकि अठारहवीं सदी में पहला हिन्दू-मुस्लिम दंगा यही हुआ था। गुजरातियों के बारे में यह कहा जाता है कि वे स्वभावतः अहिंसक व शांतिप्रिय होते हैं। पर १९६९ के सितम्बर में अहमदाबाद में जो कुछ हुआ उसने पुरानी मान्यतायें व धारणाएँ एकदम से बदल दी। गुजरात के इतिहास में साम्प्रदायिकता के नाम पर हिंसा का इतना बड़ा ताण्डव पहले कभी नही हुआ था।

१८ सितम्बर १९६९ की रात से हिन्दू और मुसलमानों के बीच जिस दंगे की शुरुआत हुई उसके बीज बहुत ही पहले बोये जा चुके थे।

१९६५ मे हुए भारत-पाकिस्तान युद्ध तथा गुजरात के कच्छ क्षेत्र मे पाकिस्तानी घुसपैठ के बाद से राज्य के हिन्दू तथा मुसलमानो के बीच तनाव उत्पन्न होने लगा था। उस वक्त यह अफवाह बडे जोरों से थी कि पाकिस्तानी एजेन्ट गुजरात में घुस आए है और सक्रिय हैं। १९६६ में गोहत्या-विरोधी आन्दोलन ने तनाव बढाने में और मदद की। दोनो सम्प्रदायो के बीच उत्पन्न हुए तनाव और अविश्वास ने १९६९ में अपना शैतानी रूप दिखाया। यह कहने मे कोई हिचक नही होनी चाहिए कि धार्मिक उन्माद व कट्टरता हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों मे कहीं ज्यादा है, हमारा मतलब यह नही कि ऐसा लिखने से हिन्दू इस आरोप से बरी हो जाते है। लेकिन सच को कहे बिना हम समस्या का सही परिप्रेक्ष्य मे मूल्यांकन नही कर सकते। चूंकि इस देश मे दंगों के पीछे मुख्य कारण धार्मिक उन्माद और कट्टरता रही है, इसलिए इस मुख्य कारण को जड मूल से समाप्त किए बिना साम्प्रदायिकता के खिलाफ सफल लडाई नही लडी जा सकती।

मार्च के महीने में एक ठेलागाड़ी में कुछ पुरानी किताबे ले जायी जा रही थीं। उनमें कुछ प्रतियां कुरान की भी थी। स्थानीय मुसलमानों मे इसपर तीव्र प्रतिक्रिया हुई और गुस्से मे उन्होने पुलिस थाने पर हमला कर दिया। पुलिस अफसर के माफी मांगने पर ही मामला किसी तरह शान्त हुआ। अनजाने मे घटी इस छोटी सी घटना को मुसलमानो ने जो तूल दिया, उसकी प्रतिक्रिया हिन्दुओं पर भी हुई।

अगस्त में जब जन्माष्टमी का उत्सव देर रात तक मनाया जा रहा था, तब एक पुलिस सबइन्सपेक्टर ने इस पर आपत्ति की। कहते है कि उसने रामायण

को ठोकर मारी। संयोग से वह सबइन्स्पेक्टर मुसलमान था। इस घटना ने हिन्दुओं की भावना को भड़काया जिसका भरपूर लाभ साम्प्रदायिक तत्वों ने उठाया। घटना के चार दिन बाद कई हिन्दुओं ने प्रतिरोध में अनशन किया। फलस्वरूप सबइन्स्पेक्टर को निलंबित करना पड़ा।

२१ अगस्त को इजरायल की अलअक्सा मस्जिद की घटनाके प्रतिवाद मे लगभग एक लाख मुसलमानों ने अहमदाबाद की सड़कों पर जुलूस निकाला। धार्मिक उग्रवादियो ने इस मौके पर पाकिस्तान समर्थक नारे लगाए। ज्ञात रहे इजरायल स्थित अलअक्सा मस्जिद के एक हिस्से के क्षतिग्रस्त हो जाने के प्रतिवाद मे देश भर में मुसलमानों ने उग्र प्रदर्शन कर अपने गुस्से व विरोध का इजहार किया था। कई अन्य स्थानो पर भी इस प्रदर्शन के दौरान प्रदर्शनकारियों द्वारा पाकिस्तान-समर्थक नारे लगाने से तनाव भी उत्पन्न हुआ।

१८ सितम्बर को जगन्नाथ मन्दिर के साधुओं की गाएँ मुसलमानो की एक भीड़ मे घुस गयी। इसपर मुसलमानों ने साधुओ को पीटा। इस घटना ने आग में घी का काम किया। भीतर ही भीतर सुलग रही साम्प्रदायिकता की आग दावानल के रूप मे दहक उठी।

इस घटना के दो दिन पहले जनसंघ के नेता बलराजमधोक ने एक सभा मे मुसलमानो के विरुद्ध हिन्दुओ को सगठित होने का आह्वान किया था। जनसंघ और राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ ने जो पहले ही से सक्रिय थी, उस घटना के बाद मुसलमानों के विरुद्ध आक्रमण का नेतृत्व अपने हाथों में ले लिया।

गरीब हिन्दू और मुसलमानों की एक बडी संख्या को प्रतिदिन जगन्नाथ मन्दिर से मुफ्त भोजन मिलता था। जगन्नाथ सवारी के अवसर पर जुलूस के रास्ते पड़ने वाली मस्जिदों से मौलवी जगन्नाथ की सवारी पर फूल बरसाया करते थे। मन्दिर के महंतों की ओर से मस्जिदों को अनुदान दिया जाता था। उक्त घटना के पहले हिन्दू बहुल इलाको मे मुसलमान तथा मुसलमान बहुल इलाकों मे हिन्दू मुक्त व निर्भय होकर रहते थे। पर सितम्बर के दगों ने दोनो सम्प्रदायों के बीच एक दीवार खडी कर दी।

गुजरात मे अबतक हुए दंगो मे यह सबसे ज्यादा हिंसात्मक था। सौ से अधिक लोग मारे गए। हजार के लगभग घायल हुए। हजारों दूकानें लूटी एव तबाह की गई। मरने व घायल होनेवालों मे गरीब तबके के लोग अधिक थे और सम्पत्ति का भी नुकसान गरीबों का ही ज्यादा हुआ। बस्तियो मे आगजनी की घटना से हजारों लोगों को बेघर होना पडा।

१९६९ के बाद मे गुजरात मे दंगो की जैसे शृंखला चल पड़ी। विशेषकर अहमदाबाद, बडोदा, गोधरा बेल्ट मे अक्सर दगे होते रहते है। इस इलाके को

दंगाग्रस्त क्षेत्र कहा जाय तो गलत नही होगा। यह स्थिति दशको से चली आ रही है। पर आजतक इसका स्थायी समाधान नही खोजा जा सका है।

यू तो अहमदाबाद मे दगे प्रायः होते ही रहते है। लेकिन १८ मार्च से २५ मार्च १९८५ मे हुए खूनी दगो ने १९६९ के दगों को बहुत पीछे छोड दिया।

१८ फरवरी १९८५ से गुजरात मे आरक्षण विरोधी आन्दोलन छेड़ा गया था। यह आन्दोलन सरकार की आरक्षण नीति के विरुद्ध छेडा गया था। लेकिन इसने हिन्दुओ की विभिन्न जातियों मे एक तनाव पैदा कर दिया जिसकी परिणति हिंसात्मक दगों में हुई।

१८ मार्च की शाम तक हिन्दू और मुसलमानो के बीच किसी प्रकार का कोई तनाव नही था। आन्दोलनकारियो ने अहमदाबाद बन्द का आह्वान किया था, जो सफल रहा। रात ८.३० बजे आन्दोलनकारियों ने सरकार की आरक्षण नीति के विरुद्ध नागरिको से मृत्युघट (मृत्यु घटा) बजाने का आह्वान किया था। कुछ लोगो का कहना है कि एक मस्जिद से कुछ मुसलमानो ने इस बजाने पर एतराज किया क्योंकि वह नावाज का वक्त था। बस, इसी बात पर हिन्दू-मुसलमानो के बीच दंगा भडक उठा। एक सूत्र के अनुसार दगे का प्रारम्भ दरियापुर इलाके से हुआ जो बाद में वादीनगर और नगीनापुर इलाके तक फैल गया। एक अन्य सूत्र के अनुसार दंगे रात ८ बजे कालूपुर इलाके मे शुरू हो गए थे।

एक धारणा के अनुसार १८ मार्च की हडताल मे पिछडी जाति, हरिजन और मुसलमान शामिल नही हुए। कहते है कि इसका बदला लेने के लिए लोगों को एक-दूसरे के खिलाफ न भड़काया होता तो दगे न हुए होते। सैकडो निर्दोष जानें बच गई होती। इन्सानी खून के साथ इस बर्बरता से होली न खेली जाती।

१८ मार्च १९८५ को हिन्दू-मुसलमानो के बीच शुरू हुआ फसाद फौज की उपस्थिति के बावजूद महीनों चलता रहा। हिंसा का ताण्डव नृत्य होता रहा। बेकसूर हिन्दू-मुसलमान मारे जाते रहे। आज की राजनीति की विकृत परा-काष्ठा गुजरात में देखने को मिली। आरक्षण के विरोध मे चलाए जा रहे इस आन्दोलन मे ऐसा कोई राजनीतिक दल नहीं, जिसने अपनी गोटिया न फेंकी हो।

१०० वर्षों से चला आ रहा रथ-यात्रा उत्सव जो १९६८ तक हिन्दू-मुसलमान के बीच सौहार्द के प्रतीक के रूप में एक आदर्श उदाहरण था, १९६९ के दगो के बाद से यह धार्मिक पर्व हिन्दू और मुसलमानो के बीच विद्वेष और अलगाव का उदाहरण बन गया।

गुजरात में विशेषकर अहमदाबाद मे दंगे जारी थे, स्थिति तनावपूर्ण थी। कर्फ्यू जारी था। पर इन सबके बावजूद मजहबी जुनूनियो ने २० जून १९८५

के एक रथ-यात्रा का जुलूस निकाला और उसे उन मुहल्लों में से ले गये, जहां गड़बड़ी की पूरी सम्भावना थी। फलस्वरूप उस दिन दंगे फिर भड़के और १३ लोग फौज की गोली और दंगाइयों के शिकार हुए। इस घटना से ऐसा लगता है कि यह सब एक सुनियोजित योजना के तहत किया गया।

दरअसल अहमदाबाद शहर के सबसे घनी आबादी वाले इलाके कालूपुर व दरियापुर में साम्प्रदायिकता लोगों के मन में घर कर गई है तथा साम्प्रदायिक भावनाएँ इतनी गहरी हैं कि बच्चों के मामूली से झगड़े से भी आग भड़क उठती है।

इसी कालूपुर-दरियापुर इलाके से १८ मार्च १९८५ की रात को हिंसा की ताजा घटनाएँ फूटी थीं और अहमदाबाद में पहले भी जितने साम्प्रदायिक दंगे हुए, सब यहीं से हुए।

किसी वजह से कालूपुर दरियापुर इतना नाजुक बना हुआ है? इसके कई कारण है—भौगोलिक आकृति, जनसांख्यिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और समाज-शास्त्रीय।

तंग गलियों-खंभो और छोटी-छोटी गलियों के विशाल जाल जैसे कालूपुर दरियापुर इलाके में हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या करीब करीब बराबर है। १५वीं सदी में अहमदशाह द्वारा बसाए अहमदाबाद शहर में दोनों समुदाय सदियों से साथ-साथ रहे, हालांकि यहां पहला दंगा लगभग डेढ़ सौ साल पहले हुआ था। पर उसके बाद १९६९ तक शान्ति रही।

इन छोटी-छोटी गलियों में हिन्दू-मुसलमान बराबर ही साथ-साथ रहते आ रहे हैं। यदि एक गली में सिर्फ एक समुदाय के लोग रहते हैं तो साथ वाली गली में दूसरे समुदाय के।

१९६९ के दंगों के बाद से दोनों समुदाय एक दूसरे को यहां से भगाने के लिए एक दूसरे से लड़ते रहे हैं। जो भी समुदाय किसी गली में अल्पसंख्या में है, उसे या तो बहुसंख्यक समुदाय के हर तरह के दबावों को झेलना पड़ता है या उस जगह को हमेशा के लिए छोड़ना पड़ता है।

इमारतें और जमीन हथियाने की यह रस्साकशी लगातार चलती रही है। १९६९ के दंगों के बाद अनेक मुस्लिम परिवारों ने कालूपुर-दरियापुर में अपने घर बेच दिये और बापूनगर या सरखेज के उपनगरों में बस गये। कई हिन्दू परिवार भी अपने घर आदि बेच कर साबरमती नदी के पश्चिम में नाटपुरा, क्षेत्र में चले गये। दोनों समुदायों के समृद्ध लोग तो शहर में घर बना सकते हैं लेकिन गरीब और निम्न मध्यमवर्गीय लोगों को वहीं रहना पड़ता है।

संकरी गलियों और कूचों का यह जाल शरारती लोगों के हक में है।

घरों का निर्माण मुल्तान काल का है—एक दूसरे से सटा हुआ और इनकी छतें दंगाइयों के लिए आदर्श आकाशीय सड़कें हैं।

कोई व्यक्ति एसिड, पत्थर और या जलते हुए चीथड़े एक छत से फेंक कर, दूसरी से तीसरी छतों तक कूदता हुआ भाग सकता है और दूसरी गली मे जाकर गायब हो सकता है। कानून लागू करने वाली एजेंसियों के लिए अपराधियों को पकड़ना बहुत ही मुश्किल काम बन जाता है।

पुलिस सहित बाहरी आदमियो के लिए यहां घुसना खतरनाक है, क्योंकि दूसरी ओर छुपा हमलावर आराम मे हत्या कर भाग सकता है।

आर्थिक और समाजशास्त्रीय स्थितिया भी अपनी भूमिका निभाती हैं। यहा शातिर अपराधियों तथा असामाजिक तत्वों की अच्छी खासी संख्या है। गुजरात में शराबबंदी है, तब भी कालूपुर-दरियापुर में दूध से ज्यादा आसान शराब हासिल करना है। नाजायज शराब और चरस के धंधे ने इस इलाके को अपराधी गतिविधियों का अड्डा बना दिया है। कहा जाता है कि दरियापुर में हर २० गज पर शराब का अड्डा है।

पिछले पांच सालों में कपड़ा उद्योग मे मदी ने इन प्रवृतियों को और उत्साहित किया है। मिलों और उनकी शाखाओ के बंद होने से हजारो को बेरोजगार बना दिया गया है, इनमे से ज्यादातर कालूपुर, दरियापुर क्षेत्र के हैं और ये लोग रोजगार के लिए अपराधी गतिविधियों मे लग गये है। लेकिन पुलिस के बिना ये लोग फलफूल नही सकते।

१८ मार्च की रात शुरू हुए दंगे २५ मार्च तक लगातार होते रहे। कुछ अंतराल के बाद पुनः भड़क उठे जो जुलाई तक जारी रहे। १८ मार्च से २५ मार्च तक हुए दंगों में पुलिस सूत्रों के अनुसार कम से कम १२ लोग मारे गये जबकि गैर सरकारी सूत्रों के अनुसार मरने वालो की सख्या कम से कम १९ थी जिनमे १४ पुलिस की गोली से और पाच छुरेबाजी मे मारे गये। ५२ लोग बुरी तरह घायल हुए। ५७ घर और ११५ दुकानों में आग लगा दी गई। ३२ दुकानों को नुकसान पहुंचाया गया और ८ दुकाने लूट ली गई। लगभग तीन करोड़ की सम्पति नष्ट कर दी गई व लूट ली गई। सरकारी सूत्रों के अनुसार पुलिस ने २० मौको पर १७४ चक्र गोलिया चलाई। मरने व घायल होने वालों में हिन्दू मुसलमान दोनों ही थे। दोनों ही की सम्पत्ति को नुकसान पहुंचा।

इन दंगों की खास बात यह रही है कि दंगाइयों में पुलिस भी शामिल थी। पुलिस ने घरों में घुस कर लोगों को मारा पीटा और तोड़ फोड़ की। पुलिस ने अपना गुस्सा अधिकांश मामलो मे मुसलमानों पर उतारा जो यह साबित करता है कि पुलिस भी साम्प्रदायिकता से अछूती नहीं। कानून के रक्षक ही अगर

साम्प्रदायिक रंग में रंग जाते हैं तो फौज का सहारा लेना पड़ता है और इसीलिए १९ मार्च को शहर मे दंगों को दबाने के लिये फौज की मदद लेनी पड़ी।

अहमदाबाद अवैध सट्टे व अवैध शराब के धंधे का गढ़ बना हुआ है। इन धन्धो से हिन्दू और मुसलमान दोनो ही सम्प्रदाय के निम्न मध्यम व गरीब तबके के हजारों लोग जुड़े हुए है जिनकी रोजी-रोटी इसी से चलती है। इन धन्धों के संचालक सम्पन्न व शक्तिशाली हैं, जिन्हें राजनीतिक संरक्षण प्राप्त है। १३ मार्च को २२ व्यक्ति अवैध शराब पीने से मारे गये थे, जिसके फलस्वरूप पुलिस ने अवैध शराब की भट्टियो पर छापा मार कर इस धन्धे पर कुछ हद तक रोक लगाने की कोशिश की थी। इससे जुड़े हुए, बेकार हुए, गुण्डा तत्व खार खाये बैठे थे। कहते हैं, १८ से २५ मार्च के दंगो में इन लोगों ने दंगों को और भड़काने में जम कर हिस्सा लिया ताकि पुलिस व प्रशासन का ध्यान इस अवैध धन्धे को हटा कर दूसरी ओर किया जा सके।

कांग्रेस के भूतपूर्व गृहमंत्री प्रबोध रावल तथा कांग्रेस के असन्तुष्ट गुट ने भी सोलंकी सरकार को बदनाम करने के लिए दंगे भड़काने में मदद की।

लोक सभा व विधान सभा में चुनावो मे हुई बुरी पराजय से हताश विरोधी दल के लोगों ने भी इस मौके का फायदा उठाया और कांग्रेस व उसकी सरकार को बदनाम करने व अपदस्थ करने के लिये दंगों को भड़काने में मदद की।



राजधानी दिल्ली

राजधानी दिल्ली मे १७ अगस्त, १९८५ की एक रात पूजा स्थल के पास दो सम्प्रदायों के बीच हुए दंगे के पश्चात १८ अगस्त को पुरानी दिल्ली के भीड़ भरे इलाके में स्थिति शांत किन्तु तनावपूर्ण थी।

सुबह पूरे इलाके में दुकाने बन्द थी। दोपहर में ५० व्यक्तियो ने शिव मन्दिर में जबरन घुसने की चेष्टा की और स्थिति और तनावपूर्ण हो गई। पुलिस ने उन्हें ऐसा करने से रोका और सात लोगों को १४४ धारा के अन्तर्गत गिरफ्तार किया। पुलिस ने दोनों सम्प्रदायों के असामाजिक तत्वों को दंगा करने के आरोप में गिरफ्तार किया।

सेन्ट्रल डिस्ट्रिक पुलिस कमिश्नर श्री खान ने बताया कि करीब की मस्जिद के 'अजान' और शिव मन्दिर की 'आरती' के समय को लेकर दोनों सम्प्रदायों में विवाद छिड़ा, जिससे दंगों की आग भड़क उठी। इस समय हर साल 'अजान' और 'आरती' को लेकर इस इलाके मे आम तौर पर तनाव होता है।
मंगल की रात को भी 'आरती' और 'अजान' का समय टकराया और उस इलाके में स्थिति तनावपूर्ण ही हो गई। किन्तु पुलिस के तुरन्त हस्तक्षेप के कारण संभल गई। एक पुलिस अफसर के अनुसार पिछली रात का दंगा योजनाबद्ध लगता था क्योंकि इस इलाके के दोनों सम्प्रदायों ने असिस्टेंन्ट कमिश्नर आफ पुलिस के सामने कुछ दिन पहले समय को लेकर समझौता कर लिया था।

१७ की रात करीब ८.४५ पर शिव भक्त जब आरती समाप्त होने पर मन्दिर से निकल रहे थे, तब उन पर हमला हुआ। तुरन्त दोनो सम्प्रदाय के लोग रास्ते के दोनो ओर इकट्ठे हुए और एक दूसरे पर पत्थर और बोतल की बरसात शुरू कर दी। पुलिस ने हस्तक्षेप करने की कोशिश की किन्तु उपद्रवी पहले से ही पत्थर और सोडावाटर की बोतलों से पूरी तरह लैस थे। पूरा इलाका पत्थर और कांच के टुकड़ो से पटा हुआ था। अन्त मे उपद्रवियों को हटाने के लिये पुलिस को दस गोलियां हवा में छोड़नी पड़ीं और अश्रुगैस का प्रयोग करना पड़ा। बिजली गुल हो जाने की वजह से पुलिस को काफी मुसीबत का सामना करना पड़ा।

एक पुलिस अफसर ने बताया कि इस इलाके मे झगड़े की शुरुआत पिछले साल से शुरू हुई, जब हिन्दुओ ने पीपल के पेड़ तले मंदिर के चारों ओर दीवार

उठानी शुरू की। वक्फ बोर्ड ने ३०० वर्ग फीट जमीन पर दावा किया, जिससे दोनों सम्प्रदायों के बीच तनाव हो गया। तब से वहां पर पुलिस स्थायी रूप से तैनात रहती है।

पता चला कि १८ अगस्त की रात पुलिस इन्द्रप्रस्थ स्टेडियम में लता मंगेशकर नाइट की व्यवस्था में लगी थी, इस कारण दंगे पर तुरन्त काबू न पाया जा सका।

सहारनपुर

सहारनपुर के चिलकाना रोड पर गोल कोठी के नजदीक एक मंदिर और मस्जिद के बीच खड़ी की जा रही दीवार को लेकर दो गुटो मे हुए झगड़े मे गत २२ जुलाई १९८५ को पाच लोगों की मृत्यु हो गई और एक दर्जन लोग घायल हो गये। दंगे में मरने वालों में एक युवा डाक्टर प्रदीप सघल भी थे।

बताया जाता है कि मंदिर-मस्जिद के बीच की दीवार को लेकर २१ की शाम से तनाव था। लेकिन दोनों तरफ से समझा-बुझाकर मामला शान्त कर दिया गया था।

कुछ देर बाद अफवाहों की वजह से एक गुट मे भारी उत्तेजना फैल गई। लोगों ने उत्तेजक नारे लगाए और पथराव होने लगा।

पुलिस ने मौके पर पहुंच कर हालात पर काबू पाने के लिए हवाई फायर किए। दंगाइयों ने पुलिस की दो जीप, तीन स्कूटर और घटनास्थल के पास की चार दुकानों मे आग लगा दी।

मंदिर और मस्जिद के बीच एक साझा दीवार है। मंदिर की प्रबन्ध समिति ने मस्जिद की प्रबन्ध समिति से सलाह मशविरा कर के दीवार की मरम्मत का काम शुरू किया था। इसी बीच कुछ शरारती तत्व वहा इकट्ठे हो गये। उन्ही की वजह से गलतफहमी पैदा हुई और झगड़ा भड़का।

जानकार सूत्रों के अनुसार सहारनपुर मे जो दगा हुआ उसके पीछे कई कारण है जैसे कि रानीपुर की हाल की घटना जिसमे एक हलवाई ने ठेले वाले से अपना ठेला दुकान के सामने से हटाने पर जोर डाला तो दोनों मे गुत्था-गुत्थी तथा मारपीट हुई। ठेले पर से कुछ फल सड़क पर आ गिरे। ठेले वाला गिरे फल देखकर ताव मे आ गया। उसने हमपेशा लोगो को इत्तिला दी। कुछ ही क्षणों मे वहा घातक हथियारो की प्रदर्शनी सी लग गई, परन्तु कुछ लोगो ने बीच बचाव कर दिया।

दंगे की रात, स्वयं को पुलिस की लाठी से घायल बताकर वहा के जिला अस्पताल के सर्जिकल वार्ड मे भरती एक वर्ग के एक व्यक्ति के अनुसार दंगा इसलिए हुआ क्योकि दो दिन पहले गुजरात से कुछ लोग आये थे, जिन्होने सहारनपुर में भाषण दिये थे, जिसका कुप्रभाव पडा। यह भी कहा जा रहा है कि इस दगे के पीछे, शराब के व्यवसायी, जमीन जमाखोर माफिया गिरोह के कुछ लोगो द्वारा

वर्तमान पुलिस अधीक्षक को हटाने के षडयंत्र मे २० जुलाई को रानीपुरा के एक खास तबके के गुंडो की पुलिस द्वारा पिटाई, मंदिर और मस्जिद के विवाद पर जिला प्रशासन की उदासीनता, देवबंद व शहर के कई इलाको में पाकिस्तान से लोगों का आवागमन तथा अरब देशों से जो पैसा आ रहा है मुख्य कारण हैं।

पर इस दंगे के पीछे अरब का पैसा होने वाली बात मे इतना दम-खम नही है जितना कि दंगे में शहर के उन अपराधियो व नेताओं की यह भूमिका रही जो नये वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक पी० सी० गोयल के आने से उनका जीना दुश्वार हो रहा था।

सहारनपुर मे सत्तारूढ दल के संरक्षण में जमीनखोरों व शराब के अवैध व्यवसायियों का साम्राज्य सा कायम है। गिरोह के मुखिया ने कई खतरनाक अपराधी पाल रखे है जो कानून व्यवस्था के लिये गंभीर चुनौती बने हुए थे।

तत्कालीन वरिष्ठ पुलिस अधीक्षक ने अल्पसंख्यक वर्ग के एक इंका विधायक को जिताने के लिए भरपूर मदद की थी। इसी कारण जब तत्कालीन एस० एस० पी० का तबादला किया गया तो उक्त विधायक ने अपनी ऐडी चोटी का जोर लगा दिया। दूसरी तरफ वहीं के एक इंका विधायक ने तत्कालीन एस० एस० पी० का तबादला न रुकने के लिये अपनी प्रतिष्ठा दाव पर लगा दी। परिणाम-स्वरूप नये एस० एस० पी० के आने से तथा उनके द्वारा अपराधियो के विरुद्ध मुहिम छेड़ देने के कारण अपराधियो को संरक्षण देने वाले नेता वर्ग के शिविरों में हड़कम्प मच गया और सत्तारूढ दल समेत पुलिस कर्मियो का एक खेमा तत्कालीन एस० एस० पी० के खिलाफ हो गया।

यह दंगा चिलखाना रोड चुंगी के करीब मंदिर व मस्जिद को जोड़ने वाली केवल पांच फुट ऊंची दीवार को लेकर शुरू हुआ था। वहां पुराने नागरिक बताते हैं कि सन् १९६६ मे मंदिर व मस्जिद के मध्य जो दीवार थी उसकी ऊंचाई बहुत कम थी। दोनों के बीच कोई पर्दा न रह पाता था। कुछ शरारती लड़कों ने वहा कभी-कभी कूडे कागज, ढेले पत्थर फेंक दिये थे। कोई विवाद न हो इसलिए स्थानीय लोगों ने परस्पर समझौता किया कि अराधना के उपरान्त धार्मिक स्थल के दरवाजे बंद कर दिये जायें ताकि अवांछनीय तत्व वहां घुस न सकें। समझौते की एक प्रति स्थानीय मंडी थाने में जमा करा दी गई। फिर कोई विवाद न हुआ। लेकिन हाल ही में कहा जाता है कि कुछ अवांछनीय शरारती तत्वों ने दीवार की कम ऊंचाई का फायदा उठाकर उत्तेजना फैलाने की कोशिश की। इस पर मंदिर व मस्जिद के प्रबन्धकों ने दीवार ऊंची करने का एक और समझौता कर लिया। परस्पर सहमति के बाद जब दीवार ऊंची किये जाने का

काम शुरू किया तो वहा कुछ बाहरी लोगो ने आकर दखलंदाजी की और बाद मे एक खास वर्ग के द्वारा यह अफवाह फैला दी गई कि मस्जिद को गिरा दिया गया।

यह अफवाह जंगल की आग की तरह फैली। भयानक उपद्रव व रक्तपात का तूफान उठा और लगभग पाच बेगुनाह राह चलते लोगो को जान से मार डाला गया। इतना बड़ा फसाद हो जाने के बावजूद जिलाधिकारी ने इस दगे क्षेत्र के सम्बन्ध में कहा कि उन्हें या जिला प्रशासन को दंगे से पहले इस दीवार के विवाद की कोई जानकारी न थी तथा पुलिस के रिकार्ड में भी चिलकाना रोड संवेदनशील क्षेत्र नही था। अगर जिला प्रशासन सतर्क होता तो यह दंगा नहीं होता।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

हिन्दुस्तान की कहानी—जवाहरलाल नेहरू।

India wins freedom—Moulana Abul Kalam Azad.

Transformation of Sikhism—Sir Gokul Chand Narang.

National unity, perspective & problems—Calcutta University. National Integration Council 1984.

History of India—A. L. Srivastava.

History of freedom movement in India Vol-2 —R. C. Mazumdar.

Muslims in India—Edited by Zafar Imam.

Storm over Seringa Patam—Praxy Fernandes.

रिपोर्ट—१९८४-८५—भारत सरकार गृह मंत्रालय।

The Sikhs—Khushwant Singh.

India's Hindu Muslim Question—Beniprasad.

Hindu-Muslim Tensions—Its cause and cure—Mahatma Gandhi

Who are Communal—Brijbhusan Bhatnagar.

Appearance and reality—by Peoples Publishing House.

Muslims in Medieval India—a historical sketch —by Rajaq Ali Khan.

Communalism—Struggle for power.

The draft of the new policy programme of the Sree Shiromani Akali Dal—circulated by Ajmer Singh—secretary of S. G. P. C. Dt. 1-8-77

तर्जुमा कुरान शरीफ—अनुवादक—इकबाल अहमद, के० सी० माथुर।

...साम्प्रदायिकता उस रोग का लक्षण है, जो घोर आर्थिक विषमता, सामाजिक अन्याय से उत्पन्न मूल्यहीन, आदर्शहीन राजनीति मे उत्पन्न होता है।

...आज साम्प्रदायिकता ने मानवीय रिश्तो, मानवीय मूल्यों को झकझोर कर रख दिया है। ऊपर से स्थिति जितनी भयावह दिखती है, भीतर से उससे भी कही ज्यादा भयावह है।

...पाठको से मेरा एक विनम्र अनुरोध है। वे मेरी बातो से सहमत-असहमत हो सकते हैं। लेकिन पुस्तक को न केवल स्वयं पूरा पढ़ें, बल्कि औरों को भी पढने के लिये दें। संभव हो तो इस पर चर्चा-परिचर्चा आयोजित करायें। इन परिचर्चाओं में दो-चार-पांच लोग भी हों तो कोई बात नहीं। सजग पाठक से मैं यह अपेक्षा करुंगा कि वह निरपेक्ष भाव न अपना [स]क्रिय भूमिका निभाये, क्योंकि कमोबेश [ह]र कोई साम्प्रदायिकता से प्रभावित है।

—लेखक